* ॥ *

शल्य-समन्वयः

व्रणवर्णनविमर्शो नाम

प्रथमो भागः

प्रस्तावना लेखक—

डा० मुकुन्दीलाल द्विवेदी

डी० आई० एम्० एस्०, आयुर्वेदाचार्य

आयुर्वेदिक एवं यूनानी सेवानिदेशक, उत्तर प्रदेश

लेखक—

डा० अनन्तराम शर्मा

आयुर्वेदाचार्य, डी० आई० एम्० एस्०, शास्त्री, बी० ए०, प्रभाकर

प्राध्यापक— ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज, हरिद्वार

श्रवणनाथ मठ | विक्रम सं० १९८५ (?)
हरिद्वार | ई० सन् १९६३

* श्रीः *

शल्य–समन्वयः

व्रणवर्णनविमर्शो नाम

प्रथमो भागः

प्रस्तावना लेखक—

डा० मुकुन्दीलाल द्विवेदी

डी० आई० एम्० एस्०, आयुर्वेदाचार्य

आयुर्वेदिक एवं यूनानी सेवानिदेशक, उत्तर प्रदेश

लेखक—

डा० अनन्तराम शर्मा

आयुर्वेदाचार्य, डी० आई० एम्० एस्०, शास्त्री, बी० ए०, प्रभाकर

प्राध्यापक-- ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज, हरिद्वार

श्रवणनाथ मठ
हरिद्वार

शक सं० १८८५
ई० सन् १९६३

प्रकाशक—

डा० अनन्तराम शर्मा

श्रवणनाथ मठ

हरिद्वार
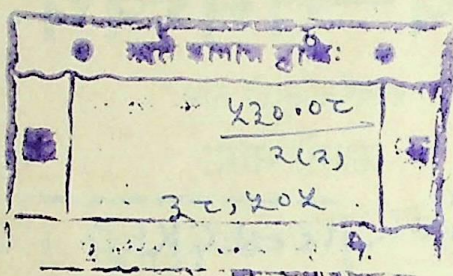
प्राप्ति स्थान—

श्रवणनाथ मठ हरिद्वार या ऋ० आ० कालेज, हरिद्वार।

मुद्रक—

सत्यप्रकाश भार्गव

भार्गव (इलैक्ट्रिक) प्रेस, हरिद्वार।

प्रस्तावना

आयुर्वेद के आठ अंगों में शल्यतन्त्र का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि वैदिककाल से लेकर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना तक भारतीय शल्यशास्त्र अन्य देशों के शल्य शास्त्रों की तुलना में अत्यधिक विकसित तथा प्रगतिशील था। संसार की प्राचीनतम पुस्तक ऋग्वेद में एक स्थान पर खैल नामक राजा की पत्नी विश्पला की कटी हुई जंघा के लिए लोहे की कृत्रिम जंघा प्रदानार्थ वैद्य अश्विनी कुमारों से प्रार्थना की गई है। अर्थववेद में जिसको कि आयुर्वेद का उपवेद माना जाता है, भग्न अस्थियों के संधान, रक्तस्थापन, क्षत, विद्रधि तथा व्रणादि की चिकित्साओं का उल्लेख मिलता है। साथ ही अश्मरी, मूढ़गर्भ, अर्श आदि रोगों में शल्य कर्म का वर्णन भी उपलब्ध होता है।

भारत के क्रमबद्ध इतिहास मिलने के पूर्व ही आयुर्वेद का विकास शल्यतन्त्र, शालाक्यतन्त्र, काय चिकित्सा, अगदतन्त्र, भूतविद्या, कौमारभृत्य, रसायन तथा बाजी करण इन आठ अङ्गों में हो चुका था तथा ईसा के ४०० वर्ष पूर्व तक इन अंगों पर स्वतन्त्र ग्रन्थों तथा संहिताओं का निर्माण भी हो चुका था। किन्तु इस काल में तथा इसके पश्चात् भी शल्य चिकित्सकों तथा काय चिकित्सकों के दो सम्प्रदाय, धन्वन्तरि सम्प्रदाय तथा आत्रेय सम्प्रदाय, प्रमुख थे। शल्य शास्त्र के आदि प्रवर्तक भगवान् धन्वन्तरि माने जाते हैं। धन्वन्तरि शब्द ही शल्य शास्त्र में पारंगत होने का सूचक है (धन्वं शल्य शास्त्रं तस्य अन्तं पारं इयर्तिगच्छतीति धन्वन्तरिः) इसलिए यह शब्द प्राचीनकाल से सर्जन के अर्थ में व्यवहृत होता रहा है। कायचिकित्सा के प्रधान ग्रन्थ चरक संहिता में भी चिकित्सार्थ जहां शल्य कर्म की अपेक्षा प्रतीत हुई है वहां "तत्र धान्वन्तरियाणा मधिकारः क्रिया विधौ" इन शब्दों में धन्वन्तरि सम्प्रदाय के चिकित्सकों से चिकित्सा कराने का निर्देश है। चरक संहिता प्राचीन अग्निवेश संहिता का जो ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व पुर्नवसु आत्रेय के शिष्य अग्निवेश द्वारा लिखी गई थी, कुषाणकाल में कनिष्क के राज वैद्य चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत या पुनः सम्पादित ग्रन्थ है। इससे पता चलता है कि धन्वन्तरि इससे पूर्व ही शल्य शास्त्र का प्रवर्तन कर चुके थे। बौद्धकाल तक भी आयुर्वेद की पर्याप्त उन्नति हुई थी। विनय पिटक में जीवन नामक एक प्रमुख वैद्य के चिकित्सा कौशल का विस्तृत वर्णन मिलता है जिनकी शिक्षा आचार्य आत्रेय के समीप तक्षशिला विश्वविद्यालय में हुई थी। उन्होंने अपनी चिकित्सा से

बहुत धन तथा यश कमाया था। ये बिम्बसार के राज वैद्य थे। इन्होंने एक श्रेष्ठी के मस्तिष्क का शल्य कर्म भी किया था तथा भगवान् बुद्ध की चिकित्सा एवं भगन्दर का शल्य कर्म भी किया था। किन्तु भगवान बुद्ध के सम्पर्क से इन्होंने बाद में शल्य चिकित्सा का परित्याग कर दिया था। इस प्रकार बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण भारतीय शल्य शास्त्र की प्रगति अवरुद्ध हो हो गई। किन्तु गुप्तकाल में पुनः यन्त्र शस्त्रों में कुछ वृद्धि हुई जैसा कि उसकाल के वाग्भट रचित ग्रन्थ अष्टाङ्गसंग्रह तथा अष्टांगहृदय से प्रतीत होता है।

शल्यशास्त्र पर प्राप्त सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ सुश्रुत संहिता है। इस संहिता का अभी तक भी शल्य तन्त्र के लिए पठन पाठन आयुर्वेद जगत् में प्रचलित है। सुश्रुत काशीराज दिवोदास धन्वन्तरि के प्रधान शिष्य थे। इस संहिता के अवलोकन से उस समय के समुन्नत शल्यतन्त्र का अच्छा परिचय मिलता है। इनमें अनेक प्रकार के शल्य कर्मों का वर्णन है जिनमें मूढ़गर्भ, अश्मरी, भगन्दर बद्ध गुदोदर आदि के शल्य कर्म भी सम्मिलित हैं। विविध प्रकार की विद्रधि, सद्योव्रण, नाड़ी व्रण, अर्बुद (Tumour) आदि और उनके शल्य कर्मों का वर्णन भी इस संहिता में किया गया है। काण्डभग्न, एवं सन्धि भग्नों (Fractures and dislocations) का भी सम्यग् निरूपण इस संहिता में उपलब्ध है। अग्निक्षार कर्म (Cauterization) सिरा व्यध, रक्त स्थापन आदि का भी सुन्दर वर्णन इस ग्रन्थ में मिलता है। इसके अतिरिक्त नेत्र रोग, नासारोग, कर्णरोग, मुखरोग तथा शिरोरोगों का भी जो शालाक्य के विषय हैं, इस संहिता में भली भांति वर्णन किया गया है और यथा स्थान उनके शल्य कर्मों का निर्देश भी इस ग्रन्थ में दिया गया है। इस ग्रन्थ में वर्णित नासासंधान विधि ही आधुनिक प्लास्टिक सर्जरी की प्रेरक मानी जाती है। शताधिक यन्त्रों तथा २० प्रकार के शस्त्रों का उल्लेख भी इस ग्रन्थ में किया गया है। शल्य कर्म सीखने के पूर्व शवच्छेद तथा योग्य कर्म का महत्व भी इसमें प्रतिपादित है। सुश्रुत ने कुहकों (Quacks) की पर्याप्त निन्दा की है।

बौद्धकाल में शवच्छेदन तथा शल्य चिकित्सा को अच्छा नहीं समझा जाता था और इसे आसुरी चिकित्सा कहा गया। अतः उसी काल में भारतीय शल्य शास्त्र में विशेष प्रगति नहीं हुई। फिर भी यहां के शल्य चिकित्सकों का आदर यूनान, अरब तथा ईरान में होता रहा। ७ वीं शताब्दी में बगदाद के खलीफा हारुन रशीद् ने भारतीय वैद्य मणिक, शानक आदि को राज्य

वैद्य के रूप में भी नियुक्त किया था तथा चरक, सुश्रुत, माधव निदान आदि ग्रन्थों का अनुवाद भी कराया था। अलबरनी तथा अन्य इतिहासज्ञों ने इस बात की पुष्टि की है। भारत में मुस्लिम शासनकाल में आयुर्वेद तथा उसके अंग शल्यशास्त्र को विशेष प्रोत्साहन तो नहीं मिला फिर भी ब्रिटिश साम्राज्य के आने तक आयुर्वेद एवं भारतीय शल्य शास्त्र अन्य देशों के शल्य शास्त्रों की अपेक्षा उन्नत था।

यद्यपि पाश्चात्य शल्य शास्त्र ने १९ वीं एवं २० वीं शताब्दियों में पर्याप्त विकास किया है तथा क्लोरोफार्म, ईथर आदि संज्ञाहर द्रव्यों, क्षकिरण यन्त्र एवं अन्य अनेक विध यन्त्र शस्त्रों तथा एन्टी बायोटिक औषध आदि के आविष्कार से इस शास्त्र की पर्याप्त उन्नति हो चुकी है फिर भी प्राचीन भारतीय शल्य शास्त्र में व्रण के अनेक विध कर्म, सवर्णीकरण, रोमसञ्जननादि तथा अनेक उपचार एवं विधियां ऐसी हैं जो आज भी न केवल आयुर्वेदाध्ययनार्थियों के लिए अपितु अर्वाचीन शल्य शास्त्रज्ञों एवं अन्वेषकों के लिए भी उपादेय सिद्ध हो सकती है। डाक्टर यामिनी भूषण राय के लगभग ४० वर्ष पूर्व के प्रवचन आज भी सत्य हैं कि आज के आधुनिक सर्जन अधिक अद्यावधिक, अर्वाचीन एवं उपादेय सिद्ध हो सकते हैं यदि वे शल्यतन्त्र विषयक आयुर्वेद विज्ञान से अपने को परिचित बनाने का कष्ट करें (Even upto-date modern surgeons of to-day will be more uptodate and modern if they will take the trouble to acquaint themselves with our (Ayurveda) learning on the subject.)अतः भारतीय शल्य शास्त्र के शिक्षण की आवश्यकता अभी भी पूर्ववत् ही बनी हुई है विशेषकर आयुर्वेद महाविद्यालयों में।

इस विषय पर एक उपयुक्त पाठ्यग्रन्थ की आवश्यकता चिरकाल से अनुभव की जा रही है क्योंकि सुश्रुत संहिता तथा अन्य संहिताओं एवं टीका ग्रन्थों में विषयों का निरूपण सूत्ररूप में है तथा एक ही स्थल पर उपलब्ध नहीं है। अर्वाचीन समय में उसे विशद एवं स्पष्ट रूप से वर्णन करने की भी आवश्यकता है। श्री डाक्टर अनन्त राम शर्मा द्वारा प्रस्तुत "शल्य समन्वय" इस दिशा में एक स्तुत्य एवं सुन्दर प्रयास है। डाक्टर अनन्त राम शर्मा आयुर्वेद के गम्भीर विद्वान हैं। ऋषिकुल आयुर्वेद महाविद्यालय हरिद्वार के अध्यापक के रूप में उन्होंने अच्छी ख्याति प्राप्त की है तथा ये एक सफल चिकित्सक भी हैं। प्रस्तुत विषय पर भी उनका सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक अच्छा ज्ञान है। "शल्य समन्वय" प्रथम भाग के रूप में इन्होंने प्रस्तुत किया है

जिसमें उन्होंने व्रण शोफ की आमावस्था, पच्यमानावस्था तथा पक्वावस्था एवं उन अवस्थाओं में विविध उपक्रमों एवं क्रमागत विषयों का सुन्दर प्रतिपादन किया है। प्रायः सभी शल्य कर्मों में व्रण बनता है तथा फिर जीवन पर्यन्त रोहण हो जाने पर भी व्रण चिन्ह बना रहता है (वृणोतियस्मात् रुढेऽपि व्रणवस्तु न नश्यति। आदेह धारणाद् यस्माद व्रण इत्युच्यते बुधैः) अतः प्रथम व्रण निरूपण ही इस प्रथम भाग में लेखक ने किया है। प्राप्त आर्ष बचनों का आधार तो लेखक ने लिया ही है किन्तु यथास्थल विषय के विशदीकरणार्थ तथा व्याख्यार्थ अर्वाचीन शल्यतन्त्र से विषय को उपबृंहित एवं समन्वित करने का भी सफल प्रयास लेखक ने किया है। "शल्यामय विमर्श" के रूप में द्वितीय भाग भी वे शीघ्र प्रकाशित करने जा रहे हैं। यह पुस्तक प्राध्यापकों तथा छात्रों एवं चिकित्सकों के लिए सामान्यरूप से उपयोगी है तथा आयुर्वेद महाविद्यालयों में शल्यतन्त्र की पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकार करने योग्य है। ऐसी उपादेय एवं सुन्दर पुस्तक लिखकर प्रकाशित करने के लिए मैं डाक्टर अनन्त राम शर्मा को हार्दिक धन्यवाद देता हूं तथा आशा करता हूं कि आयुर्वेद के विद्वान् इसका यथोचित समादर कर लेखक का उत्साहबर्धन करेंगे जिससे वे न केवल द्वितीय भाग "शल्यामय विमर्श" का ही शीघ्र प्रकाशन करें अपितु भविष्य में भी आयुर्वेद वांगमय की श्री वृद्धि में योगदान देते रहें।

मुकुन्दीलाल द्विवेदी
डी० आई० एम्० एस्०, आयुर्वेदाचार्य,
आयुर्वेदिक एवं यूनानी सेवा निदेशक,
उत्तर प्रदेश

लेखक का निवेदन

आयुर्वेदसंहिताग्रन्थों में वर्णित और अन्य संग्रहग्रन्थों में संकलित शल्यशास्त्र संबन्धि सम्पूर्ण साहित्य के सतत अनुशीलन से एवं पाश्चात्य शल्यशास्त्र की नवीनतम पुस्तकों के सम्यक् अध्ययन से पाठक के हृदय में यह भाव शनैः शनैः स्वतः ही स्फुटित होने लगता है कि इन दोनों चिकित्सा पद्धतियों में परम्पराप्राप्त पारस्परिक सम्बन्ध अवश्य है। यह चिकित्सा शास्त्र के इतिहास से भी प्रमाणित है। अश्मरी, अर्श, फिरंग, बद्धोदर, व्रणशोथ, विद्रधि आदि के आयुर्वेदीय वर्णनों से पाश्चात्य शल्यशास्त्र की आश्चर्य जनक एकरूपता भी इसका प्रमाण है। कई स्थलों पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक भाषा का दूसरी भाषा में अनुवाद मात्र है।

सुश्रुत के इस कथन से कि "तदेभिरेवशोणितचतुर्थैः संभवस्थिति प्रलयेष्व-प्यविरहितं शरीरं भवति" सु.सू. २१–३; और भग्न, सद्योव्रण तथा भाव प्रकाश द्वारा फिरंग का वर्णन दोषानुसार न देखकर यह धारणा और भी दृढ़ हो जाती है कि प्राच्य (आयुर्वेद) और पाश्चात्य (एलोपेथी) चिकित्सा-पद्धतियों को परस्पर मिलाकर आयुर्वेद की श्री वृद्धि होने में त्रिदोषसिद्धान्त की कृत्रिम वाधा अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकती है। प्रस्तुत पुस्तक के नाम करण "शल्यसमन्वय" में तथा इसमें प्रतिपादित विषय की वर्णनशैली में भी पाठक को यह समन्वयात्मक भावना अनेकों स्थलों पर अनुभूत होगी। अतः व्रणादि का वर्णन करते समय दोनों चिकित्सा पद्धतियों का अनायास, स्वतः ही समन्वित, परस्पर उपबृंहित, हो जाना साधारण घटना ही समझनी चाहिये। मैंने यह भी पाया कि संहिता सूत्रों को भली प्रकार समझने के लिये पाश्चात्य शल्यशास्त्रियों द्वारा लिखित ग्रन्थों का अध्ययन–अध्यापन भी अनिवार्य है। प्रस्तुत पुस्तक में यही सब वर्णित है। इसमें आयुर्वेद की आत्मा को अक्षुण्ण रखने के साथ २ यह भी ध्यान रखा गया है कि कुछ भी उपयुक्त छूटने न पावे।

'शल्य–समन्वय' के 'व्रण वर्णन विमर्श' नामक प्रस्तुत प्रथम भागको लिखने में मुझे उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति के हेतु चरक, सुश्रुत और वाग्भट के अतिरिक्त R. & C. (Manual of Surgery) तथा H. B. & M. L. (A short Practice of Surgery) आदि की विषय एवं चित्रादि के लिये विशेष सहायता प्राप्त हुई है। अतः मैं इन विद्वान् लेखकों का हृदय से आभारी हूं। पूज्य गुरुजनों, आदरणीय मित्रों और प्रिय छात्रों से भी समय २ पर मुझे जो प्रोत्साहन तथा सहयोग प्राप्त होता रहा है उसके लिये भी मैं उनका कृतज्ञ हूं। शल्यसमन्वय के द्वितीय भाग 'शल्यामय विमर्श' का प्रकाशन भी शीघ्र होगा।

भावत्कः—

प्राध्यापक—ऋ० आ० कालेज, हरद्वार डा० अनन्त राम शर्मा

विषयानुक्रम

चित्र

श्री १०८ महन्त शान्ता नंद नाथ जी

श्रवण नाथ मठ, हरद्वार

भारतीं सेवयामास वपुषा वसुना हृदा ।
चरणयो रर्पितं श्री शान्तानन्द महात्मनः ॥

शल्य समन्वयः

व्रणवर्णन विमर्शो नाम

प्रथमो भागः
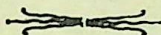
ये तु शास्त्रविदो दक्षाः शुचयः कर्म कोविदाः ।
जितहस्ता जितात्मानस्तेभ्योनित्यं कृतं नमः ।।
भिषजांसाधुवृत्तानां भद्रमागमशालिनाम् ।
अभ्यस्तकर्मणां भद्रं भद्रं भद्राभिलाषिणाम् ।
स्तौमि शल्यविदः प्राच्यान् प्रतीच्यांश्च मनीषिणः ।।
येषामुपदेशमाश्रित्य कृतः "शल्यसमन्वयः" ।।
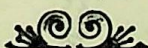
शल्य और शल्यशास्त्र

"शल् हिंसायां धातुः, तस्य शल्यमितिरूपम्"—सु. सू. २६

"शलनं हिंसनं शलः, तथा च शलस्य हिंसाया निमित्तं संयोगो यस्य तत् शल्यम्"—चक्रपाणिः

"मनः शरीरावाधकराणि शल्यानि"—सु. सू. ७

अति प्रवृद्धं मलदोषजं वा शरीरिणां स्थावरजंगमानाम् ।।
यत्किञ्चिदावाधकरं शरीरे तत्सर्वमेतत्प्रवदन्तिशल्यम् ।। डल्लणः

इस वर्णन के अनुसार 'शल्य' शब्द हिंसार्थक 'शल्' धातु से ब्युत्पन्न हुआ है तथा उस सभी को शल्य कहा गया है जिससे शरीर और मन को कष्ट

हो। शल्य शब्द के इस व्यापक अर्थ के अनुसार स्थावर पदार्थ जैसे—तृण, काष्ठ, पाषाण आदि, प्राणिजपदार्थ जैसे—बाल, नख, अस्थि आदि तथा मूढ-गर्भ आदि भी 'शल्य' हैं * ।

शल्यशास्त्र में शल्य, शल्यकर्म-साध्य व्याधियां, व्रण, पूय, स्राव तथा इनकी चिकित्सा में प्रयुक्त क्षार, अग्नि, जलौका आदि का विस्तृत वर्णन किया जाता है। (तदिहोपदिश्यत इत्यतः शल्यशास्त्रम्—सु. सू. २६)

शल्य शारीर और आगन्तुज भेद से दो प्रकार का होता है। शारीर शल्य दुष्ट हुए वातादि दोष, प्रकुपित वात, नख, विकृत रसादि धातु और मल, मूत्रादि हैं। इनके अतिरिक्त जितने भी भाव दुःख उत्पन्न करते हैं वे सब आगन्तुज शल्य (Foreign body) कहलाते हैं (तत्र शारीरं रोम नखादि धातवोऽन्नमला दोषाश्च दुष्टाः; आगन्त्वपि शारीर शल्यव्यतिरेकेण यावन्तोभावा दुःखमुत्पादयन्ति—सु. सू. २६) शल्य आगन्तुज हो अथवा शारीर सभी में व्रण प्रमुख होता है अतः सर्वप्रथम 'व्रण' का वर्णन किया जाता है (सर्वस्य च शल्यस्य व्रणफलत्वात् व्रण एवादौ विचार्यते–इन्दुः, अ. सं०.उ२९)

* तत्र शल्यं नाम विविध तृण काष्ठ पाषाण पांशु लोह लोष्ठास्थि बाल नख पूयास्रावान्तर्गर्भ शल्योद्धरणार्थं; यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानव्रण-विनिश्चयार्थं च—सु. सू. १.

शल् श्वल् आशुगमने धातुः, तस्य शल्यमितिरूपम्—सु. सू. २६ ॥

अथातो व्रणवर्णनं व्याख्यास्यामो यथोचुः प्राच्यप्रतीच्यशल्यकोविदाः—

व्रण

संहिताओं तथा उनकी संस्कृत टीकाओं में, 'व्रण' शब्द की विविध प्रकार से जो व्युत्पत्ति की है उससे व्रण की बहुविध अवस्थाओं का ज्ञान होता है। सुश्रुत के अनुसार व्रण शब्द गात्रविचूर्णनार्थ व्रण् धातु से निर्मित हुआ है जिसकी व्युत्पत्ति "व्रणयति इति व्रणः" की गई है। डल्लण ने इसका अर्थ "व्रणयति गात्रवैवर्ण्यं करोति" किया है जिसका अभिप्राय यह है कि "व्रण वह कहलाता है जिसके रोहण के पश्चात् निर्मित हुई व्रणवस्तु (Scar.) से व्रणस्थान की त्वचा विवर्ण हो जाती है"। 'गम्भीर व्रणों से निर्मित हुई व्रण-वस्तु (=व्रणचिन्ह-ड.) आजीवन बनी रहती है' इस आशय से अष्टांग संग्रहकार ने व्रणशब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है कि "यावदायुर्व्रणीते विव्रणोति वा शरीरमिति व्रणः"—अ. सं. उ. २९। इन्दु ने "विव्रणोति" का अर्थ "प्रकटयति" किया है जिसका अभिप्राय यह है कि व्रणवस्तु से व्रण का होना स्पष्ट हो जाता है। सुश्रुत ने प्रकारान्तर से व्रण की निम्नलिखित परि-भाषा भी की है :

वृणोति यस्मात् रूढेऽपि व्रणवस्तु न नश्यति।
आदेहधारणात् यस्मात् व्रण इत्युच्यते बुधैः॥ सु. सू. २१॥

"यस्मात् रूढेऽपि व्रणवस्तु व्रणकिणमादेहधारणान्न नश्यति, तेन व्रणकार्येण किणेन धारणप्रसंगात् व्रणसंज्ञेतिफलति—चक्रपाणिः

अर्थात्—रोहण के उपरान्त निर्मित हुई व्रणवस्तु से व्रणस्थान आच्छा-दित हो जाता है और यह व्रणवस्तु (=व्रणकिण=व्रणचिह्न) आजीवन बनी रहती है, अतः इसे 'व्रण' कहते हैं।

व्रण के उत्पत्तिकाल में उसकी जिन शारीरिक धातुओं का नाश होता है रोहणकाल में उसी प्रकार की धातुओं को निर्मित करने की क्षमता सब धातुओं में एक समान नहीं होती है। त्वचा में इस पुनर्जनन (Regene ration.) शक्ति का अभाव होता है। यही कारण है कि त्वक्स्थ व्रण

(१) व्रण् गात्रविचूर्णने—चुरादि (व्रणयतीति व्रणः);
(२) वृञ् वरणे—स्वादि (वृणोतीति व्रणः);
(३) वृञ् संभक्तौ—क्र्यादि (वृणीते इति व्रणः।

का व्रणकिण सौत्रिक तन्तुओं (Fibrous tissue.) से निर्मित होने से आजीवन बना रहता है। इसमें स्वेदग्रन्थियां, नाड़ियां, रोमकूप आदि कुछ नहीं होते हैं। यदि व्रणवस्तु अल्प हो तो नष्ट हो सकती है अन्यथा वह आजीवन बनी रहती है।

सुश्रुत ने (सू. स्था. २३) सम्यक्रूढ़ व्रण के लक्षण में उसे "त्वक्-सवर्णम्" बताया है जिसका अभिप्राय यह है कि अच्छी तरह से भरा हुआ व्रण उसे माना जाता है जिसकी व्रणवस्तु का रंग समीपस्थ त्वचा के सदृश प्राकृत हो। इस आधार पर श्री हाराणचन्द्र ने उपरोक्त श्लोक का अर्थ कुछ भिन्न प्रकार से किया है :

"व्रणवस्तु* अर्थात् त्वक्, मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि, संधि, कोष्ठ और मर्म, क्षतिपूर्ति द्वारा व्रण को आच्छादित करते हैं और वे (त्वगादि) आजीवन बने रहते हैं, अतः विज्ञों द्वारा इसे 'व्रण' कहा गया है"।

व्रण दो ही प्रकार से उत्पन्न होते हैं, या तो १. शरीर में विकार होकर विद्रधि बनने के उपरान्त होने वाला व्रण (शारीर या निज अथवा दोषजव्रण = Ulcer.) अथवा २. शरीर में किसी वस्तु के चुभ जाने आदि से होने वाला व्रण (आगन्तुज या सद्योव्रण = Wounds.) व्रण की उपरोक्त परिभाषाएं शारीर और आगन्तुज दोनों प्रकार के व्रणों की हैं।

व्रण के भेद—"द्विधा व्रणः स विज्ञेयः शारीरागन्तु भेदतः"—माधवः

अर्थात् व्रण दो प्रकार के होते हैं १. शारीर (Ulcer.) और २. आगन्तुज (Wounds) । शारीर व्रण दोषज या निज व्रण और आगन्तुज व्रण सद्योव्रण भी कहलाते हैं। आगन्तुज व्रण भी वातादि दोषों के सम्पर्क में आने पर निज संज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं (सोऽपिपुनर्वातादिभिरधिष्ठितोनिजतां लभते - अ-सं०उ. २९) कालान्तर में सभी व्रण दोषज व्रण बन जाते हैं (न हि दोषाननाश्रित्य व्रणः कश्चित् शरीरिणः—का. सं. चि.)

व्रण को निज और आगन्तुज भेद से दो प्रकार का ही मानने का महत्व इससे भी स्पष्ट है कि चरक (चि. २५वां अध्याय), सुश्रुत (चि.१म अध्याय), काश्यप संहिता (चि. सं.) आदि में उन अध्यायों का नामकरण भी "द्विव्रणीय" किया है जिनमें व्रण का प्रमुख रूप से वर्णन है।

---

*त्वक् मांससिरास्नायु-अस्थि संधि कोष्ठमर्माणी त्यष्टौव्रणवस्तूनि—सु. सू. २२

त्वगादि आठ को व्रणवस्तु कहा गया है और व्रणचिह्न या व्रणकिण को भी व्रणवस्तु कहते हैं। इस प्रकार व्रणवस्तु शब्द का प्रयोग दो अर्थों में उपलब्ध होता है।

निज या शारीरव्रण

(ULCER.)

यथास्वैर्हेतुभिर्दुष्टा वातपित्तकफाव्रणाम् ।
बहिर्मार्गं समाश्रित्य जनयन्ति निजान् व्रणान् ।। च. चि. २४ ।।
व्रणः संजायते प्रायः पाकाच्छ्वयथुपूर्वकः—वा. सू. २९-१

अर्थात्--शारीरव्रण की अवस्था आने से पूर्व शोथ उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् पूयोत्पादन होकर वह व्रण संज्ञा को प्राप्त करता है। निज, दोषज या शारीर व्रण की पूर्वावस्था को "व्रणशोथ" कहते हैं। यह एकदोषोत्थ शोथ 'शारीरव्रण का पूर्वरूप' भी कहलाता है (एक दोषोत्थितः शोथो व्रणानां पूर्वलक्षणः—माधवः)

वृणशोथ

(INFLAMMATION.)

सुश्रुत ने व्रणशोथ का लक्षण इस प्रकार किया है :

"शोथसमुत्थाना ग्रन्थिविद्रध्यलजी प्रभृतयः प्रायेण व्याधयो ऽभिहिता अनेका कृतयः, तैर्विलक्षणः पृथुर्ग्रथितः समोविषमो वा त्वङ्मांसस्थायी दोष-संघातः शरीरैकदेशोत्थितः 'शोफ' इत्युच्यते—सु. सू. १७-३"

शोफ इत्युच्यत इतिप्रकरणात् व्रणशोथ इत्यत इति ज्ञेयम्—चक्रपाणिः

अर्थात्--शोफ (थ) या व्रणशोथ (Inflammation) वह रचना है जो अनेक आकृति वाले ग्रन्थि, विद्रधि, अलजी आदि विकारों से भिन्न, विस्तीर्ण, ग्रन्थि की तरह उन्नत, सम या विषम, त्वगादि धातुओं में आश्रित और शरीर के किसी एक स्थान में होने वाला दोष-दूष्य का समूह होती है।

सम्प्रति पूयजनक जीवाणुओं के विष से उत्पन्न तन्तु प्रतिक्रिया (Tissue reaction.) को "व्रणशोथ" माना जाता है*।

चरकवर्णन के आधार पर शोथ तीन प्रकार का होता है, १. सर्व शरीरव्यापी (Anasarca) २. अर्धशरीर व्यापी और ३. एकदोषोत्थ (त्रिविधोनिजश्च सर्वार्धगात्रावयवाश्रितत्वात्—च. चि. १२-७) किन्तु यहां केवल तृतीय प्रकार (एकदोषोत्थ) के शोथ का वर्णन ही अभिप्रेत है। सर्व-

*The pyogenic organisms invade the tissues, their toxins evoke the tissue reaction known as inflammation—Illing worth.

शरीरव्यापी और अर्धशरीरव्यापी शोथ हृदय, वृक्क आदि अंगों के विकारों के परिणामस्वरूप होते हैं जो कायचिकित्सा के विषय हैं।

कारण--प्रकुपित दोष* अथवा पूयजनक जीवाणु निम्नलिखित किसी एक मार्ग द्वारा विकृत स्थान तक पहुंचने में समर्थ होते हैं जिससे उस स्थान में व्रणशोथ उत्पन्न हो जाता है :

(१) प्रत्यक्ष संक्रमण होना, जैसा कि विद्ध (Penetrating.) व्रण में होता है।

(२) शरीर में पहिले से ही उपस्थित संक्रमण का शरीर में फैल जाना, जैसा कि संक्रमणग्रस्त दन्तमूल से उत्पन्न दन्तोलूखल विद्रधि (Alveolar abscess.) में होता है।

(३) रक्तप्रवाह या लसिकावाहिनियों द्वारा।

शोणितप्रभव (Haematogenous.) संक्रमण में किसी पूर्ववर्ती (Predisposing.) कारण का होना आवश्यक हो सकता है, जैसे--मांसपेशी के खण्डित हो जाने से अमार्ग प्रसृत हुआ रुधिर पूयजनक जीवाणुओं की वृद्धि के लिये उपयुक्त वातावरण तैय्यार करता है अथवा रोग-प्रतिरोधशक्ति को अल्प करने वाले विकार, जैसे--परिवृक्कीय (Prinephric) विद्रधि।

इन मार्गों द्वारा संक्रमण हो जाने के उपरान्त उस स्थान की स्वस्थ धातुओं और प्रकुपित दोष अथवा विकारी जीवाणुओं में एक दूसरे को परास्त करने के लिये परस्पर संघर्ष होता है। यदि दोष (जीवाणु) दुर्बल हों और शरीर की प्रतिरोध शक्ति उनसे प्रबल हो तो दोष (जीवाणु) वृद्धि नहीं कर पाते तथा व्रणशोथावस्था शान्त होने लगती है और संचित तरल आचूषित होना आरम्भ हो जाता है। इस दशा में विकार स्थल पर या तो सौत्रिंक-भवन (Fibrosis.) हो जाता है अथवा शुष्कपूययुक्त गुहा शेष रह जाती है। व्रणशोथ का इस प्रकार शान्त हो जाना 'प्रशमन'=(Resolution.) कहलाता है। कालान्तार में ऐसे स्थान पर अभिघात होने पर या शरीरव्यापी दौर्बल्य की अवस्था में अथवा प्रतिरोध शक्ति की न्यूनता के कारण यह विकार पुनः हो सकता है, विशेषकर यदि व्रणशोथ का कारण

---

*यथास्वैर्हेतुभिर्दुष्टा वातपित्तकफा नृणाम्। बहिर्मार्गं समाश्रित्य जनयन्ति निजान् व्रणान्—(च. चि. २४-१०)

स्टेफिलोकोकाई जीवाणुओं का संक्रमण हो तो जैसा कि अस्थिविद्रधि (Brondie's abscess.*) में देखा जाता है।

यदि दोष (जीवाणु) शरीर की प्रतिरोधशक्ति को परास्त करने में सफल हो जायं तो दोष (जीवाणु) बढ़ने लगते हैं जिसके परिणामस्वरूप व्रणशोथ तीव्र हो जाता है, तन्तुओं की जीवन शक्ति (Vitality.) अल्प हो जाती है तथा विकार ग्रस्त स्थान वेदनायुक्त तीव्र शोथ से घिर जाता है। नष्ट हुआ केन्द्रीय संघात (Central necrotic mass.) तरल होने लगता है और रुधिरवारि (Plasma.) के आयातसे सुषिर भाग का तनाव बढ़ जाता है। इस प्रकार उत्पन्न हुई व्रणशोथ की पाकाभिमुखता का सौश्रुत वर्णन इस प्रकार है :

"स यदाबाह्याभ्यन्तरैः क्रियाविशेषै र्न सम्भावितः प्रशमयितुं क्रियाविपर्ययात् बाहुल्याद् वा दोषाणां तदा पाकाभिमुखो भवति"—सु.सू. १७-५

अर्थात्—व्रणशोथ उपयुक्त चिकित्सा के अभाव में दोषों की बहुलता के कारण जब बाह्य और आभ्यन्तर उपायों के द्वारा शान्त नहीं होता तो वह पाकाभिमुख हो जाता है।

इस प्रकार दोष प्राबल्य के कारण निर्मित हुई पूय अल्प प्रतिरोध वाले भाग की ओर को फैलने लगती है और बाहर निकलने का मार्ग बना लेती है।

भेद—१. वातिक २. पैत्तिक ३. श्लैष्मिक ४. सान्निपातिक ५. शोणितज और ६. आगन्तुज भेद से व्रणशोथ छः प्रकार का होता है (षड्विधः स्यात् पृथक् सर्वरक्तागन्तुनिमित्तजः—माधवः)

लक्षण—व्रणशोथ में दो प्रकार के लक्षण पाये जाते हैं १. स्थानिक (Local.) और २. व्यापक (General.)

(१) स्थानिक लक्षणों का श्री माधव द्वारा "अपक्व व्रण शोथ" नाम से किया गया वर्णन इस प्रकार है :

मन्दोष्मता ऽल्प शोथत्वं काठिन्यं त्वग् वि(स)वर्णता ॥
मन्द वेदनता चैतच्छोथानामामलक्षणम् ॥ व्र. शो. नि. ॥

अर्थात्—आमशोथ में अल्प उष्णता, अल्प शोथता, कठोरता, त्वक्वि(स)वर्णता और अल्प वेदना होती है।

इन लक्षणों का कारण यह है कि संक्रमण के उपरान्त उसे निष्क्रय

---

* BRONDIE'S ABSCESS—Tuberculosis with suppuration of articular end of a bone = संध्यस्थियक्ष्मविद्रधि।

करने के लिये रक्त चारों ओर एकत्रित होने लगता है जिसमें श्वेत रक्तकणों (W. B. C.) की संख्या अधिक बढ़ी हुई होती है, रक्त वाहिनियां विस्तृत हो जाती हैं और शोणित संचय की अधिकता के कारण चारों ओर की त्वचा उष्ण तथा विवर्ण हो जाती है। गौरवर्ण वाले रोगियों में त्वचा का रंग लाल हो जाता है और कृष्णवर्ण में हल्की विवर्णता ही प्रतीत होती है। विस्तृत हुई रक्तवाहिनियों से तरल का आयात (Exudation.) होने लगता है और वहां पर उत्सेध (Swelling.) हो जाता है (अल्पशोथत्वम्-) विकृत स्थान की सांवेदनिक (Sensory.) नाड़ियां इस उत्सेध के दबाव तथा जीवाणुविष से क्षुब्ध हो जाती हैं जिससे वेदना होने लगती है (मन्दवेदनताचैतत्) जो प्रायः आघातात्मक (Throbbing.) प्रकार की होती है; अन्त में उस स्थान की नाड़ियां, पेशियां, संधियां तथा ग्रन्थियां (लसिका) आदि सभी में क्रिया संबन्धी विकृतियां आ जाती है। इस प्रकार कुपित दोष व्रणशोथ के पांच विख्यात चिन्हों को उत्पन्न करते हैं जो इस प्रकार हैं :

१. रक्तिमा (Redness.) २. उष्णता (Hotness.) ३. उत्सेध (Swelling) ४. वेदना (Pain.) ५. कार्यक्षमता का ह्रास (Loss of function.*)

(२) व्यापक लक्षणों में, यदि विकार तीव्र हो तो शैत्य (Rigor.), अल्पज्वर (९९° फ़.), रुग्णानुभूति (Malaise.) अग्निमान्द्य, विबन्ध, जिह्वामलिन और मूत्र की मात्रा अल्प होती है, और भी अधिक तीव्रावस्था में प्रलाप तथा बालकों में आक्षेपक (Convulsions.) भी हो सकते हैं।

उचित काल में उपयुक्तचिकित्सा न करने पर इस व्रणशोथ में पूय-निर्माण होने लगता है और तब यह अवस्था "विद्रधि" कहलाती है।

वातप्रधान व्रणशोथ में पाकक्रिया विषम (विषमं पच्यते वातात्) पैत्तिक, रक्तज और आगन्तुज में शीघ्र (पित्तोत्थ श्चाचिरात्) तथा श्लैष्मिक में विलम्ब से (चिरं कफजः) होती है।

चिकित्सा--

"षड्विधः प्रागुपदिष्टः शोफ स्तस्यैकादशोपक्रमा भवन्त्यपतर्पणादयो विरेचनान्ताः; ते च विशेषेण शोथ प्रतिकारे वर्तन्ते—सु. शा. १-२४"

---

*This originate the five cardinal signs of inflammation rubor, color, tumor, dolor, functio-leasa—Illingworth.

अर्थात्—वृणशोथ को विशेष रूप से शान्त करने वाले अपतर्पण से अतिरिक्त ग्यारह उपक्रम होते हैं जो इस प्रकार हैं : १. अपतर्पण २. आलेप ३. परिषेक ४. अभ्यंग ५. स्वेद ६. विम्लापन ७. उपनाह ८. पाचन ९. विस्रावण १०. स्नेहन और ११. वमन तथा १२. विरेचन।

यद्यपि अपतर्पण से लेकर विरेचन तक बारह* उपक्रम होते हैं किन्तु अपतर्पण को सर्वसामान्य उपक्रम मानने से संख्यातिरेक नहीं होता है (अपतर्पणं तु आद्य उपक्रमः, एष सर्वशोफानां सामान्यः प्रधानतमश्च—सु. चि.) जिस प्रकार वृणचिकित्सा के षष्ठि उपक्रमों में से सात उपक्रम प्रमुख बताये गये हैं उसी प्रकार वृणशोथ के इन एकादश उपक्रमों में से विम्लापन, विस्रावण और उपनाहन प्रमुख हैं।⊕

आमादि दोषों से अवरुद्ध स्रोत वाले व्यक्ति के बढ़े हुए दोषों (दोषोच्छ्राय==दोषौत्कट्यम्) की शान्ति के लिये उसकी वय, प्रकृति, दोष आदि का निर्णय कर (१) अपतर्पण (अभोजन = लंघन) कराना चाहिये किन्तु गर्भिणी, बाल वृद्ध, दुर्बल, भीरु, मुखशोष, तृष्णा, श्रम और ऊर्ध्व वायु से पीड़ितों में नहीं कराना चाहिये। चरकानुसार लंघन अल्पदोष में उपयोगी होता है और दोषाधिक्य में शोधन किया जाता है (शोधयेत् बहुदोषांस्तु स्वल्पदोषान् विलंघयेत्—चि. २५–४५)

(२) आलेप जातमात्र और उग्रवेदना वाले व्रणशोथ की शान्ति के लिये वातिक में मातुलुंगादि, पैत्तिक में दूर्वादि और श्लैष्मिक में अजगन्धादि द्रव्यों का करना चाहिये। जिस प्रकार जल से अग्नि शान्त हो जाती है उसी प्रकार आलेपन भी वेदना का शमन करता है। इससे न केवल वेदना ही शान्त होती है अपितु यह प्रह्लादन, शोधन, शोथहरण, उत्सादन [उन्नतिकरणे,] और रोपण भी करता है।

सुश्रुत ने सूत्रस्थान (अ. १८) में आलेपन पर विशद प्रकाश डाला है और इसको भी अपतर्पण की तरह आद्य, सभी शोथों के लिये सामान्य और प्रधानतम उपक्रम बताया है।

आलेपन लोमाभिमुख (प्रतिलोम) होना चाहिये क्योंकि इससे औषध अच्छी तरह टिकी रहती है और रोमकूपों (Hair follicles.) में से भली भान्ति प्रविष्ट भी हो जाती है तथा स्वेदवाही सिराओं के मुखों में प्रवेश कर अपने गुण दिखाती है (प्रतिलोमेहि सम्यगौषधमवतिष्ठते अनुप्रविशति च रोमकूपान् स्वेदवाहिभिः शिरामुखैश्च वीर्यं प्राप्नोति—सु. सू. १८) प्रलेपन-

*अपतर्पणादय इत्यत्र बहुव्रीहेरतद्गुण संविज्ञानात् शेषा·एकादश ग्राह्याः—ड.
⊕ आदौ विम्लायनं कुर्यात् द्वितीयमवसेचनम्। तृतीयमुपनाहं च—सु. सू. १७-१७

-द्रव्यों के शुष्क हो जाने पर उन्हें हटा देना चाहिये किन्तु यदि ये पीडन उद्देश्य के लिये लगाये गये हों तो वे शुष्क होने पर ही उपकारक होते हैं* अन्यथा शुष्क प्रलेप निष्फल (अपार्थक) और रुक्कर होता है।

यह तीन प्रकार का होता है,—१. प्रलेप २. प्रदेह और ३. आलेप। इन तीनों में परस्पर अन्तर यह है कि प्रलेप शीत, पतला (तनु) और विशोषी (पीडयितव्य व्रणशोथ में) या अविशोषी (अपीडयितव्य व्रणशोथ में) होता है, प्रदेह उष्ण या आवश्यकतानुसार शीत—वातकफबहुल में उष्ण और पित्त-रक्त बहुल में शीत—स्थूल, अल्प और अविशोषी होता है तथा आलेप सब दृष्टियों से मध्यम होता है (मध्यमोऽत्रालेपः—सु. सू. १८) और रक्तपित्त जन्य व्रणशोथ को शान्त करता है।

विदाहरहित व्रणशोथ में आलेपन हितकर होता है; यह दोषानुसार प्रयुक्त किये जाने पर दाह, कण्डू और वेदना को दूर करता है; त्वक्विकारों को दूर करने में उत्तम (अग्र्य) है, रक्त और मांस को रोगरहित करता है; गुह्य तथा मर्मस्थ विकारों को नष्ट करता है और संशोधन करने के लिये भी प्रयुक्त होता है।

पैत्तिक व्रणशोथ के आलेपन में स्नेह की मात्रा छठा भाग, वातिक में चौथा भाग और श्लैष्मिक में आठवां भाग होती है। आलेपन का उत्सेध आर्द्र-माहिष चर्म के बराबर होता है। लेप रात में नहीं करना चाहिये क्योंकि रात्रि शीत प्रधान होती है और आलेपन से भी व्रणोष्मा अवरुद्ध हो जाती है जिससे व्रणशोथ में दाह–पाक होने का भय रहता है (न चालेपं रात्रौ प्रयुंजीत, शैत्यपिहितोष्मणस्तदनिर्गमात् विकार प्रवृत्तिरिति—सु. सू: १८; सर्वशस्तु निशां प्राप्य प्रलेपं विनिवर्तयेत्—वैतरणे. पुष्कलावत स्तुपठति; तमसापि-हितोह्यूष्मा रोमकूपै रनावृतैः। लेपाद्विनैव निर्याति रात्रौ नालेपयेदतः ॥ अ. सं. उ-३० ॥

वासी (पर्युषित) लेप का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिये और पहिले किये गये लेप के ऊपर ही दूसरा लेप भी नहीं करना चाहिये क्योंकि प्रगाढ़ हो जाने पर यह ऊष्मा, वेदना और दाह उत्पन्न करता है और लगे हुए लेप को पुनः नहीं लगाना चाहिये क्योंकि यह निर्वीर्य हो चुका होता है अतः निरर्थक होता है (नच पर्युषितं लेपं कदाचिदवचारयेत्। न च तेनैव लेपेन पुनः शोथं प्रलेपयेत्–वैतरणे)

---

*पूयगर्भानणुद्वारान् व्रणान् मर्मगतानपि। यथोक्तैः पीडनद्रव्यैः समन्तात्परिपीडयेत्। शुष्यमाण मुपेक्षेत—सु. चि. १-५४॥

अष्टांग संग्रहकार ने आलेप को दस प्रकार का बताया है :—

१. स्नैहिक (स्नेहाढ्य और वातहर)
२. निर्वापण (शीत और विषाग्निक्षार दग्ध तथा पित्तशोथहर)
३. प्रसादन (अन्तर्दुष्ट रुधिर को शुद्ध करने वाला)
४. स्तम्भन (रक्तातिप्रवृत्ति को रोकने वाला)
५. विलायन (श्लेष्ममेदोबहुल, शीत, अविदग्ध, ग्रथित और रूक्षशोथहर)
६. पाचन (विदग्धावस्था में पाचन करने वाला)
७. पीडन (सूक्ष्ममुख व्रण में पिच्छिल द्रव्यों द्वारा पीडन करना)
८. शोधन (दूषित व्रण का शोधन करने वाला)
९. रोपण (शुद्धव्रण का रोपण करने वाला)
१०. सवर्णीकरण (रूढव्रण में सवर्णता लाना)

व्रणशोथ की शान्ति के लिये प्रयुक्त किये जाने वाले योगों में अशोषि (न सूखने वाले) द्रव्यों के साथ शतधौत घृत का बार २ प्रयोग (वा. उ. २५) और न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थ आदि के त्वक्चूर्ण को घृत मिलाकर लेप करना उपयोगी बताया है (च. चि. २५-४६)

३—परिषेक के लिये वातिक व्रणशोथ में घृत, तैल, धान्याम्ल, मांसरस और *वातहर द्रव्यों के उष्ण क्वाथ आदि को प्रयुक्त किया जाता है। पित्त, रक्तादि से उत्पन्न व्रणशोथ में शर्करोदक, इक्षुरस, क्षीरवृक्षों के शीतकषाय तथा क्षीर-घृत-मधु से परिषेक करना चाहिये। श्लेष्मशोफ में तैल, मूत्र क्षारोदक, सुरा और कफघ्न औषधियों के उष्ण क्वाथ से परिषेक करें।

परिषेक से दोषाग्नि सहसा शान्त हो जाती है और वेदना जाती रहती है (दोषाग्निरेवं सहसा परिषेकेण शाम्यति सु. चि. १-३५)।

४—अभ्यंग वात और कफ में तैल से और पित्तरक्तादि के व्रणशोथ में शतधौतघृत से किया जाता है। यह उपक्रम स्वेदन, विम्लापनादि सात उपक्रमों से पहिले और विस्रावणादि के बाद में किया जाता है। इससे दोषोपशम और मृदुता आती है।

५—स्वेदन वेदनायुक्त, अचल (दारुणत्वं वायुना रूक्षजठरीभावः, अचलत्वमित्यपरे—ड.) और कठोर व्रणशोथ में किया जाता है।

---

*वातहर क्वाथ—भद्रदार्वादि, विदारिगन्धादि, दशमूल; पित्तहर-क्वाथ—चन्दनादि, काकोल्यादि, न्यग्रोधादि, तृणपंचमूल; श्लेष्महर-क्वाथ—पिप्पल्यादि, सुरसादि, आरग्वधादि गण।

६–**विम्लापन** (अंगुल्यादि मर्दनेन शोथविलयनम्––ड.) उस व्रणशोथ में किया जाता है जो मंदवेदनायुक्त और स्थिर हो। विम्लापन करने से पूर्व व्रणशोथ का अभ्यंग और स्वेदन कर लिया जाता है। *तदनन्तर अंगुष्ठ, वेणु, नाडी, हस्ततलादि से पीडित स्थान का मर्दन करते हैं। अभ्यंग और स्वेदन से रक्त संचार बढ़ता है, रक्तवाहिनियां विस्तृत होती हैं और ऐसी अवस्था में व्रणशोथ का अंगुष्ठ आदि से मर्दन करने पर संचित रुधिर विलीन होकर विकार का शमन हो जाता है (विम्लापनार्थं विलयनार्थं वेणुनाड्याद्यन्यतमेन-विमृद्नीयान्मर्दयेत्-इत्यर्थः—इन्दुः)

व्रणशोथ प्रशमन में विम्लापन उपक्रम का विशिष्ट स्थान है और व्रण तथा व्रणशोथ संबन्धी साठ उपक्रमों में प्रमुख सात उपक्रमों में इसका प्रथम स्थान है (आदौ विम्लापनं कुर्यात्––सु. सू. १७-१७)

७–**उपनाहन** व्रणशोथ का शमन और पाचन दोनों कार्य करता है (शोफयोरुपनाहंतु कुर्यादामविदग्धयोः––सु. चि. १) यदि व्रणशोथ अविदग्ध (पाकरहित) हो तो उपनाहन से बैठ जाता है अन्यथा पाकारम्भ होने पर इससे शीघ्र पकता है (अविनग्धस्तथा शान्ति विदग्धः पाकमश्नुते–वा.उ.२५-३४)

८–**पाचन** उपक्रम विदग्ध व्रणशोथ में किया जाता है जब किसी भी उपाय द्वारा उसका शमन संभव नहीं होता है। एतदर्थ दधितक्रादि से तैय्यार की गयी उत्कारिका (लप्सिका कृतिः, अन्ये पूपलिकाकृतिमाहुः––ड.) का प्रयोग किया जाता है और रोगी को भी हितकर आहार दिया जाता है (हितं सभोजनं चापि पाकायाभिमुखोयदि––सु. चि. १) वास्तव में पाचन उप-क्रम से पूर्व विस्रावणादि उपक्रमों का व्रणशोथ के प्रशमनार्थ उपयोग किया जाता है। पाचनद्रव्य इस प्रकार हैं—

शण, मूली, शिग्रु, तिल और सर्सों के बीज, किण्व (सुराबीज) सक्तु, अतसी और उष्ण द्रव्य पाचन द्रव्य कहलाते हैं (सु. सू.—३६)

९–**विस्रावण** उपक्रम नवोत्थ शोफ में वेदना और पाक को दूर करने के लिये किया जाता है (वेदनायाः प्रशान्त्यर्थं पाकस्याप्राप्तयेतथा—सु. चि. १) शोणितविस्रावण से दुष्टरक्त के निकल जाने पर व्रणशोथ की कठोरता, वेदना, विवर्णतादि सब शान्त हो जाते हैं (दुष्टास्रेऽपगते सद्यः शोफरागरुजांशमः—वा. उ. २५) विस्रावण कार्य जलौकादि को प्रयुक्त कर किया जाता है तथा

*अभ्यज्य स्वेदयित्वा च वेणुनाड्या ततः शनैः। विम्लापनार्थं मृद्नीयात् तलेनांगुष्ठकेनवा—अ. सं. उ ३०॥

यह पाचन उपक्रम से पूर्व करना होता है। इसका विस्तृत वर्णन अन्यत्र किया गया है।

१०– स्नेहन उपक्रम का प्रयोग सोपद्रव व्रणशोथ में होता है एतदर्थ रोगी को स्नेहपान कराया जाता है।

११– वमन उच्छ्रित (उठे हुए) मांस वाले तथा कफ बहुल व्रणशोथ में हितकर होता है। १२–विरेचन वातपित्त दुष्ट और दीर्घकालानुबन्धी व्रणशोथ में किया जाता है। वमन-विरेचन द्वारा दोषों के बाहर निकल जाने से रोगी का शोधन हो जाता है जिससे शोथ प्रशमन शीघ्र होता है (यथासन्नं विशोधनम्। योज्यं शोफो हि शुद्धानां व्रणश्चाशु प्रशाम्यति––वा. उ. २५)

इन उपायों के द्वारा यदि शोथप्रशमन न हो तो उपनाहन और पाचन उपक्रमों का प्रयोग किया जाता है जिससे व्रणशोथ शान्त हो जाता है अथवा पक जाता है।

पाकाभिमुख शोथ में रोगी को पथ्यसेवन का प्रतिबन्ध हटाकर यथेष्ट भोजन करने देना चाहिये (पाकाभिमुखे च शोफे यथेष्टमातुरं भोजयेत्— अ. सं. उ. ३०) इससे पाकशीघ्र होता है और रोगी वेदना तथा शस्त्रकर्म को सहन करने में सक्षम होता है (पाचनार्थं पाकवेदना शस्त्रकर्म सहनार्थं च–– अ. सं. उ. ३०)

Antiphlogestine

व्रणशोथ के प्रशमनार्थ आजकल उपनाहनार्थ एन्टी कंजिस्टीन, बैलाडोना आदि प्लास्टर; तथा बैलाडोना ग्लिसरीन आदि प्रलेपनार्थ स्थानिक उपचार के रूप में प्रयुक्त होती है और आभ्यन्तर प्रयोग के लिये सल्फाड्रगस, पैंनिसिलीन एवं एन्टीबायाटिक्स का प्रयोग भी होता है जिससे पर्याप्त सफलता मिलती है।

आमशोथ में शस्त्रप्रयोग की शास्त्रकारों ने बहुत निन्दा की है और ऐसा करने वाले चिकित्सक को श्वपच (चाण्डाल) कहा है। आमशोथ के छेदन से सिरा, स्नायु आदि का नाश, शोणित की अतिप्रवृत्ति, तीव्र वेदना और क्षतोत्थ विसर्प हो जाते हैं (आमच्छेदे सिरास्नायु व्यापदो ऽसृगति स्रुतिः। रुजोऽतिवृद्धि-र्दरणं विसर्पो वा क्षतोद्भवः––वा. सू. २९)
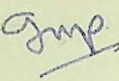
विद्रधि

ABSCESS.

दुष्टरक्तातिमात्रत्वात् स वै शीघ्रं विदह्यते ।
ततः शीघ्रविदाहित्वाद् विद्रधीत्यभिधीयते ।। च. सू. १७-९५ ।।

अर्थात् — व्रणशोथ में दोषदुष्ट रुधिर की अतिमात्रा होने पर वह शीघ्र ही विदग्ध हो जाता है और पकने लगता है। इसी हेतु इसे 'विद्रधि' कहते हैं।

विद्रधि के कारण वे ही हैं जिनका उल्लेख व्रणशोथ प्रकरण में किया है। व्रणशोथ ही विद्रधि कहलाता है जब उचित काल में इसकी उपयुक्त चिकित्सा नहीं होती अथवा दोषप्राबल्य के कारण इसमें पाकारम्भ हो जाता है। संहिताओं में पर्युषित, अत्युष्ण, रूक्ष, शुष्कादि शोणित प्रदूषण द्रव्यों को विद्रधि का विशेष रूप से कारण माना है--वा. नि. ११।

भेद---बाह्य और आभ्यन्तरी भेद से विद्रधि दो प्रकार की होती है। इसके दोषानुसार छः भेद होते हैं : १. वातिक २. पैत्तिक ३. श्लैष्मिक ४. सान्निपातिक ५. क्षतज और ६. शोणितज।

सम्प्रति लक्षणों के आधार पर विद्रधि को अल्पतीव्र (Subacute) और तीव्र (Acute) भेद से दो प्रकार का भी स्वीकृत किया जाता है। बाह्यविद्रधि के लक्षण इस प्रकार हैं :

लक्षण---बाह्य तथा तीव्र विद्रधि में यदि वात दोष का प्राधान्य हो तो वह तीव्र वेदनायुक्त, कृष्ण या अरुणवर्ण तथा विविध उत्थान और पाक वाली होती है; पैत्तिक विद्रधि में वर्ण पक्वउदुम्बरफलसदृश तथा वह ज्वरदाह युक्त, शीघ्र उत्पन्न होने तथा पकने वाली होती है और श्लैष्मिक प्राधान्य में विद्रधि बड़े आकार वाली, स्निग्ध, अल्पवेदन और विलम्ब से उत्पन्न होने तथा पकने वाली होती है। इन दोषों की विद्रधि में उपस्थित स्राव भी क्रमशः तनु (पतला) पीत और श्वेत वर्ण का होता है (तनुपीतसिताश्चैषामास्रावाः क्रमशः स्मृताः -- माधवः)

सान्निपातिक विद्रधि नाना वर्ण, वेदना और स्राव वाली, विषम, बड़े आकार की (घाटाल) तथा विषकपाक युक्त होती है।

विद्रधि शब्द दोनों लिंगों—स्त्रीलिंग—पुल्लिग में प्रयुक्त होता है और 'विद्रधि' तथा 'विद्रधी' दोनों ही रूप पाये जाते हैं।

क्षतज और शोणितज विद्रधि के लक्षण अधिकतर पित्तज विद्रधि के सदृश होते हैं। क्षतजविद्रधि काष्ठादि के अभिघात या व्रण से उत्पन्न होती है और इसमें ज्वर, तृष्णादाह आदि लक्षण होते हैं।

जब विद्रधि का निर्माण होता है तो व्रणशोथ के लक्षण अधिक तीव्र हो जाते हैं। ताप बढ़ जाता है, धमनी स्पन्दन तीव्र होता है, जिह्वा शुष्क और अंकुरावृत (Furred.) होती है और रोगी को भूख कम लगती है। साधारणतः विबंध रहता है किन्तु कभी २ अतिसार भी हो सकता है। शैत्य, स्वेद और पूय के नित्य बने रहने से शरीर कृश और अशक्त हो जाता है। अन्त में श्वेतकणोत्कर्ष (Leucocytosis.) हो जाता है जिसमें रुधिर के श्वेताणुओं (W. B. C.) की संख्या प्रतिक्यूबिक मिलिमीटर १६००० से ५०००० तक बढ़ जाती है*। इसी हेतु संहिताग्रन्थों में पैत्तिक, रक्तज और क्षतज विद्रधि के लक्षणों में पूय की अधिकता के कारण ज्वर, दाह आदि विशिष्ट लक्षणों का उल्लेख किया है।

तीव्र विद्रधि के स्थानिक लक्षणों में व्रणशोथ के स्थानिक लक्षण अधिक स्पष्ट हुए होते हैं।वेदना जो आघातात्मक (Throbbing.) प्रकार की होती है, अधिक बढ़ जाती है तथा शोथात्मक (Inflammatory.) उत्सेध भी अधिक बड़ा हो जाता है जो बाद में केन्द्र में से मृदु होने लगता है। सुश्रुत के अनुसार इस सब लक्षणों को "पच्यमानावस्थ" या "विदह्य-मानावस्था" (Suppuration.) भी कहते हैं। इस अवस्था में रोगी को वृश्चिक दंश से पीड़ित व्यक्ति की तरह किसी भी स्थिति में शान्ति प्राप्त नहीं होती है (वृश्चिकविद्ध इव च स्थानासनशयनेषु न शान्तिमुपैति—सु. सू. १७-५)उसे चींटियों से काटने, सूइयों के चुभने और अग्नि या क्षार से दग्ध होने सदृश वेदना होती है।

वाग्भटानुसार पच्यमान व्रणशोथ पर जमा हुआ घृत रख दिया जाय तो वह पिघल जाता है (स्त्यानं विष्यन्दयत्याज्यं व्रणवत् स्पर्शनासहः—वा. सू. २९) और वह व्रण की तरह स्पर्शासहिष्णु (Tenderness.) होता है। इसका कारण उस स्थान में रक्त के संचय से होने वाली उष्णता तथा तन्तुओं की क्षुब्धता है।

तदनन्तर पूयनिर्मित हो जाने को "पक्वावस्था" या "विदग्धावस्था" कहते हैं। इसमें वेदना अपेक्षाकृत कम होती है क्योंकि तन्तुओं के मृत हो जाने

*स्वस्थावस्था में प्रति क्यूबिक मिलिमीटर (cu. m. m.) रुधिर में ५००० से १०००० तक श्वेतकण उपस्थित होते हैं।

से उनमें प्रतिक्रिया नहीं होती है। विद्रधि में कण्डू और तोद होने लगता है, पूय के समीप की त्वचा का रंग बदल जाता है, और पीडन द्वारा पूय की उपस्थिति को प्रतीत किया जा सकता है। यह विधि 'पूयतरंग की प्रतीति' (Fluctuation of pus.) कहलाती है। इसका सौश्रुतवर्णन इस प्रकार है :
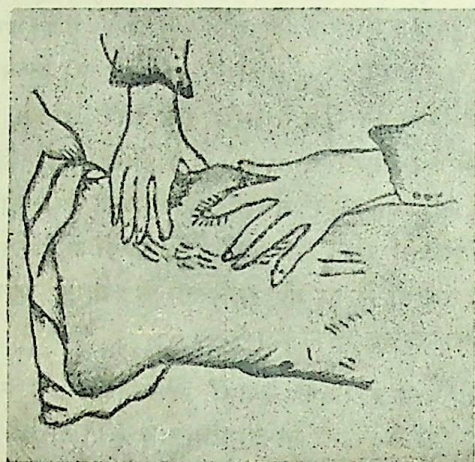
The Method of Testing For Fluctuation.

"वस्ताविवोदक संचरणं पूयस्य प्रपीडयत्येकमन्तमन्ते चोव-पीडिते--सु. सू. १७-५"

यथा वस्ताविवोदक संचरणं भवति तद्वत् वैद्य एकमन्तमवयवं प्रपीडयति सति पूयस्य संचरणं शोथे भवति--डल्लरण:

अर्थात्—यदि वैद्य पूययुक्त विद्रधि के एक ओर अंगुलियां रख कर दूसरे हाथ की अंगुलियों से दूसरी ओर से पीडन करता है तो अंगुलियों को पूय में उठने वाली तरंग की प्रतीति होती है। (स्पृष्टे पूयस्य संचारो भवेद् वस्ताविवाम्भसः - वा. सू. २९)

विद्रधि में पूयनिर्मित हो जाने पर उसके किनारे निम्न और मध्य भाग उन्नत हो जाता है क्योंकि केन्द्र में तन्तुओं की दुर्बलता के कारण वह पूय के दबाव से उभर आता है (नामोऽन्तेषून्नतिर्मध्ये--वा. सू. २९)। त्वचा में वलियां पड़ जाती हैं। पूय त्वचा में पीतवर्ण का चिह्न बना कर तथा वहां से त्वचा को विदीर्ण कर बाहर आने लगती है। पाक द्वारा विद्रधि का अन्तर्भाग सुषिर हो जाता है और उस स्थान के बाल गिरने लगते हैं (शीर्यमाणतनूरुहः--वा. सू. २९)

विद्रधि के निर्माण में रक्त तथा वातादि तीनों दोष सक्रिय होते हैं

क्योंकि इसमें होने वाली वेदना का कारण वायु, दाह का कारण पित्त, शोथ का कारण श्लेष्मा और रक्तवर्णता का कारण रुधिर होता है (शूलंनर्तेऽनिलाद्दाहः पित्ताच्छोफः कफोदयात् । रागोरक्ताच्च पाकः स्यात् अतोदोषैः सशोणितैः—वा. सू. २६)

रक्तपाक

बाह्य विद्रधि उत्तान धातुओं में होती है अतः उसके पच्यमान और पक्वावस्था के लक्षण अति स्पष्ट होते हैं और चिकित्सक को रोगनिर्णय करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती है। किन्तु गम्भीर धातुओं में स्थित विद्रधि के पक्वापक्वनिर्णय करने में चिकित्सक मोह को प्राप्त हो जाता है (पक्वापक्वमिति मन्यमानो भिषक्मोहमुपैति—सु. सू. १७-५) कभी २ विद्ध व्रणों में भी पूय दूर स्थित धातुओं में निर्मित होती है और पक्वलक्षण स्पष्ट नहीं होते हैं। वाग्भट ने इस अवस्था को "रक्तपाक" कहा है (रक्तपाकमितिब्रूयात् तं प्राज्ञोमुक्तसंशयः—वा. सू. २६) इस प्रकार की अवस्था का कारण कफदोष माना गया है जिससे दुर्लक्ष्य रक्तपात उत्पन्न होता है (कफजेषुतु शोफेषु गम्भीरं पाकमेत्यसृक्—वा. सू. २६) ऐसी अवस्था में निम्नलिखित लक्षणों द्वारा पूयनिर्णय करना चाहिये:

> "तत्र हि त्वक्सवर्णता शीतशोफता स्थैर्यमल्परुजताऽश्मवच्चघनता, न तत्र मोहमुपेयादिति—सु. सू. १७-५"

अर्थात्—गम्भीर धातुओं में स्थित विद्रधि में यदि शोथस्थान का रंग त्वचा के समान, वह स्थान स्पर्श में शीत, स्थिर, अल्पवेदनायुक्त और पत्थर की तरह कठोर हो तो पूय की उपस्थिति का निर्णय करना चाहिये।

गम्भीर धातुओं में स्थित विद्रधि के स्थानिक लक्षणों का जानना वस्तुतः कठिन होता है अतः ऐसी अवस्था में शारीर संबन्धी (Constitutional.) लक्षणों के आधार पर निर्णय करना होता है। यदि तीव्र व्रणशोथ के लक्षण चार-पांच दिन से भी अधिक समय तक बिना किसी वृद्धि के बने रहें और साथ ही विसर्गी (Remittent.) ज्वर तथा श्वेतकणोत्कर्ष (Leucocytosis.) भी उपस्थित हो तो पूय की उपस्थिति समझनी चाहिये।

संहिताग्रन्थों में व्रणशोथ के पक्वापक्व संबन्धी निर्णय को बड़ा महत्व दिया है। पक्व विद्रधि पहिचानने में समर्थ व्यक्ति को वास्तव में वैद्य और असमर्थ को तस्करवृत्ति वाला बताया है (जानीयात्स भवेत् वैद्यः शेषास्तस्कर-

वृत्तयः--सु. सू. १७-६) । सुश्रुतसंहिता में तो आमपक्वैषणीय नाम से एतद्-विषयक एक पृथक् ही अध्याय की रचना की गयी है। अपक्वच्छेदन से शोणितातिप्रवृत्ति, वेदनाप्रादुर्भाव और मांससिरादि का अतिमात्र नाश तथा पक्वविद्रधि की उपेक्षा से असाध्य या कृच्छ्रसाध्य नाडीव्रण बन सकता हैं--सुश्रुत। अविनिःसृत (न निकली हुई) पूय मांस, सिरा, स्नायु आदि को उसी प्रकार नष्ट कर देती हैं जिस प्रकार अग्नि तृणराशि [कक्ष] को जला डालती। इसी हेतु अपक्व विद्रधि का भेदन करने वाले तथा पक्व विद्रधि की उपेक्षा करने वाले की चाण्डाल (श्वपच) से उपमा दी है--सुश्रुत* ।

पूय

पूय के सम्बन्ध में संहिताकाल से दो मत प्रचलित हैं। प्रथममत के अनुसार पूयोत्पत्ति में वातादि तीनों दोष सक्रिय होते हैं क्योंकि वातदोष के विना वेदना, पित्तदोष के विना पाक और श्लेष्मदोष के विना पूय निर्मित नहीं होती है (पचन्ति शोफांस्त्रय एवदोषाः-- सु. सू. १७)

द्वितीयमत के अनुसार पूयोत्पादन में पित्त को प्रमुख बताया है जो वात और कफ दोष को भी अपने वश में कर लेता है (कृत्वा वशे वात कफौ प्रसह्य--सु.)। तदनन्तर प्रकुपित पित्त केवल रुधिर से ही पूय का निर्माण करता है। (पचत्यतः शोणित मेव पाकः--सु. सू. १७.)

वस्तुतः पूयनिर्माण में रुधिर का बहुत बड़ा भाग होता है। पूय को व्रणशोथ की परिणति माना जाता है और यह जीवित या मृत श्वेतकणों Leucocytes.), नष्ट हुए तन्तुओं, जीवित या मृत जीवाणुओं और सीरम का समूहमात्र होती है।

पूय साधारणतः पीलापन लिये होती है किन्तु कारण के अनुसार इसके भिन्न २ प्रकार होते हैं : बहुत घनी पूय को गाढपूय (Cheesy pus.), रक्तरंजित को सास्रपूय (Sanious pus.) और रोहणोपयोगी को स्वस्थपूय (Laudable pus.) कहते हैं। यक्ष्मपूय पानी की तरह पतली होती है, थूक में पूय हो तो उसका रंग पीलापन लिये हुए (श्लेष्म पूय = Mucopurulent) होता। मूत्रमें उपस्थित पूय का ज्ञान सूक्ष्म निरीक्षण उपकरण की सहायता से ही होता है।

वातिक पूय तनु (पतली), पैत्तिक पीतवर्ण, श्लैष्मिक पिच्छिल तथा श्वेत और सान्निपातिक अनेक वर्ण एवं आकार-प्रकार की होती है⊕ ।

---

*यश्छिनत्यामज्ञानाद्यश्च पक्वमुपेक्षते । श्वपचाविवमन्तव्यौ तावनिश्चय कारिणौ--सु. सू. १७-१० ॥

⊕तनु पीत सिता श्चैषा मास्रावाः क्रमशः स्मृताः— सु. नि. ६ ।

जीर्ण-शीत या श्लेष्म विद्रधि

(CHRONIC OR COLD ABSCESS)

शराव सदृशः पाण्डुः शीतः स्तब्धोऽल्प वेदनः ।
चिरोत्थान प्रपाकश्च सकण्डुश्च कफोत्थितः ॥ सु. नि. ९-८ ॥

अर्थात्— श्लैष्मिक विद्रधि शराव सदृश, पाण्डु वर्ण, शीतस्पर्श, अचल, अल्प वेदना वाली, शनैः २ बढ़ने तथा पकने वाली और कण्डु युक्त होती है।

जब विद्रधि का निर्माण धीमे २ होता है और व्रणशोथ के लक्षण अनुपस्थित होते हैं तो वह अवस्था जीर्ण या शीत विद्रधि कहलाती है। ऐसी विद्रधियां अधिकतर अस्थि, संधि, लसिकाग्रन्थियां आदि स्थानों में होती हैं और इसका कारण प्रायः यक्ष्म संक्रमण (Tubercular infection.) होता है। पूययुक्त इन विद्रधियों का शरीर के किसी भी भाग में होना संभव है किन्तु पृष्ठवंश (Spine.), नितंब, प्रजन तथा मूत्रमार्ग (Genito urinary tract.) आदि में प्रायः पायी जाती हैं।

शीत विद्रधि के लक्षण नितान्त अल्प होते हैं। वेदना भी केवल उस समय उपस्थित होती है जब पूय संचय की अधिकता के कारण समीपस्थ रचनाओं पर दबाव पड़ने लगता है। स्पर्शासहिष्णुता प्रायः अनुपस्थित होती है। यदि संक्रमण मिश्रित (Mixed.) हो तो नैशिक (Hectic.) ज्वर होना संभव है।

अस्थिविद्रधि आदि का वर्णन तत्तत् रचनाओं के शल्यामय वर्णन के प्रसंग में किया गया है।

आभ्यन्तर विद्रधि

(Internal abscess.)

अन्तः शरीरे मांसासृगाविशन्ति यदा मलाः ।
ततः संजायते ग्रन्थि र्गम्भीरस्थः सुदारुणः ॥ च. सू. १७–९३ ॥

अर्थात्— अन्तः शरीर में स्थित मांस, रुधिर आदि दूषित वातादि से विकृत होकर दारुण ग्रन्थि के आकार के हो जाते हैं।

शरीर के बाह्य पृष्ठ पर उत्पन्न होने वाली बाह्य विद्रधि के अतिरिक्त कभी २ शरीर के आभ्यन्तरस्थ हृदय, यकृत्, वृक्क आदि अवयवों में भी विद्रधि पायी जाती है जो 'अन्तर्विद्रधि' या 'आभ्यन्तर विद्रधि' कहलाती है। इन विद्रधियों के भिन्न २ तथा विशिष्ट कारण होते हैं जिनका वर्णन तत्तत् विद्रधि के वर्णन प्रसंग में किया गया है। इनके सामान्य कारण इस प्रकार

हैं :—

"विरुद्धाजीर्ण, विषम-असात्म्य भोजन, वेगसंधारण, आदि हेतुओं से प्रकुपित हुए पृथक २ अथवा सम्मिलित दोष गम्भीरस्थ मांस और शोणित को विकृत कर दारुण अन्तर्विद्रधि को जन्म देते हैं ।"

ये अन्त विद्रधियां प्रधानतः हृदय, क्लोम, यकृत्, प्लीहा, कुक्षि, वृक्क, नाभि, वंक्षण और वस्ति में उत्पन्न होती हैं* । इनका वर्णन भिन्न २ स्थलों पर प्रसंगवश किया गया है ।

अन्तर्विद्रधियों के पक्वापक्वादि लक्षण बाह्य विद्रधियों के सदृश होते हैं और जब ये ऊर्ध्व भाग में स्थित होती हैं तो पक्व और विदीर्ण होने पर मुख द्वारा तथा शरीर के अधोभाग में स्थित हों तो पक्व होने के पश्चात् गुद मार्ग से स्रवित होने लगती हैं किन्तु जब नाभि प्रदेश में विदीर्ण होती हैं तो स्राव दोनों भागों से आने लगता है (पक्व प्रभिन्नासूर्ध्वजासु मुखात् स्रावः स्रवति, अधोजासु गुदात्, उभयतस्तु नाभिजासु — च. सू. १७)

स्त्रियों में होने वाली दो अन्य विद्रधियों का वर्णन भी उपलब्ध होता है— (१) रक्तविद्रधि और (२) मक्कल्ल विद्रधि । ये दोनों ही आभ्यन्तर विद्रधियां हैं, बाह्य रक्तविद्रधि स्त्री पुरुष दोनों में पायी जाती हैं (पित्त-लिंगोऽसृजां बाह्यः स्त्रीणामेव तथान्तरः— वा. नि. ११-१०)

(१) आभ्यन्तर रक्त विद्रधि— यह प्रजाता और अप्रजाता सभी स्त्रियों में शीत-रूक्ष आदि अहित आहार के सेवन से होने वाली विद्रधि है जिसमें भयंकर ज्वर, दाह आदि होते हैं । यह विकार "गर्भाशय अन्तः कला-शोथ" (Endometritis.) का तीव्र प्रकार है ।

(२) मक्कल्ल विद्रधि— उचित प्रकार से हुई प्रसूताओं में भी यदि गर्भाशय में बाहर निकल जाने योग्य रुधिर रुका रह जाय तो वह विकृत होकर मक्कल्ल नामक विद्रधि को जन्म देता है । यह "प्रपाकीय गर्भाशय अन्तः कलाशोथ" (Putrid endometritis.) भी कहलाता है । यह विद्रधि यदि सात दिन तक शान्त न हो तो पक जाती है (ततोऽसौसम्प्रपच्यते सु. नि. ६) ।

स्त्रियों में पायी जाने वाली स्तन विद्रधि (Mammary abscess) का वर्णन स्तन रोगों के प्रसंग में किया गया है । यह प्रायः बाह्य ही होती है ।

---

*गुदे वस्तिमुखे नाभ्यां कुक्षौ वङ्क्षयोस्तथा । वृक्कयो र्यकृति प्लीह्नि हृदये क्लोम्नि वा तथा— सु. नि. ६ ॥

साध्यासाध्यता— सान्निपातिक विद्रधि तथा हृदय, नाभि और मूत्राशय में उत्पन्नविद्रधि भीतर या बाहर की ओर पक्व होकर फूटे या मुख से स्रवित हो तथा जो विद्रधि क्षीणव्यक्ति को हुई हो या उपद्रवयुक्त हो वह असाध्य होती है। यदि कुशल चिकित्सकों द्वारा शीघ्र ही चिकित्सा करायी जाय तो उपरोक्त विद्रधियों से अतिरिक्त विद्रधियां ठीक हो सकती हैं। मर्मोत्थ सभी विद्रधियां कष्टसाध्य होती हैं। अधोमार्ग से स्रवित होने वाली विद्रधि में रोगी जीवित रह सकता है किन्तु ऊर्ध्व मार्ग से स्रवित होने पर नहीं। यदि हृदय, नाभि और वस्ति से अतिरिक्त स्थानों में उत्पन्न विद्रधि बाहर की ओर को विदीर्ण हो तो भी रोगी कभी २ बच जाता है। (जीवेत्कदाचित्पुरुषो नेतरेषु कदाचन—सु. नि.) अन्यथा नहीं।

रोगनिर्णय— विद्रधि और गुल्म दोनों समान दोषों से उत्पन्न होते हैं अतः दोनों में सापेक्ष रोग–निश्चिति करनी होती है। दोनों का परस्पर अन्तर इस प्रकार है :—

(१) विद्रधि मांस रक्तादि का आश्रय लिये होती है किन्तु गुल्म इस प्रकार के निबन्ध से रहित होता है (न निबन्धोऽस्ति गुल्मानां विद्रधिः सनिवन्धनः— सु. नि. ९)

(२) विद्रधि का आकार विकृत हुए मांस शोणित आदि के द्वारा निर्मित हुआ होता है जबकि गुल्म वातादि दोषों का पिण्डमात्र होता है (गुल्माकाराः स्वयं दोषा विद्रधि मांसशोणिते— सु. नि. ९)

(३) विद्रधि मांसादि में निर्मित होती है किन्तु गुल्म जल बुद्बुद् की तरह रिक्त स्थान में होता है (विवरानु चरो ग्रन्थिरप्सु बुद्बुद् को यथा— सु. नि. ९)

(४) उपरोक्त कारणों से विद्रधि में पाक होता है और गुल्म पाक रहित है (विद्रधिः पच्यते तस्मात् गुल्म श्चापि न पच्यते— सु. नि. ९)।

इस प्रकार गुल्म वायु का गोलामात्र (Gaseous Tumour) है और विद्रधि से स्पष्टतः भिन्न है

इस प्रकार स्व २ कारणों से प्रकुपित दोषों द्वारा व्रणशोथ और उसके शान्त न होने पर विद्रधि उत्पन्न होती है। इस विद्रधि के विदीर्ण होने पर जो व्रण बनता है वह निज, शारीर या दोषज व्रण अथवा "अलसर" (Ulcer.) कहलाता है।

विद्रधि की चिकित्सा

पक्व विद्रधि में भेदन (Incision.) करना होता है । संहिताकारों ने सम्पूर्ण शस्त्रकर्म (Operation.) को तीन भागों में विभक्त किया है (१) पूर्व कर्म (Preparation of the patient.) (२) प्रधान कर्म (Main operation.) और (३) पश्चात् कर्म (After treatment.) (त्रिविधं कर्म– पूर्व कर्म, प्रधान कर्म, पश्चात्कर्मेति– सु. सू. ५) जिस अध्याय में इन सबका वर्णन किया गया है वह "अग्रोपहरणीय" कहलाता है। शस्त्रकर्म के लिये जिस २ सामान को पहिले ही एकत्रित कर लेना चाहिये उनकी सूची भी अग्रोपहरणीय (कर्मणामग्रे उपहरणं येषां यन्त्र शस्त्रादीनां तान्यग्रोपहरणानि— च. पा.) में दी है जो इस प्रकार है :—

यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, शलाका, शृंग जलौका, अलाबू, जाम्बवौष्ठ, पिचु, प्लोत, सूत्र, पट्ट, मधु, घृत, वसा, पय, तैल, तर्पणद्रव्य, कषाय, आलेपन, कल्क, व्यजन, शीत तथा उष्णोदक, कटाह आदि–(सु. सू. ५)

पूर्व कर्म में लंघन, विरेचन, बस्ति आदि के द्वारा रोगी को शस्त्रकर्म के लिये तैय्यार करना, प्रधान कर्म में रोगानुसार भिन्न २ शस्त्रकर्म करना और पश्चात्कर्म में रोगी की पूरी तरह देखभाल और व्रण बन्धन द्वारा व्रणितोपसन करना आदि का समावेश होता है।

जब व्रणशोथ एकादश उपक्रमों से शान्त नहीं होता है तो उसकी उपनाहन उपक्रम द्वारा चिकित्सा की जाती है (स चे देवमुपक्रान्तः शोफो न प्रशमं व्रजेत् । तस्योपना है :— च. चि. २५–४६) पाकाभिमुख व्रणशोथ का उपनाहन करने से वह शीघ्र पक जाता है । विद्रधि की अपक्वावस्था (व्रणशोथ) में जलौ का पातनादि उपाय बताये गये हैं (जलौकापातनं शस्तं सर्वस्मिन्नेव विद्रधौ— च. द.; विद्रधिं सर्वमेवादौ शोफवत् समुपाचरेत्— वा० चि० १३) जो विद्रधि को विठाने के लिये हैं।

शीघ्र विदहनशील होने के कारण विद्रधि शीघ्र पक जाती है अतः इसके भेदन की शीघ्र व्यवस्था करनी होती है जिससे शल्यभूत पूय बाहर निकल जाय (पक्वस्य पाटनं हित मुच्यते— च. चि. २५–४६) एतदर्थं दो प्रकार के उपायों को प्रयोग में लाया जाता है :—

(१) दारण और (२) भेदन या पाटन (Incision.)

(१) दारण— पक्वव्रण शोथ या विद्रधि का शस्त्र द्वारा भेदन उत्तम होता है किन्तु मृदु प्रकृति वाले व्यक्ति (सुकुमार) बाल, वृद्ध, क्षीण, असह,

स्त्रियों आदि में शस्त्र प्रयोग सुकर नहीं होता है अतः उनमें ऐसे द्रव्यों का प्रयोग करना होता है जिससे विद्रधि स्वयं विदीर्ण हो जाय, इसी को "दारण" कहते हैं। चरकानुसार (चि. २५) दारणार्थ भेषजगण इस प्रकार है :— उमा (अलसी), गुग्गुलु, स्नुहीक्षीर आदि। मर्मस्थित, संधिस्थित और अल्पसत्व व्यक्ति के तथा अधिक पके व्रणशोथ में भी दारणकर्म विहित है *।

सुश्रुत ने "मिश्रकाध्याय" में चिरविल्व (बृहत्करंज) अग्निक (लांगली) दन्ती, चित्रक आदि को दारण कर्म करने वाला बताया है। क्षारद्रव्य और केवल क्षार उत्तम दारण होते हैं (क्षारद्रव्याणि वा यानि क्षारो वा दारणं परम्— सु. सू. ३६) कपोत, गृध्र आदि पक्षियों के पुरीष भी दारण होते हैं। चक्रदत्त ने गोदन्त को जल में रगड़ कर लगाने को अत्यन्त कठोर शोथ का भी दारण करने वाला बताया है (गवां दन्तं जले घृष्टं बिन्दुमात्र प्रलेपनात्। अत्यन्त कठिने वापि शोथे— च. द.) वाग्भट के अनुसार स्वर्ण-क्षीरी भी पक्व व्रणशोथ का विदारण करती है (गुग्गुल्वतसी गोदन्त स्वर्ण-क्षीरी कपोतविट्। क्षारौषधानि क्षाराश्च पक्वशोथ विदारणम्— वा. सू. २९-११)

(२) पाटन या भेदन (Incision.)— विद्रधि के पक जाने पर (भेद्यास्तु सर्वजमृते विद्रधय :—सु. सू. २५) उसका पाटनकर्म कर व्रणवत् चिकित्सा करनी चाहिये (अपक्वे त्वेतदुद्दिष्टं पक्वेतु व्रणवत् क्रिया—च. द.) सुश्रुत ने भेदन विषय का उल्लेख इस प्रकार किया है :—

अन्त पूयेष्ववक्त्रेषु तथैवोत्संगवत्स्वपि।
गतिमत्सु च रोगेषु भेदनं प्राप्तमुच्यते ॥ सु. चि. १-४५ ॥

अर्थात्— पूयगर्भ और मुखरहित व्रणशोथ (विद्रधि) में तथा कोटर-युक्त एवं नाड़ीव्रणों में भेदन करना हितकर होता है।

सुश्रुत ने अग्रोपहरणीय नामक अध्याय (सू. ५) में विद्रधि-भेदन का विस्तार से वर्णन किया है और बताया है कि रोगी को अल्पाहार (बल रक्षा के लिये) देकर तथा पर्याप्त प्रकाश में (प्रत्यङ् मुख) बिठा कर पूय के दर्शन होने तक (आपूय दर्शनात्) शस्त्र का इस प्रकार अनुलोम प्रयोग करना चाहिये जिससे मर्म, सिरा, स्नायु, अस्थि, सन्धि, धमनी आदि को क्षति न पहुंचे (मर्मस्नायु सिरा सन्ध्यस्थि धमनीः परिहरन् अनुलोमं

* अल्पसत्वेऽबले बाले पाके चात्यर्थ मुद्धते। दारणं मर्मसन्ध्यादिस्थिते चान्यत्र पाटनम्— वा. सू. २९-१०।

शस्त्रं निदध्यात्–सु. सू. ५; प्रतिलोमं रोमोपघातात् शस्त्रकुण्ठता तीव्रा च रुक् संभवति–– च. पा.) शस्त्र प्रयोग एक ही बार ऐसी तीव्रता से होना चाहिये कि पुनः प्रयोग की आवश्यकता ही न रहे (सकृदेवापहरेत् शस्त्रमाशु च– सु.) भेदन के लिये वृद्धिरत्र (Scalpel.) आदि शस्त्रों को प्रयुक्त किया जाता है (वृद्धिपत्र नखशस्त्र मुद्रिकोत्पलपत्रकार्ध धाराणि छेदने भेदने च– सु.) सामान्य विद्रधि में साधारणतः दो–तीन अंगुल लंबा या गहरा शस्त्रपातन पर्याप्त होता है (महत्स्वपिपाकेषु द्व्यगुलं त्र्यगुलं वा शस्त्रपदमुक्तम्–सु. सू. ५)

विद्रधि में यदि भेदन छोटा किया गया हो तो अन्तःस्थित दोष बाहर नहीं निकल पाते और शोधन या रोपणार्थ प्रयुक्त वर्ति आदि को भी भली-भान्ति अन्तःप्रविष्ट करना कठिन होता है। अतः सुश्रुत ने उत्तम प्रकार से किये गये व्रण (भेदन) के निम्नलिखित लक्षण बताये हैं :––

आयतश्च विशालश्च सुविभक्तो निराश्रयः ।
प्राप्तकालकृतश्चापि व्रणः कर्मणि शस्यते ।। सु. सू. ५१ ।।

अर्थात्–– भेदन द्वारा किया गया वह व्रण उत्तम होता है जो आयत (दीर्घ), विस्तीर्ण, अच्छी तरह विभक्त; आश्रय (नविद्यते आशयः पूयादेर्दोषस्यस्थानं यस्य तथाभूतं निराशयं विघात्–– अरुणादत्तः) रहित (कोटर-रहित) और उचित समय पर किया गया हो। ऐसे व्रणों (भेदनों) में से दोषों को बाहर निकालना आसान होता है और इनमें शोधनादि उपयोगी द्रव्यों को भी आसानी से प्रयुक्त किया जा सकता है । यही कारण है कि भेदन की इन विशेषताओं को 'व्रणगुण' कहा है (तत्रायतो विशालः समः सुविभक्तो निराश्रय इति व्रणगुणाः— सु॰)

यद्यपि आरम्भ में यह बताया गया है कि शस्त्र प्रयोग एकही बार ऐसे चातुर्य और तीव्रता से करना चाहिये कि पुनः २ शस्त्र प्रयोग करने की आवश्यकता ही न रहे (सकृदेवापहरेत् शस्त्रमाशु च— सु॰) किन्तु विद्रधि आदि की अवस्था के अनुसार जहां २ पूय ने मार्ग बनाया हो वहां २ उत्संगों (कोटरों) को दूर करने के लिये व्रण बनाना पड़ता है (यतो यतो गतिं विद्यात् उत्संगो यत्र यत्र तु । तत्र तत्र व्रणं कुर्यात् यथा दोषो नतिष्ठति— सु. सू. ५–१२) जिससे दोष अन्तःस्थित न रह जांय।

यदि पूय आदि के निर्हरण के लिये एक व्रण पर्याप्त न हो तो चिकित्सक अपनी बुद्धि के अनुसार अन्य व्रण भी कर सकता है जिससे व्रण शोधन भली प्रकार हो जाय (एकेन वा व्रणेना शुद्ध्य मानेनान्तरा बुद्ध्या ऽवेक्ष्यापरान् व्रणान् कुर्यात्– सु. सू. ५; यावद्भिर्व्रणैः पूय शोधनं भवति तावन्तो व्रणा-

आलोक्य कर्तव्याः— च. पा.; "For large abscesses multiple drains may be necessary, preferably inserted through counter-incisions planned to give dependent drainage"— C. F. W. Illingworth.) संहिताकारों के अनुसार एतदर्थ किये जाने वाले शस्त्रपदों में दो या तीन अंगुल का अन्तर होना चाहिये (द्व्यंगुलान्तरं त्र्यंगुलान्तरं वाभिसमीक्ष्य— अ. सं. सू. ३८)

भ्रू, गण्ड, ललाट, अक्षिपुट, ओष्ठ, दन्तवेष्टक, कक्षा, कुक्षि और वङ्क्षण में स्थित विद्रधि का भेदन करना हो तो तिर्यक् भेदन करना चाहिये क्योंकि इन स्थानों की सिरादि तिर्यक् ही स्थित होती हैं (अत्र भ्रूगण्डादौ तिर्यगेव सिरादयः सन्ति— च. पा.) अन्यथा शस्त्रच्छेदन से सिरादि कट जाती हैं, व्रण देर से भरता है और वहां पर मांसकन्द बन जाता है (अन्यथा तु सिरास्नायुच्छेदनात् अतिमात्रं वेदना, चिराद्व्रण संरोहः, मांसकन्दी प्रादुर्भावश्चेति— सु. सू. ५–१३)

इस प्रकार पक्व विद्रधि का भेदन करने के उपरान्त व्रण में आवश्यकतानुसार वाम प्रदेशिनी अंगुली प्रविष्ट कर चारों ओर से व्रण की सफाई करदी जाती है (समन्तात् परिपीड्यांगुल्या व्रणं परिमृज्य— सु०*) तदनन्तर प्लोत द्वारा कषाय (क्वाथ) से व्रण प्रक्षालन करते हैं (प्रक्षाल्य कषायेण प्लोतेनोदकमादाय— सु०) और तिलकल्क तथा मधु–घृत से तैयार की गई न अधिक रूक्ष और न अधिक स्निग्ध वर्ति को व्रण में रखा जाता है। वर्ति के ऊपर कल्क रख कर ऊपर से गाढ़ी कवलिका रख देते हैं तथा वस्त्रपट्ट से बांध देते हैं (तिलकल्कमधुसर्पिः प्रगाढामौषधयुक्तां नातिस्निग्धां नातिरूक्षां वर्तिं प्रणिदध्यात्; ततः कल्केनाच्छाद्य, घनां कवलिकां दत्वा, वस्त्रपट्टेन बध्नीयात्— सु. सू. ५–१५; घनां कवलिकां ततः निधाय युक्त्या बध्नीयात्

---

*(१) वामहस्त प्रदेशन्यैषयित्वा— अ. सं. सू. ३८ ।

(२) एषित्वा सम्यगेषिण्या परितः सुनिरूपितम् । अंगुलीनाल वालैर्वा यथादोषं यथाशयम्— वा. सू. २९–१९ ।

(३) For the exploration of the abscess cavity a finger is introduced into the abscess cavity. When necessary the opening is enlarged sufficiently to admit an index finger and loculi are broken down in order that subsequent drainage may be facilitated— Pye.

पट्टेनसुसमाहितः— वा. सू. २९; ततो व्रणान्तःप्रविष्टवर्तिच्छादनानन्तरं कवलिकांबहुवस्त्रखण्डपुटनिर्वर्तितां निधाय संस्थाप्य, पट्टेन निविडवस्त्रखण्डेन प्रिकृतत्वात् व्रणं बध्नीयात् — अरुणदत्तः)

तदनन्तर व्रण और व्रणित की रक्षोघ्न मंत्रादि से रक्षा व्यवस्था कर तथा रोगी को, आवश्यकता होने पर, रुग्णालय में प्रविष्ट कर परिचारक को चिकित्सा संबन्धी निर्देश देना चाहिये (ततः कृतरक्षमातुरमागारंप्रविश्य, आचारिक मादिशेत्— सु. सू. ५-३२)

व्रण चिकित्सा के वर्णन में 'कवलिका' और 'विकेशिका' शब्दों का प्रयोग प्रायः आता है । कवलिका औषधकल्क और बन्धनपट्ट के मध्य रखा जाने वाला तह किया हुआ वस्त्र खण्ड होता है (बहुवस्त्रखण्ड पुट निर्वर्तिता कवलिका—अरुणदत्तः; द्विगुण चतुर्गुण मृदुपट्ट विरचिता कवलिका—डल्लणः) आजकल इस कर्म के लिये 'कार्पासखण्ड = Cotton piece' प्रयुक्त होता है । विकेशिका को सम्प्रति 'गाज़' (Gauze.) कहते हैं । औषध द्रव्य को इसी में लगाकर व्रण के अन्दर प्रविष्ट किया जाता है (कल्कमधुघृताभ्यक्त वस्त्रस्य सूत्रस्य वा वर्तिः विकेशिका— अरुणदत्तः) वाग्भट ने विकेशिका के निम्नलिखित गुण वर्णित किये हैं :—

सपूतिमांसं सोत्संगं सगतिं पूयगर्भिणम् ।
व्रणं विशोधयेत् शीघ्रं स्थिताह्यन्तर्विकेशिका ।। सू. २९ ।।

अर्थात्— व्रण के अन्दर विकेशिका (Gauze) को रखने से पूतिमांसयुक्त, कोटरयुक्त, नाडीयुक्त और अन्तः पूय वाले व्रण शीघ्र ही शुद्ध हो जाते हैं ।

विद्रधि की आभ्यन्तर चिकित्सा में भिन्न २ द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है जिनका मुख्य उद्देश्य विद्रधि को पाकारम्भ से पूर्व ही शान्त कर देना है अथवा व्रण के शोधन और रोपण में सहायता करना है । एतदर्थ वरुणादिगण क्वाथ, मधुशिग्रु का पान-भोजनादि में उपयोग, द्राक्षाद्य घृत का पान और निरूहण तथा स्नेहन बस्तियों का विधान है ।

सम्प्रति विद्रधि तथा व्रणोत्पादन होने पर स्थानिक तथा आभ्यन्तर प्रयोग के लिये पेनिसिलीन तथा सल्फा-औषधियों के विविध योगों का नाना प्रकार से उपयोग होता है । स्थानिक चिकित्सा के लिये विद्रधि के विदीर्ण हो जाने पर एक्रिफ्लेवीन घोल, एक्रिफ्लेवीन गिलसरीन, मरक्यूरोक्रोम इन स्पिरिट मत्स्य तैल, मैगसल्फपेस्ट आदि का भी भिन्न २ अवस्थाओं में प्रयोग होता है ।

आभ्यन्तर विद्रधि (Internal abscess.) में भी विद्रधि की

तरह ही चिकित्सा की जाती है और पकने पर भेदन कर शेष उपचार व्रणवत् होता है । पाचनार्थ वरुणादि कषाय अथवा मधुशिग्रु को प्रयुक्त करते हैं । यूष के लिये यव, कोल, कुलत्थ आदि उपयोगी होते हैं । यदि विद्रधि का विदरण स्वतः ही हो गया हो तो चिकित्सक केवल उपद्रवों की रक्षा करता हुआ दस–बारह दिन तक व्रणरोहण की प्रतीक्षा करे (दशाहं द्वादशाहं वा रक्षन् भिषगुपद्रवान्— वा. चि. १३)

आभ्यन्तर विद्रधि की सभी अवस्थाओं में गुग्गुलु और शिलाजतु को भिन्न २ कषायों के साथ सेवन करना उपयोगी होता है ।

आभ्यन्तर विद्रधि का पक जाना कृच्छ्रसाध्य या असाध्य अवस्था है । चिकित्सक को इसमें सिद्धि दैववशात् ही प्राप्त होती है (सिद्धिः पक्वेहि दैविकी—वा. चि. १३.)

विद्रधि के विदीर्ण हो जाने अथवा भेदन किये जाने के उपरान्त अर्थात् व्रण बन जाने पर उसकी दशा के अनुसार चिकित्सा की जाती है जिसका वर्णन व्रण की चिकित्सा के वर्णन प्रसंग में किया गया है । कुछ विद्रधियां जैसे–उत्तान (Superficial.) विद्रधियां, केवल एक ही कर्म 'भेदन' से ठीक हो जाती हैं किन्तु गम्भीर धातुओं में स्थित विद्रधियों के भली भान्ति रोहण के लिये 'विस्रावण' आदि अनेकों कर्म करने होते हैं जिनका निर्णय चिकित्सक स्वयं अनुभवादि के आधार पर करता है (कर्मणा कश्चिदेकेन द्वाभ्यां कश्चित्त्रिभिस्तथा । विकारः साध्यते कश्चित् चतुर्भिरपि कर्मभिः— सु. सू. २५–३४)

विद्रधि के अतिरिक्त वात, पित्त और कफज ग्रन्थियां; वात, पित्त और कफज विसर्प; विदारिका (क्षुद्र रोग), वृद्धि रोग, प्रमेह पिड़का, स्तन रोग, अवमन्थक (शूक रोग) अनुशयी (क्षुद्र रोग), नाडीव्रण दोनों प्रकार के वृन्दरोग (कण्ठ रोग), पुष्करिका और अलजी (शूक रोग), प्रपाकी रोग, अश्मरी आदि भी 'भेद्य' व्याधियां होती हैं क्योंकि उनमें भी 'भेदन' कर्म किया जाता है ।

निज, शारीर या दोषज व्रण

(ULCER.)

यथास्वै हेतुभिर्दुष्टा वातपित्तकफा नृणाम् ।
बहिर्मार्गं समाश्रित्य जनयन्ति निजान् व्रणान् ॥ च. चि. २५–१० ॥

अर्थात्— निज, शारीर या दोषज व्रण वे कहलाते हैं जो स्व-स्व हेतुओं से दुष्ट हुए वातादि दोषों से उत्पन्न होते हैं और बाहर की ओर को मार्ग बनाकर स्रवित होने लगते हैं।

संक्षेपतः व्रणशोथ और विद्रधि में पूयोत्पादन के पश्चात् होने वाला व्रण॰दोषज, शारीर या निज व्रण कहलाता है। इसके सोलह प्रकार होते हैं जिनमें से एक प्रकार 'शुद्धव्रण' है (दोषोपप्लव विशेषः पुनः समासतः पञ्चदश प्रकारः प्रसरण सामर्थ्यात्; यथोक्तो व्रण प्रश्नाधिकारे । शुद्धत्वात् षोडश प्रकार इत्येके — सु. चि. १) यदि धातु मल आदि के संसर्ग का परिगणन भी कर लिया जाय तो व्रण असंख्य प्रकार के होते हैं (विस्तरः पुनरेषां धातुमल संसर्ग जोऽपरिसंख्येयः— डल्लणः) यह षोडश प्रकारक व्रण त्वक्, मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि, संधि, कोष्ठ और मर्मनामक आठ व्रण वस्तुओं में उत्पन्न होता है (त्वङ् मास सिरा स्नायु–अस्थि संधि कोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रण वस्तूनि— सु. सू. २२–२)

शुद्ध व्रण के अतिरिक्त व्रण के पन्द्रह भेद इस प्रकार हैं :—

(१) वातज व्रण	(६) वातपित्तज व्रण	(११) श्लेष्म शोणितज व्रण
(२) पैत्तिक व्रण	(७) वातकफज व्रण	(१२) वातपित्त शोणितज व्रण
(३) श्लैष्मिक व्रण	(८) पित्तकफज व्रण	(१३) वातश्लेष्म शोणितज व्रण
(४) रक्तज व्रण	(९) वातरक्तज व्रण	(१४) श्लेष्मपित्त शोणितज व्रण
(५) सान्निपातिक व्रण	(१०) पित्तरक्तज व्रण	(१५) वात पित्त कफ रक्तज व्रण

व्रण के इन पन्द्रह भेदों के पृथक् २ लक्षण इस प्रकार हैं :—

(१) वातिक व्रण लक्षण※- वातिक व्रण में 'वेदना' विशेष प्रकार की होती है। सुश्रुत ने वेदना की विशेषता को प्रकट करने के लिये अनेकों शब्दों को प्रयुक्त किया है :—

तोदन (सूची वेधवत्पीड़ा) **भेदन** (त्वगादि के फटने की सी पीड़ा), **ताडन** (दण्डादि से आघात करने की सी वेदना), **छेदन** (काटने की सी पीड़ा), **आयमन** (बल पूर्वक विस्तृत करने सदृश पीड़ा), **मन्थन** (मथने की सी पीड़ा), **विक्षेपण** (प्रेर्यत इव–ड; फेंकने की सी पीड़ा), **चटपटायन** (चटचटादयो वेदना विशेषाः –ड.) । **चुमचुमायन** (सर्षप या

※ स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो मन्दस्रावोऽतितीव्ररुक् । तुद्यते स्फुटति श्यावो व्रणो मारुत संभवः —च. चि. २५ ॥

राई के कल्क लेप सदृश प्रतीति), **निर्दहन** (अग्नि से सम्पूर्ण शरीर के जलने जैसी पीड़ा), **अवभंजन** (चूर्ण कर देने सदृश वेदना), **स्फोटन** (पाषाणादि से कुचल जाने सी), **विदारण** (नखादिभिश्चीर्यते— ड. नाखून आदि से फाड़ने सदृश), **उत्पाटन** (उखाड़ फैंकने जैसी), **कम्पन** (झक झोर देने जैसी), **विश्लेषण** (पृथक् २ करने जैसी), **विकिरण** (खण्डशः विभक्त कर इधर उधर फैंकने जैसी), **पूरण** (किसी वस्तु को व्रण में ठूंसने जैसी), **स्तम्भन** (अकड़ाहट), **स्वप्न** (व्रण स्थान का अचेतन होना), **आयाम** (संकुचितांग देशस्य दीर्घीकरणम्–ड, अंग को फैलाने जैसी), **आकुन्चन** (संकुचित करने जैसी), और **अंकुशिका** अर्थात् अंकुश को चुभाकर खेंचने सदृश वेदनाएं वातिक व्रण में पायी जाती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी नाना प्रकार की वेदनाएं होती हैं जो विना किसी स्पष्ट निमित्त के और रुक २ कर होती हैं।

मर्मनासक अष्टम व्रण वस्तु के अतिरिक्त शेष सात त्वगादि व्रण वस्तुओं में वातिक व्रण उपस्थित हो तो उसमें से स्रवित होने वाला 'स्राव' निम्नलिखित प्रकार का होता है :—

त्वचा से पारुष्ययुक्त, मांस से श्याव (कृष्ण वर्ण), सिरा से अवश्याव (अल्प कृष्ण), स्नायु से दधिमस्तु* (मण्ड), अस्थि से क्षारोदक, संधि से मांस धावन और कोष्ठ⊕ से पुलाकोदक सदृश स्राव आता है।

वातिक व्रण का 'वर्ण' भस्म, कपोत, अस्थि, परुष, अरुण और कृष्ण होता है।

वेदना, स्राव और वर्ण के अतिरिक्त वातिक व्रण के निम्नलिखित लक्षण भी होते हैं :—

स्तब्ध, तनु (पतला) शीत तथा अल्पस्राव वाला, कठोर, स्फुरणयुक्त और निर्मांस (अल्प मांस) वाला होता है।

(२) पैत्तिक व्रण लक्षण— वातिक व्रण की तरह पैत्तिक व्रण में भी 'वेदना' विशेष प्रकार की होती है, जैसे :—

ओष (एकदेशोत्थ दाह), **चोष** (पार्श्वस्थितेन वह्निनोपतपनम्–ड, पास में रखी हुई आग जैसी जलन होना), **परिदाह** (सारे शरीर के दाह जैसी वेदना), **धूमायन** (धूमो द्वमन मिवांगानाम्– ड, कण्ठ से धूआं निका-

---

*दध्नोमण्डस्तु मस्त्विति—भावप्रकाशः।

⊕स्थानान्यामाग्नि पक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य तु। हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च 'कोष्ठ' इत्यभिधीयते— सु. चि. २।

लने जैसी प्रतीति अथवा व्रण से धूम्रां निकलना), अंगारावकीर्ण अंग (अंग-का अंगारों से ढका होने जैसी वेदना), उष्णाभिवृद्धि और व्रण स्थान का क्षारावसिक्त (क्षारपातन), के सदृश वेदना युक्त प्रतीत होना।

पैत्तिक व्रण का 'वर्ण' नील, पीत, हरित, श्याव कृष्ण, रक्त, कपिल (कैला) और पिंगल (सुनहरी) होता है।

इससे होने वाला 'स्राव' गोमेद (कुछलाल) गोमूत्र, शंखभस्म, कषा-योदक (कषाय रसयुक्त द्रव्यों का क्वाथ) माध्वीक (मध्वासव) और तिल तैल सदृश होता है। ये सभी स्राव स्पर्श में उष्ण होते हैं।

वेदना, वर्ण और स्राव के अतिरिक्त पैत्तिक व्रण में निम्नलिखित लक्षण भी पाये जाते हैं :—

शीघ्र उत्पन्न होना (क्षिप्रज), पाक युक्त, पीत वर्ण की पिडकाओं से व्याप्त तथा रोगी तृष्णा, मोह और ज्वर से पीड़ित होता है*।

(३) श्लैष्मिक व्रण लक्षण— श्लैष्मिक व्रण में होने वाली 'वेदना' निम्नलिखित प्रकार की होती है, जैसे— कण्डू, गुरुत्व, सुप्तता (सुप्तत्वं नख मक्षिका मशकादि दंशवेदना ऽनभिज्ञत्वम्— ड.) उपदेह, अल्पवेदना, स्तम्भ और शैत्य की प्रतीति होना आदि।

श्लैष्मिक व्रण का 'वर्ण' श्वेत, स्निग्ध और पाण्डु होता है (श्वेतः स्निग्धः पाण्डुरिति श्लेष्मजस्य— सु. सू. २२)

इससे होने वाला 'स्राव' नवनीत, कसीस, मज्जा, तिलकल्क, नारियल का जल और सूअर की वसा सदृश होता है।

वेदना, वर्ण और स्राव के अतिरिक्त श्लैष्मिक व्रण में निम्नलिखित लक्षण भी पाये जाते हैं :—

बहुपिच्छ (लुआव) युक्त होना, चिरकारी, स्थूलौष्ठ, कठिनाकृति और सिरा-स्नायु जाल से युक्त होना आदि।

(४) रक्तज व्रण लक्षण— जो व्रण प्रवाल के ढेर के समान दिखाई दे (प्रवाल दल निचय प्रकाशः— सु.) कृष्ण वर्ण के स्फोट और पिडका समूह से व्याप्त हो, जिससे अस्तबल की तरह गन्ध आवे (तुरंग स्थान गन्धिः —सु.), वेदना युक्त, जिससे धूम्रां सा उठता हो (धूमायन शीलः प्रकर्षेण धूमोद्वमन मिव कर्तुं शीलः— ड.), रक्त स्रावी और पैत्तिक व्रण के लक्षणों से युक्त हो वह 'रक्तज व्रण' होता है।

---

*तृष्णा-मोह-ज्वर-क्लेद-दाह दुष्ट्य व दारणैः। व्रणं पित्तकृतं विद्यात् गन्धैः स्रावैश्च पूतिकैः— च. चि. २५॥

(५) सान्निपातिक व्रण लक्षण— इसमें सभी दोषों की 'वेदनाएं' उपस्थित होती हैं (यत्र सर्वासां वेदनानामुत्पत्ति स्तं सान्निपातिक मिति विद्यात्— सु. सू. २२) तथा 'वर्ण' भी सभी दोषों के वर्ण सदृश होता है (सर्व वर्णोपेत: सान्निपातिक इति–– सु०)

सान्निपातिक व्रण के 'स्राव' नारिकेलोदक, कैर्वारुक (ककडी) रस सदृश, काञ्जिक जल, यकृत् रस, मु द्गयूष आदि के समान होते हैं।

वस्तुतः सान्निपातिक व्रण की वेदना, वर्ण आदि नाना प्रकार के होते हैं (नाना वर्ण वेदना स्राव विशेषोपेत: पवनपित्त कफ शोणितेभ्यः - सु.चि. १) जिसका कारण विकृति विषम समवाय होता है (सन्निपातेनेह ये नारि केलादि वर्णा उक्ता स्ते विकृति विषम समवाय कृता ज्ञेयाः— चक्रपाणिः)

(६) वात-पित्त व्रण लक्षण—जो व्रण सूई चुभने की सी वेदना युक्त, दाह, धूम्रां उठता हुआ सा प्रतीत होना, पीत और अरुण वर्ण वाला तथा पीत और अरुण वर्ण के स्राव वाला हो उसको 'वात-पित्तज' जानना चाहिये–सु०।

(७) वात कफ व्रण लक्षण— जो व्रण कण्डू और सूई चुभने की सी वेदना वाला, रूक्ष, गुरु और कठिन हो तथा जिससे शीत-पिच्छिल एवं अल्प स्राव आता हो वह 'वात-कफ व्रण' कहलाता है— सु०।

(८) पित्त-कफ व्रण लक्षण — जो व्रण गुरु, दाह युक्त, उष्ण और पीले तथा पाण्डु वर्ण के स्राव वाला हो उसको 'पित्त-श्लेष्म वृण' कहते हैं–सु०

(९) वात-रक्त वृण लक्षण — जो व्रण रूक्ष, पतला, सूई चुभने की सी वेदना वाला, सुन्न.सा, रक्त और अरुण वर्ण वाला तथा रक्त और अरुण-वर्ण के स्राव वाला हो उसको 'वात रक्त वृण' जानना चाहिये— सु०।

(१०) पित्त रक्त वृण लक्षण— जो व्रण घृत मण्ड (घृतस्योपरि-स्थोऽच्छो भागो मण्डः— ड.) जैसा, मछली के धोये हुए जल के समान गन्ध वाला, मृदु, फैलने वाला तथा उष्ण और काले रंग के स्राव वाला हो वह 'पित्त-रक्त वृण' होता है— सु०।

(११) कफ-रक्त वृण लक्षण— जो व्रण रक्त वर्ण, गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल, कण्डूयुक्त, स्थिर (न फैलने वाला) तथा कुछ लाल और पाण्डु-वर्ण के स्राव वाला हो उसे 'कफ-रक्त वृण' जानना चाहिये— सु०।

(१२) वात-पित्त रक्त वृण लक्षण— जो व्रण फडकता सा, सूई चुभने की सी वेदना युक्त, जिससे धूम्रां उठता हुआ सा प्रतीत हो और जिससे पीला, पतला तथा रक्त वर्ण का स्राव आता हो वह 'वात-पित्त रक्त वृण' होता है— सु०।

(१३) वात-कफ रक्त वृण लक्षण— जो व्रण कण्डू, स्फुरण और चुमचुमाहट (राई का लेप करने जैसी) युक्त हो तथा जिससे पाण्डुवर्ण के और गाढे रुधिर का स्राव होता हो उसे 'वात-रक्त कफ वृण' जानना चाहिये–सु० ।

(१४) पित्त-कफ रक्त वृण लक्षण— जो व्रण दाह, पाक, लालिमा और कण्डूयुक्त हो तथा जिससे पाण्डुवर्ण और गाढे रुधिर का स्राव होता हो उसको 'पित्त-कफ रक्त वृण' जानना चाहिये ।

(१५) वात-पित्त कफ रक्त वृण लक्षण— जो व्रण विशेष जलन, मन्थन (मन्थानं विलोडन मिव–ड; मथनी से मथना), फडकना, तोद, दाह, पाक, लालिमा, कण्डू और स्वाप (सुन्नपन) से युक्त हो तथा जिसमें नाना वर्ण के स्राव और वर्ण–वेदना उपस्थित हों उसे 'वात-पित्त कफ रक्त वृण' जानना चाहिये— सु० ।

चरक में व्रण की इस प्रकार की अंशांश कल्पना न कर केवल भिन्न २ अवस्थाओं के आधार पर व्रण को बीस प्रकार* का वर्णित किया है (तौ द्वौ नानात्व भेदेन निरुक्ता विंशतिर्वृणाः— च. चि. २५–१७)

(१) कृत्य (छेदनादि के योग्य) (२) अकृत्य (केवल रोपणार्ह) (३) दुष्ट (४) अदुष्ट (शुद्ध) (५) संवृत (६) असंवृत (७) दारुण (८) अदारुण (९) स्रावी (१०) अस्रावी (११) सविष (१२) निर्विष (१३) विषमस्थित (१४) विषमास्थित (१५) उत्संगी⊕ (१६) अनुत्संगी (१७) उत्सन्न (१८) अनुत्सन्न (१९) मर्मस्थ (२०) अमर्मस्थ

---

*कृत्योऽकृत्यस्तथा दुष्टोऽदुष्टो मर्मस्थितो न च । संवृतो दारुणः स्रावी स विषो विषमस्थितः ।। उत्संग्युत्सन्न एषां च वृणान् विद्यात् विपर्ययात्— च. चि. २४–२० ।।

⊕उत्संगी य उत्क्लिष्टो वृणाद्वहिः संगं करोति पूयावकाशं स उत्संगी — चक्रपाणिः ।

शुद्ध व्रण

त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्तः श्यावौष्ठः पिडकी समः ॥
अवेदनो निरास्रावो व्रणः शुद्ध इहोच्यते ॥ सु. सू. २३ ॥

अर्थात्---जो व्रण वातादि तीनों दोषों के विकार से रहित (दोषैरिति दोषकार्यैः स्राववर्णादिभिः– चक्रपाणिः) किंचित्कृष्ण– पाण्डु वर्ण के ओष्ठों वाला, रोहणांकुरों से युक्त (पिडकाः व्रणौष्ठे अणुमांसांकुराः—ड.) समानतल वाला और अल्पवेदना तथा स्रावयुक्त हो वह 'शुद्ध' कहलाता है।

सुश्रुत ने व्रणचिकित्सा के प्रसंग में भी शुद्ध व्रण के लक्षणों का उल्लेख किया है जिसमें शुद्धव्रण को जिह्वातल सदृश, मृदु, स्निग्ध और श्लक्ष्ण बताया है* ।

जैसाकि व्रणशोथ के वर्णन स्थल पर स्पष्ट किया गया है, निज या शारीरव्रण के आरम्भ में दोष प्रकोप की प्रबलता के कारण व्रणशोथ पाकाभिमुख हो जाता है और विद्रधि निर्मित होकर तथा उसमें व्रणोत्पत्ति के उपरान्त दोषानुसार आकृति, गन्ध, वर्ण और स्राव उपस्थित होते हैं। दोषों के ये लक्षण जबतक उपस्थित होते हैं तबतक व्रणमें शुद्धता की अवस्था न आ सकने के कारण उसमें रोहण आरम्भ नहीं हो पाता। इसी हेतु शुद्धव्रण को "त्रिभिर्दोषैरनाक्रान्तः" कहा गया है (दोषशब्दोऽत्र दोषकार्येषु व्रणाकृतिगन्धवर्णस्राव वेदनासु वर्तते; तै र्दोषाकृतिगन्धादिभिरनाक्रान्तः–ड.) ।

शुद्धव्रण की श्यावौष्ठता (किंचित्कृष्णः किंचित् पाण्डुः–ड.) का कारण व्रणस्थान के रुधिर की निर्मलता (प्रसादाच्छशोणितत्वात्–ड.) होती है अथवा दुष्टव्रण को शुद्ध करने के लिये प्रयुक्त कषाय–परिषेक–अभ्यंग आदि के कारण व्रण स्थान का रंग कुछ कृष्ण और पाण्डु हो जाता है।

शुद्धव्रण "पिड़की" इस कारण से होता है कि उसमें व्रणसे उत्पन्न क्षति की पूर्ति के हेतु रोहणांकुर (Granulation tissue) उत्पन्न होने लगते हैं (व्रणरोहन्मांसाकुराः पिडकाः—चक्रपाणिः) इन मांसांकुरों में नवोत्पन्न केशिकाओं का बाहुल्य होता है। व्रण के रुह्यमाण पृष्ठ (Healing surface) पर ये अंकुर उत्तम शोणित संचार उपस्थित करते हैं। अन्त में इनके पृष्ठीय कोषाणुओं द्वारा ही क्षतांक (Scar) का कलेवर बनता है।

शुद्ध व्रण का 'सम' होना स्वाभाविक है क्योंकि विषमाकृति व्रण

---

*जिह्वातलाभो मृदुः स्निग्धः श्लक्ष्णो विगत वेदनः सुव्यवस्थितो निरास्रावश्चेति शुद्धोव्रण इति—सु. चि. १ ।

शुद्ध नहीं होता है। चरकोक्त शुद्ध व्रण के लक्षणों में उसे स्पष्ट ही 'उत्सन्न' और 'उत्संग' रहित होना बताया है (नातिरक्तो नातिपाण्डु र्नातिस्रावो नचातिरुक्। न चोत्सन्नो नचोत्संगी शुद्धो रोप्यः परं व्रणः—च. चि. २५) व्रण के शुद्ध होने के उपरान्त रोपण उपक्रम किया जाता है अतः इसे 'रोप्य' कहा गया है।

शुद्ध वृण में अल्प वेदना होती है, इसीसे चरक ने शुद्ध वृण को "नचातिरुक्" कहा है। सम्यक्रूढ वृण ही पूर्णतः वेदना रहित होता है। अतः 'अवेदन' से आशय 'अल्पवेदना' से है (अवेदन इति न विद्यते वातादीनां तोदादि वेदना यस्य स अवेदनः, सामान्य शुद्ध व्रण वेदना तु विद्यत एव—ड.)

इसी प्रकार 'निरास्राव' से भी यही अभिप्राय है कि शुद्ध वृण में प्रकुपित वातादि दोषों के स्राव नहीं होते हैं किन्तु सामान्य शुद्ध वृण के स्राव उपस्थित होते हैं (निरास्रावत्वं दोषकृतस्रावहीनत्वम्--श्रीकण्ठः*)।

शुद्ध वृण को रुह्यमाण वृण भी कहा है क्योंकि इसमें रोहण आरम्भ हो जाता है (स्थिराश्च पिडकावन्तो रोहतीति तमादिशेत्–माधवः)।

निजवृण की आकृतियां इस प्रकार हैं:—

तत्रायतश्चतुरस्रो वृत्तस्त्रिपुटक इति वृणाकृति समासः। शेषास्तु विकृताकृतयो दुरुपक्रमा भवन्ति--सु. सू. २२।

अर्थात्-- वृणों की दो प्रकार की आकृतियां होती हैं, (१) सूपक्रम वृणाकृतियां और (२) दुरुपक्रम वृणाकृतियां। जो वृण सूपक्रम अर्थात् सुचिकित्स्य होते हैं उनकी आकृतियां इस प्रकार की होती हैं:—

(१) आयत (दीर्घ-लंबा) (३) चतुरस्र (चतुष्कोण–चौकोना)
(२) वृत्त (वर्तुल–गोल) (४) त्रिपुटक (त्रिकोण–तिकोना)

दुरुपक्रम वृण की आकृतियां इस प्रकार हैं: --

(१) अर्धचन्द्र (२) स्वस्तिक (३) शक्ति (त्रिमुखी) (४) कुन्त (भाला) (५) ध्वज (६) रथ (७) वाजि (८) वारण (गज) (९) गौ (१०) वृष (११) प्रासाद आदि (शक्तिकुन्तध्वज रथा वाजिवारण गोवृषाः। येषु चाप्यवभासेरन् प्रासादाकृतयस्तथा—सु. सू. २८)

इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक विकृत-आकृतियों का वर्णन भिन्न २ प्रसंगों में उपलब्ध होता है। सुचिकित्स्य तथा दुश्चिकित्स्य वृणों की

*A sanious discharge is associated with oozing from granulation in a healing ulcer—L & B.

भिन्न २ आकृतियों को जानने का सुश्रुतानुसार भी यह लाभ है कि शल्यचिकित्सक मोहकोप्राप्त नहीं होता है और सफलता पूर्वक रोग निर्णय करने में समर्थ होता है (भिषक् वृणाकृतिज्ञोहि न मोहमधिगच्छति—सु. चि. २)

शुद्ध वृण तथा वृण की आकृतियां आदि को अवगत करने के लिये वृणोत्पादन (Ulceration) का पूर्ण जीवन-इतिवृत्त (Life history) जानना आवश्यक है।

वृणोत्पादन की तीन अवस्थाएं होती हैं:—

(१) प्रसरणावस्था (Extension)
(२) शुद्धावस्था (Transition)
(३) रोहणावस्था (Repair)

(१) प्रसरणावस्था में दोषप्रकोप प्रबल होता है और वृण में दुर्गन्धितस्राव, पूय तथा दुष्टरुधिर आदि व्याप्त होते हैं। इस अवस्था में वृणौष्ठ (Edges) स्पष्ट होते हैं। इन लक्षणों के आधार पर ही इसे 'दुष्टवृणावस्था' भी कहते हैं जिसका उल्लेख दुष्टवृण वर्णन के प्रसंग में किया गया है।

(२) शुद्धावस्था में वृण के अन्दर रोहण की तैयारी होने लगती है। वृणतल (Floor) का स्वच्छ होना और कोथयुक्त भाग का पृथक् होना आरम्भ हो जाता है। वृणतल की कठोरता (Induration) दूर होने लगती है और स्राव अपेक्षाकृत अधिक सरस (Serous) हो जाता है। वृणतल पर रक्तवर्ण के रोहणांकुर निर्मित होकर वृणपृष्ठ (Surface) को आच्छादित करने लगते हैं।

(३) रोहणावस्था को 'रूह्यमाणावस्था'* भी कहते हैं। इसमें रोहणांकुर सौत्रिक तन्तुओं में परिवर्तित होने लगते हैं जिससे व्रणवस्तु (Scar) बनती है। व्रणौष्ठ अधिक ढालदार (Shelving) हो जाते हैं और इनसे आच्छादक तन्तु फैल कर व्रणतल को आच्छादित करने लगते हैं। इसके तीन स्तर होते हैं, श्वेत वर्ण का बाह्य आच्छादक तन्तु स्तर, नीलाभ मध्य स्तर (कपोत वर्ण प्रतिमाः– सु.) और आभ्यन्तरतम रक्त वर्ण का रोहणांकुर स्तर। कभी २ रोहणांकुर अधिक मात्रा में बनने लगते हैं जिसे "मत्तामिष = Proud flesh." कहते हैं। इसकी चिकित्सार्थ 'अवसादन'⊕ उपक्रम किया जाता है।

---

* कपोत वर्ण प्रतिमा यस्यान्ताः क्लेद वर्जिताः। स्थिराश्च पिडकावन्तो रोहतीति तमादिशेत्— सु. सू. २३ ॥

⊕उत्सन्न मृदु मांसानां वृणानामवसादनम्— सु. चि. १।

वृणपरीक्षा–में निम्नलिखित विषयों को विशेषरूप से जानना चाहिये :—

(१) स्थान (Site.)—अति दुष्ट (Rodent.) व्रण मुख-मण्डल के ऊर्ध्व भाग में अधिकतर पाये जाते है, कारसीनोमा प्रायः अधरौष्ठ में होता है और प्राथमिक फिरंगज व्रण अधिकतर ऊर्ध्वौष्ठ में पाया जाता है।

(२) आकार (Size.)— अति दुष्ट व्रण की अपेक्षा कारसीनोमा अधिक शीघ्रता से फैलता है किन्तु वह भी शोथमय व्रण की अपेक्षा धीमे फैलता है।

(३) प्रकार (Shape)— कारसीनोमा की अपेक्षा अतिदुष्ट व्रण बड़े आकार का होने से पूर्ण गोल बना रहता है। फिरंगार्बुदीय (Gummatous) वृण विशेषरूप से गोल अथवा अनेकों वृणों के हो जाने से विषमरोही (Serpinginous.) होता है।
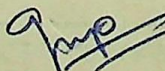
(४) व्रणौष्ठ (Edge.)— प्रदुष्ट वृण के प्रान्त निर्वतित (Everted– मुड़े हुए) होते हैं, आच्छादक तन्त्वर्बुद (Epithelioma.) में भी एसा होता है। यक्ष्म वृण के ओष्ठ अन्दर की ओर को होते हैं तथा रुह्यमाण (Healing.) वृण के ढालदार (Shelving.)

(५) व्रणतल (Floor.)—यक्ष्म वृण का तल नीलाभ या हरिताभ होता है। अंकुरमय वृणतल कोथ (Slough.) से आच्छादित भी हो सकता है।

(६) वृणाधार (Base.)— कारसीनोमा का आधार प्रसरशील होता है और सिराकौटिल्य वृण जंघास्थि (Tibia.) से संसक्त होता है।

(७) स्राव (Discharge.)— सपूय स्राव तीव्र संक्रामण का सूचक है। यक्ष्माणुजन्य स्राव जल बहुल (Watery.) होता है। पूयनिभ अल्प सशोणित स्राव रुह्यमाण वृण का स्वाभाविक स्राव है।

(८) लसिकाग्रन्थियां (Lymphnodes.)— प्रदुष्ट वृण में तब तक बढी हुई नहीं होती हैं जब तक उनमें द्वितीयक संक्रमण उपस्थित न हो। कारसीनोमा में ये बढ़ी हुई और कठोर हो सकती हैं, तथा प्रारम्भिक फिरंग में कठोर होती हैं।

दुष्ट व्रण

पूतिः पूयाति दुष्टासृक् स्राव्युत्संगी चिरस्थितिः।
दुष्टो व्रणोऽति गन्धादिः शुद्धलिंग विपर्ययः॥ मा. नि.॥

अर्थात्––दुर्गन्धित, पूययुक्त अतिदुष्ट रक्त स्रावी, कोटरवाला (उत्संगी कोटरवान्⊕–श्रीकण्ठः) चिरकाल तक रहने वाला, अतिगन्ध–अतिस्राव और अतिवेदना युक्त तथा शुद्ध व्रण के लक्षणों से विपरीत लक्षणों वाला व्रण 'दुष्टव्रण' कहलाता है।

सुश्रुत के वर्णनानुसार वह व्रण भी 'दुष्टव्रण' कहलाता है जो अतिसंकुचित मुखवाला (अतिसंवृत), अतिविस्तृत मुखवाला (अतिविवृत), अतिकठिन अतिमृदु, मांसरहित (अवसन्न) अतिशीत, अतिउष्ण, कृष्ण-पीत-शुक्ल में से किसी एक वर्णवाला, भयानक (भैरव), दुर्गन्धित पूय-मांस-सिरा-स्नायु आदि से भरा हुआ, दुर्गन्धित पूय स्रावी, टेढे मार्गवाला (उन्मार्गी), कोटरवाला (उत्संगी), अप्रिय दर्शन तथा गन्धवाला, अत्यन्त वेदना युक्त, दाह-पाक-राग-कण्डू-शोथ और पिडकादि उपद्रवों से युक्त (उपद्रुत), अतिदुष्ट रक्तस्रावी और दीर्घ कालानुबन्धी हो।

चरक ने निम्नलिखित लक्षणों के वाले व्रण को 'दुष्टव्रण' बताया है: बाहर से शुद्धव्रण सदृश दीखने वाला किन्तु भीतर से दोषपूर्ण और बार बार फूटने वाला (रोप्यव्रण*), कुम्भीफल सदृश मुखवाला। चरक ने दुष्टव्रण के बारह प्रकार भी उल्लिखित किये हैं जो इस प्रकार हैं:—

(१) श्वेत (५) अतिनील (९) अतिकृष्ण
(२) अवसन्नवर्त्मा (६) अतिश्याव (१०) अतिपूतिक
(३) अति स्थूलवर्त्मा (७) अतिपिडक (११) रोप्य
(४) अतिपिञ्जर (८) अतिरक्त (१२) कुम्भी मुख (च. चि. २४)

व्रणगन्ध—

चरक ने निम्नलिखित आठ प्रकार की व्रण की गन्धों का उल्लेख किया है जिसका कारण व्रण द्वारा भिन्न २ धातुओं का विकृत होना है:—

(१) घृत (२) तैल (३) वसा (४) पूय (५) रक्त (६) श्याव (७) अम्लगन्ध और (८) पूति (सड़े हुए पदार्थ) (सर्पिस्तैल वसा पूय रक्त श्यावाम्ल पूतिकाः। व्रणानां व्रणगन्धज्ञै रष्टौ गन्धाः प्रकीर्तिताः–च. चि. २५)

⊕उत्संगी = (Loculated), उत्संग = (Loculus; Pl. Loculi.)

*रोप्य लक्षणं तन्त्रान्तरादव गन्तव्यं; तथाहि भोजः—

"रूढा रूढाः प्रकुप्यन्ति सान्तर्दोषाः पुनः पुनः। वहिः शुद्धा इवाभान्ति रोप्यास्ते सम्प्रकीर्तिताः—" च. पा. द.। अर्बुद प्रकरण में इसका विशेष वर्णन है।
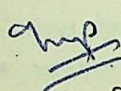
सुश्रुत ने वात से कटु, पित्तसे तीक्ष्ण और श्लेष्मा से विस्त्र (आम) गन्ध का उल्लेख किया है। रक्त विकार की प्रधानता हो तो लोहगन्ध और सन्निपात से सभी दोषों की गन्ध आती है। साधारणतः लाजा (खील), अतसी तैल सदृश और विस्त्रगन्ध को व्रण की सामान्यगन्ध माना जाता है।

व्रणस्राव—

चरक द्वारा वर्णित चौदह प्रकार के व्रणस्राव इस प्रकार हैं—

(१) लसिका (२) जल (३) पूय (४) असृक्(रक्त) (५) हरिद्रा-वर्ण (६) अरूण वर्ण (७) पिञ्जर (हरताल) वर्ण (८) कषाय सदृश (९) नीलवर्ण (१०) हरितवर्ण (११) स्निग्धवर्ण (१२) रूक्षवर्ण (१३) श्वेतवर्ण (१४) कृष्णवर्ण। (लसिका जलपूयासृक् हारिद्रारुणपिंजराः। कषाय नीलहरित स्निग्धरुक्षसितासिताः—च. चि. २५)।

व्रण के उपद्रव

विसर्पः पक्षघातश्च सिरास्तम्भोऽपतानकः।
मोहोन्माद व्रणरूजो ज्वरस्तृष्णा हनुग्रहः॥
कासश्छर्दि रतीसारो हिक्काश्वासः सवेपथुः।
षोडशो पद्रवाः प्रोक्ता व्रणानां व्रणचिन्तकैः॥ च. चि. २५॥

अर्थात्—व्रण के सोलह उपद्रव होते हैं जो इस प्रकार हैः—

(१) विसर्प	(५) मोह	(९) तृष्णा	(१३) अतिसार
(२) पक्षाघात	(६) उन्माद	(१०) हनुग्रह	(१४) हिक्का
(३) सिरास्तम्भ	(७) वेदना	(११) कास	(१५) श्वास
(४) अपतानक	(८) ज्वर	(१२) छर्दि	(१६) वेपथु

व्रण की आठ प्रकार की गन्ध, चौदह प्रकार के स्राव और सोलह प्रकार के उपद्रव संक्रमणग्रस्त व्रण में पाये जाते हैं जिसका कारण भिन्न भिन्न प्रकार के जीवाणु होते हैं। शरीर के भिन्न २ तन्तुओं के प्रति इन रोगोत्पादक जीवाणुओं की पूर्वाभिरुचि (Predilection) पृथक् २ होती है। स्टेफिलो कोकाई त्वचा और अस्थि, स्ट्रेप्टोकोकाई श्लैष्मिककला और न्यूमोकोकाई फुफ्फुस तथा उदरावरण कला को विशेष रुप से विकार ग्रस्त करते हैं। स्टेफिलोकोकाई, स्ट्रेप्टोकोकाई और न्यूमोकोकाई के अतिरिक्त नाईसीरिया गोनोरिया, स्यूडोमोनास पायोसाएनिया आदि भी प्रमुख पूयजनक जीवाणु हैं। व्रण संक्रमण का वर्णन इस प्रकार हैः—

व्रण संक्रमण

(WOUND INFECTION)

त्वचा की निरन्तरता के समाप्त होते ही जीवाणुओं का अन्तःस्थित तन्तुओं में प्रविष्ट हो जाना आसान हो जाता है। यदि तन्तु स्वस्थ और जीवाणु अल्प संख्या में हों तो वे बिना किसी प्रकार के शोथात्मक लक्षण उत्पन्न किये ही नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार का व्रण 'असंक्रमित' = (Sterile) कहलाता है। यदि जीवाणु संख्या में अधिक हैं, उनकी रोगकरक्षमता तीव्र है या तन्तुओं की प्रतिकार शक्ति अल्प है तो जीवाणुओं की वृद्धि होने लगती है और शोथ के लक्षण उपस्थित होते हैं। यह अवस्था 'व्रणसंक्रमण' या 'व्रणोपसर्ग' = (Wound Infection) कहलाती है। कुछ विशेष प्रकार के व्रण ऐसे भी होते हैं जिनमें जीवाणुओं की संख्या बढ़ी हुई होती है किन्तु शोथ के किसी प्रकार के चिह्न उपस्थित नहीं होते हैं। इस अवस्था को 'निभृत संक्रमण' = (Silent Infection) कहते हैं। अतः जीवाणुओं का व्रण में पाया जाना मात्र ही व्रणसंक्रमण का पुष्ट प्रमाण नहीं माना जाता है और इस अवस्था को 'व्रणदूषण' = (Wound Contamination) कहना अधिक उपयुक्त है।

इस प्रकार व्रण का संक्रमणग्रस्त होना दो तथ्यों पर निर्भर करता है: (१) संक्रमण करने वाले जीवाणुओं की संख्या और (२) संक्रमण के प्रति तन्तुओं की प्रतिरोध क्षमता। मधुमेह आदि कुछ विकारों में व्यक्ति की संक्रामक व्याधि के प्रति प्रतिरोधक्षमता न्यून हो जाती है*। अभिघात आदि में अल्पप्राण तन्तुओं तथा विजातीय द्रव्यों के अन्दर रह जाने से स्थानिक प्रतिरोधक्षमता अल्प हो जाती है। इस प्रकार यद्यपि सभी व्रणों का संक्रमण ग्रस्त होना संभव है तथापि मात्रा में अधिक और गम्भीर स्थित संक्रमण अधिक क्षतिग्रस्त तन्तुओं में अपेक्षाकृत अधिक होता है। शल्यकर्म में किये गये व्रणों के संक्रमण ग्रस्त होने की संभावना विसंक्रमणार्थ प्रयुक्त उपायों के कारण अल्पतम होती है किन्तु उपकरणों के भली भान्ति विसंक्रमित न होने पर इस प्रकार के व्रणों में भी संक्रमण हो सकता है।

व्रण संक्रमण के स्रोत (SOURCES):—

व्रण (आगन्तुज) की उत्पत्ति के तत्काल बाद ही कोई भी जीवाणु

*कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम्। व्रणाः कृच्छ्रेण सिध्यन्ति येषां चापि व्रणे व्रणाः—सु. सू. २३।

व्रण को दूषित कर सकता है। दुर्घटनाओं में हुये व्रणों में जिस पदार्थ से व्रण उत्पन्न होता है उसमें उपस्थित जीवाणु व्रण में संक्रमित हो जाते हैं किन्तु इससे भी अधिक रोगी के अपने ही वस्त्र आदि, धूल और गंदगी से व्रण में संक्रमण पहुंचाता है। इस प्रकार से उत्पन्न संक्रमण "अभिघातज संक्रमण" = (Infection of Injury) कहलाता है।

कभी २ रोगी के भिन्न २ अवयवों में स्थित जीवाणुओं द्वारा भी व्रण संक्रमित हो जाता है, जैसे—ऊर्ध्वश्वसन मार्गों (Upper Respiratory Passages) में स्थित स्ट्रेप्टोकोकाई, नासा और त्वचा में स्थित स्टेफिलो-कोकाई और अन्त्रस्थित कोलिफार्म (Coliform) जीवाणुओं (अन्त में गिनाये गये जीवाणुओं से नितम्ब तथा ऊरू के व्रण प्रायः संक्रमण ग्रस्त होते हैं) से भी व्रण विकार ग्रस्त हो जाते हैं। इसको "स्व-संक्रमण" = (Self Infection) कहते हैं। अभिघातज संक्रमण केवल एक बार—अभिघात काल में–ही होता है किन्तु स्व-संक्रमण व्रणरोहण होने तक होता ही रहता है।

दूषित विधियों द्वारा व्रणोपचार करने पर भी व्रण संक्रमण ग्रस्त हो जाते हैं जो "रुग्णालय संक्रमण" = (Hospital Infection) कहलाता है। संहिताकारों के अनुसार व्रणदूषण में मक्षिकाओं का भी प्रमुख स्थान है। उनके द्वारा व्रणमें लाये गये क्रिमियों के परिणाम स्वरुप नाना प्रकार की वेदना स्रावादि हो जाते हैं (अरक्षयाव्रणे यस्मिन् मक्षिका निक्षिपेत् क्रिमीन्। ते भक्षयन्तः कुर्वन्ति रुजा शोफास्र संस्रवान्—वा. सू. २९)।

व्रण के सोलह प्रकार के उपद्रवों में जिन रोगों या लक्षणों का उल्लेख किया गया है वे व्रणके उपरोक्त प्रकार से संक्रमण ग्रस्त हो जाने से होते हैं, जैसे—विसर्प* (Erysipelas) अपतानक (Tetanus) आदि। उपद्रवों में हनुग्रह (Lock Jaw) आदि कुछ ऐसी अवस्थाओं का उल्लेख भी किया गया है जो स्वतन्त्र रोग न होकर कुछ रोगों के लक्षण मात्र हैं जिनका कारण व्रण का भिन्न २ प्रकार के जीवाणुओं से संक्रमण ग्रस्त होना है। विसर्प अपतानक आदि का स्वतन्त्र रूप से पृथक् ही वर्णन किया गया है।

व्रण की साध्यासाध्यता:-

निम्नलिखित व्रण सुखसाध्य होते हैं :—

त्वङ्मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रवः।
धीमतोऽभिनवः काले सुखसाध्यो व्रणः स्मृतः॥ च. चि. २४–३६॥

---

*आमछेदे सिरास्नायु व्यापदोऽसृगतिस्रुतिः। रुजोऽतिवृद्धिर्दरणं विसर्पो वाक्षतोद्भवः—वा. सू. २९।

अर्थात्—वह व्रण सुखसाध्य कहलाता है जोः— (१) "त्वङ्मांसजः" अर्थात्–त्वचा और मांस में स्थित व्रण सुखसाध्य होता है क्योंकि इसमें रोहण सुगमता से होने लगता है और व्रण भी प्रायः गंभीर नहीं होता है (आद्यैकवस्तु सन्निवेशी त्वग्भेदी व्रणः सूपचारः—सु. सू. २२)।

(२) "सुखेदेशे*" अर्थात्–व्रण का शरीर के ऐसे देश में होना जहां औषधादि उपचार और बन्धन कर्म में सुविधा हो तथा रोहण की दृष्टि से भी जिस स्थान की धातुओं में पुनर्जनन की क्षमता पर्याप्त हो। सुश्रुत ने निम्नलिखित स्थानों के व्रणों को "सुखरोपणीय" कहा है।

"नितम्ब, गुदा, लिंग, ललाट, कपोल, ओष्ठ, पृष्ठ, कर्ण, अण्डकोष, उदर, ग्रीवामूल और मुख के भीतर हुए व्रण बिना किसी कष्ट के भर जाते हैं – सु. सू. २३"।

(३) "तरुणस्य" अर्थात्–तीस वर्ष की आयु तक शरीर में नवीन धातुओं की वृद्धि होती रहने से (आत्रिंशतो यौवनम्– सु. सू. ३५; यौवने मनाक् वर्धमानता–च. पा.) व्रण रोहण सुगमता से होता है। इसी हेतु सुश्रुत ने "वयःस्थानां दृढानां प्राणवतां सत्ववतांच सुचिकित्स्या व्रणाः–सु. सू. २३" लिखा है जिसका अभिप्राय इस प्रकार हैः—

अर्थात्–वयःस्थ, दृढ़, प्राणवान् और सत्ववान् व्यक्तियों के व्रण सुचिकित्स्य होते हैं। वयःस्थ (तरुण) व्यक्तियों की धातुएं प्रत्यग्र अर्थात् नूतन होती हैं; दृढ़ व्यक्तियों की सिरा स्नाय्वादि मजबूत होने से शस्त्रादि से सुरक्षित रहती हैं और पूय आदि से भी अधिक विकृत नहीं होती हैं; प्राणवान् व्यक्तियों को वेदना, अभिघात, आहार–यन्त्रणा आदि से कोई विशेष ग्लानि नहीं होती हैं और सत्ववान् व्यक्ति चिकित्सा में प्रयुक्त दारुण प्रक्रिया को भी जितेन्द्रिय होने से सहन कर लेता है। उपरोक्त इन चारों गुणों में से एक की उपस्थिति से व्रण सुखसाध्य, दो और तीन की उपस्थिति से सुखसाध्यतर और चारों की उपस्थिति से सुखसाध्यतम होता है।

व्रणित व्यक्ति के लिये कतिपय विशेष प्रकार के नियम बताये गये हैं जिनके उल्लेख के लिये सुश्रुत ने "व्रणितोपासन" नामक अध्याय की पृथक् ही रचना की है। इन नियमों के पालने के अतिरिक्त व्रणित व्यक्ति को चिकित्सा के लिये आवश्यकतानुसार अन्य भी अनेक प्रक्रियाओं में से गुजरना

*सुखे देशे यत्र क्लेशातिशयो न स्यात् औषधदानादिषु च सुखं-स्यात्—(ग)।

पड़ता है, जैसे – क्षारकर्म, अग्निकर्म, शस्त्रपातन आदि। इनको सहन करने में जितेन्द्रिय होने से सत्ववान् व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ, राजस प्रकृति वाला मध्यम और तामस प्रकृति वाला असमर्थ होता है (सत्ववान् सहते सर्वं संस्तभ्यात्मानमात्मना। राजसः स्तभ्यमानोऽन्यैः सहते नैवतामसः—सु. सू. ३५)

(४) "अनुपद्रव" अर्थात्–पूर्वोक्त सोलह प्रकार के उपद्रवों से रहित व्रण सुखसाध्य होता है। उपद्रवों की उपस्थिति में स्वस्थ धातुएं और रोगी का साधारण स्वास्थ्य भी विगड़ा हुआ होता है तथा रोहणांकुर भी ऐसी अवस्था में निर्मित नहीं हो पाते।

(५) "धीमतः" (क्रिया करणे पथ्यसेवायां च रतस्य – ग.) अर्थात् ऐसे व्यक्तियों के व्रण भी सुखसाध्य होते हैं जो चिकित्सक के आदेशों को पालना अपना कर्तव्य समझते हैं और पथ्य आदि का निर्देशानुसार यथाविधि सेवन करते रहते हैं। इसी हेतु चिकित्सा के चार पादों में से एक पाद उस रोगी को बताया है जिसमें 'आस्तिक' और 'वैद्यवाक्यस्थ' ये गुण हों (आस्तिकत्वेन वैद्योपदेशादौ श्रद्धावत्वं दर्श्यते–चक्रपाणिः)

(६) "अभिनवः" अर्थात्–व्रण जीर्ण (चिरकालीन) नहीं होना चाहिये। जीर्ण व्रणों की समीपस्थ धातुएं भी अत्यधिक विकृत हुई होती हैं इस कारण से जब तक इस अवस्था का उपचार न कर लिया जाये तब तक व्रणरोहण नहीं हो पाता। नवीन व्रण सीमित होता है तथा इसका नियन्त्रण आसान होता है (परिसम्वत्सरोत्थितांश्च विकारान् प्रायशोवर्जयेत्—सु. सू. १०)।

(७) "काले" (हेमन्त शिशिरयोः–ग.) अर्थात्–सुगमता से व्रण के रोहण होने की दृष्टि से हेमन्त और शिशिर ऋतु उपयुक्त काल होता है। इस काल में दक्षिणायन और उत्तरायण दोनों अयनों का प्रभाव अल्प होता है।

वाग्भट ने उत्तम कायाग्नि वाले व्यक्ति के और दीर्घ, वृत्त, त्रिपुट तथा चतुरस्र आकृति वाले व्रण को भी सुखसाध्य बताया है। अष्टांग संग्रह कारने आत्मवान् व्यक्ति के व्रण को सुखसाध्य इस हेतु बताया है कि ऐसे व्यक्तियों की कायाग्नि नियमित आहार–विहार के कारण स्वस्थ बनी रहती है (आत्मवतां सुनियमिताहार विहारादिभिः उपदेशै र्नान्यथा भवति दीप्ताग्निनाम प्रक्लिन्त देहत्वात् – अ. सं. उ. २९) रोगी में स्वस्थ होने की आशावादिता भी व्रण रोपक होती है (आशावान् व्याधिमोक्षाय शीघ्रं व्रणं मपोहति—वा. सू. २९)।

किन्तु निम्नलिखित अवस्थाओं की उपस्थिति में साध्यव्रण भी रोहित नहीं हो पाते अथवा कृच्छ्रसाध्य होते हैं:—

स्नायुओं का अधिक आर्द्रहोना (स्नायुक्लेदम्), सिराओं के छिन्न–भिन्न होने पर (सिराक्लेदात्), व्रण का गम्भीरस्थ धातुओं में स्थित होना (गाम्भीर्यात्), क्रिमियों द्वारा व्रण का खाये जाने पर (क्रिमिभक्षणात्), अस्थिभग्न से उत्पन्न व्रण (सव्रणभग्न=Open Fracture), सशल्यव्रण, विषयुक्तव्रण, धातुवर्धक आहार की अनुपस्थिति (अपतर्पणात्), भली प्रकार उपचार न करना (अतर्कितात्–वा.) नाखून लगने से उत्पन्न (नखवाधात्) काष्ठ लगने से उत्पन्न (काष्ठवाधात्), मर्मस्थ, बाल के खेंचने से उत्पन्न (रोमावघट्टनात्), मिथ्याबन्ध, अतिस्नेहन, औषधियों द्वारा शरीर का कर्षण होने पर (अति भैषज्यकर्षणात्), अजीर्ण, अतिभोजन, विरुद्ध भोजन, असात्म्य भोजन, शोक, क्रोध, दिवास्वप्न, रात्रिजागरण, मैथुन, व्रण में क्षोभ उत्पन्न करने वाले कार्य करना (क्षोभणात्), व्यायाम, मद्यपान, कोष्ठशुद्ध न होने पर और चिकित्सा न कराने पर (व्रणा न प्रशमंयान्ति निष्क्रियत्वाच्चदेहिनाम्—च. चि. २५)

दुश्चिकित्स्य व्रण वे होते हैं जिनमें सुखसाध्य व्रण के लक्षणों से विपरीत लक्षण उपस्थित हों। दुश्चिकित्स्यव्रण प्रायः वृद्ध, दुर्बल, अल्पप्राण और भीरु व्यक्तियों में पाये जाते हैं (त एव विपरीतगुणाः वृद्धकृशाल्पप्राणभीरुषु द्रष्टव्याः—सु. सू. २३)

निम्नलिखित वृण भी बड़ी कठिनाई से भरते हैं:—

कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम्।
व्रणाः कृच्छ्रेणसिद्ध्यन्ति येषांचापि व्रणे व्रणाः॥ सु. सू. २३–७॥

अर्थात्—कुष्ठ, विष, शोष तथा मधुमेह से उत्पन्न वृण और वे वृण जो पूर्वस्थित वृण में ही उत्पन्न होते हैं, जैसाकि यक्ष्मजन्य वृणों में देखा जाता है; कृच्छ्रता से ठीक होते हैं।

उपरोक्त कुष्ठादि विकारों में शरीर की पोषक धातुओं का ह्रास होता रहता है जिससे वृण में रोहण धातु नहीं बन पाती है अथवा अल्प मात्रा में बनती है जिसके परिणाम स्वरुप व्रण दुश्चिकित्स्य होते हैं।

नेत्र, दन्त, अपांग (Canthus), कर्ण, नाभि, उदर, सेवनी (Raphe) नितम्ब, पार्श्व, कुक्षि, वक्षःस्थल, कक्षा, स्तन और संधिगत वृण भी सफेन पूय, रक्त और शल्यगर्भ होने पर दुश्चिकित्स्य होते हैं। त्वक् और

मांस के अतिरिक्त शेष छः वृण वस्तुओं में होने वाले तथा स्वतः विदीर्ण होने वाले वृण भी दुरुपचार होते हैं (शेषाः स्वयमवदीर्यमाणा दुरुपचाराः— सु. सू. २२)।

ऐसे वृण जो अधोभाग में स्थित हों किन्तु जिनका मुख ऊपर की ओर को हो वे भी कृच्छ्रसाध्य होते हैं (अधोभागा श्चोर्ध्वभाग निर्वाहिण इति अधोभागगता ये व्रणास्ते यदा ऊर्ध्वमुखा भवन्ति तदोर्ध्वभागनिर्वाहिण उच्यन्ते–ड.)। रोमान्त (बालतोड़), नख समीपस्थ, मर्मस्थ और जंघास्थि (गुल्फजान्वन्तरास्थि–ड.) के व्रण भी दुश्चिकित्स्य होते हैं। सेवनी तथा कुटकास्थि (Lumber Vertebrae) का अन्तर्मुख भगंदर भी दुःसाध्य होता है—सु.।

परिस्राव, गन्ध, उपद्रव और बहुदोष के कारण भी वृण में कृच्छ्रसाध्यता आती है—च. चि. २४*।

याप्य⊕ वे व्रण होते हैं जो अवपाटिका (Tear in Prepuce), निरुद्ध प्रकश (Phimosis), सन्निरुद्धगुद (Stricture of the Rectum) और उदर रोग से उत्पन्न होते हैं। ग्रन्थि, क्षत, प्रतिष्यय तथा कुष्ठजन्य और प्रमेह पीड़ित व्यक्तियों के त्वग्वृणों में जब कृमियां उत्पन्न हो जाती हैं तो वे भी याप्य हो जाते हैं।

इसी प्रकार शर्करा, सिकतामेह, वातकुण्डलिका, अष्ठीला, दन्तशर्करा, उपकुश (दन्तरोग) कण्ठशालूक, विषाक्त वृक्ष की दातुन से दूषित मसूड़े (निष्कोषणदूषिता दन्तवेष्टाः; निष्कोषणः सविषो दन्तरंजनार्थं शाणोऽभिधीयते—च. पा.), विसर्प, अस्थिक्षत, उरःक्षत और वृणग्रन्थि के वृण भी याप्य होते हैं।

उपरोक्त अवपाटिका आदि में उपस्थित वृण याप्य होते हैं किन्तु इन रोगों की साध्यासाध्यता पृथक् ही है (अत्रावपाटिकादौ ये वृणाः सन्ति ते वृणा एव याप्याः, ये च व्याधयः तेषु व्याधिषु सत्सु ये वृणा स्ते याप्या इत्यभिप्रायः—ड.)।

---

*परिस्रावाच्च गन्धाच्च दोषाच्चोपद्रवैः सह। वृणानां बहुदोषाणां कृच्छ्रत्वं चोपजायते—च. चि. २५–३५।

⊕यापनीयं विजानीयात्क्रिया धारयते तु यम्। क्रियायांतु निवृत्तायां सद्य एव विनश्यति। प्राप्ता क्रिया धारयति याप्यव्याधितमातुरम्। प्रपतिष्यदिवागारं विष्कंभः साधुयोजितः॥ सु. सू. २३॥

असाध्यव्रण का निर्णय गन्ध, दोष, स्पर्श, आकृति, वेदना, शब्द और स्राव आदि की विविधता के अनुसार किया जाता है जो इस प्रकार हैं: —

वृण की सामान्य गन्धों का जो पूर्व उल्लेख किया गया है उससे विपरीत गन्धों वाले वृण असाध्य होते हैं। ये विपरीत गन्धें निम्नलिखित हैं।

मद्य, अगुरु, घृत, पुष्प, पद्म, चन्दन, चम्पक आदि के समान गन्ध वाले वृण मुमूर्षु व्यक्तियों के होते हैं।

श्वा (कुत्ता), घोड़ा, चूहा, कौआ, शुष्कमांस और मत्कुण (खटमल), के सदृश गन्ध वाले तथा पंक (कीचड़) एवं भूमि के सदृश गन्ध वाले वृण भी असाध्य होते हैं।

वे वृण भी असाध्य होते हैं जो दोषों के विकृतिविषमसमवेत लक्षणों से युक्त होते हैं, जैसे—वातप्रधान वृण में वेदना का सर्वथा अनुपस्थित होना, पित्त प्रधान व्रण में दाह–चोषादि का नितान्त अभाव होना और इसी प्रकार श्लेश्म प्रधान व्रण में दाह, वेदनादि कफेतर दोषों के प्रमुख लक्षणों का उपस्थित होना व्रण की असाध्यता का सूचक होता है।

स्पर्श से भी व्रण की असाध्यता का ज्ञान होता है, जैसे—ऐसे व्रण जो अन्दर से दाहयुक्त हों किन्तु बाहर से शीतल हों और इसी प्रकार जो व्रण बाहर से दाहयुक्त और अन्दर से शीतल हों वे भी असाध्य होते हैं।

जिन आकृतियों वाले व्रण असाध्य होते हैं उनका वर्णन निज व्रण की आकृतियों के प्रसंग में किया गया है।

वेदना के अनुसार भी व्रण की असाध्यता पायी जाती है। जो व्रण मर्मस्थान पर न होने पर भी तीव्र वेदनायुक्त होते हैं वे असाध्य होते हैं (ये च मर्मस्वसंभूता भवन्त्यत्यर्थं वेदनाः—सु.)

शब्द के अनुसार व्रण की असाध्यता इस प्रकार है:—

खट–खट, घुर–घुर आदि शब्द युक्त, ज्वलनशील तथा सशब्द वायु का त्याग करने वाले व्रण भी असाध्य होते हैं। बी. वैलची (B. Welchi) विब्रिओ सैप्टिक (Vibrio Septic.) आदि जीवाणुओं द्वारा संक्रमण ग्रस्त व्रणों में भी उपरोक्त प्रकार के शब्द पाये जाते हैं। अथवा कृकाटिका के छिन्न होने पर होने वाले व्रण भी वायु का त्याग करते हैं (कृकाटिकायां छिन्नायां गच्छत्यपि समीरणे–वा.) निम्नलिखित स्राव यदि शारीरिक व्रण में उपस्थित हों तो वह असाध्य होता है:—

(१) वसा (२) मेद (३) मज्जा और (४) मस्तुलुंग (घृतिका= Dura Mater)

वे सभी व्रण चिकित्सा की दृष्टि से त्याज्य हैं जिनमें उपयुक्त उपचार से भी सफलता प्राप्त न हो (क्रियाभिः सम्यगारब्धा न च सिद्ध्यन्ति ये व्रणाः वर्जयेदपितान् वैद्यः संरक्षन्नात्मनो यशः —सु.)

प्राणक्षय (शक्तिक्षय), मांसक्षय, श्वास, कास और अरोचक से पीड़ित व्यक्ति के मर्म में स्थित व्रण से यदि तीव्रपूय और रुधिरस्राव हो रहा हो तो वह भी असाध्य होता है।

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित लक्षणों वाले व्रण भी असाध्य होते हैं:—

"मांसपिण्ड की तरह ऊंचा उठा हुआ (मांसपिण्डवत्उद्गताः), बहुत बहने वाला (प्रसेकी), सपूय और वेदनाबहुल, अश्वगुद की तरह उठे हुये किनारों वाला (अश्वापानवद् उद्वृत्तौष्ठाः), कठोर तथा गाय के सींगों की तरह ऊपर को उठे हुये मृदुमांसांकुरों वाला, पतले–शीत–पिच्छिल और दुष्ट-रुधिर स्राव वाला एवं मध्य से उन्नत, गहरे और सुषिर प्रान्तो वाला, शणसूत्र सदृश तन्तु जाल से व्याप्त, दुर्दर्शन (दुष्ट आकृति वाला), कोष्ठस्थ वह व्रण जिसमें से पीत तथा असित (कृष्ण) वर्ण का स्राव और मूत्र–पुरीष आरहे हों अथवा जिसके दोनों (बाह्य और आभ्यन्तर) मुखों से पूय–रक्त का स्राव आता हो, रोगी क्षीण मांस हो किन्तु व्रण अनेकों पूय मार्गों वाला हो (सर्वतो गतयः), अणुमुख और मांस बुद्बुद वाला, शिर और कण्ठ के वे व्रण जिन से सशब्द वायु आती हो, शिरः कपाल के भिन्न होने पर मस्तुलुंग दिखाई देता हो और श्वास–कास के साथ २ तीनों दोषों के लक्षण भी उपस्थित हों तो ऐसे व्रण असाध्य होते हैं"—सु.।

चिकित्सा न कराने वाले व्यक्तियों के साध्यव्रण याप्य और याप्य व्रण असाध्य हो जाते हैं; इस प्रकार सामान्य व्रण का भी प्राणहर होना सम्भव है (साध्या याप्यत्व मायान्ति याप्याश्चासाध्यतां तथा। घ्नन्ति प्राणानसाध्यास्तु नराणामक्रियावताम्—सु. सू. २३)

व्रणग्रन्थिः—

ताजा भरा हुआ (सद्योरूढ) या रोहण रहित (अरूढ) व्रण वाला व्यक्ति यदि पथ्य सेवन न करे अथवा आर्द्रव्रण को बान्धा न जाय या व्रण पर आघात हो तो वायु उस स्थान के रुधिर को सुखाकर कण्डू और दाहयुक्त उत्सेध कर देती है; उसे "व्रणग्रन्थि" कहते हैं (कुर्यात्सदाहः कण्डूमान् व्रणग्रन्थिरयं स्मृतः—वा. उ. २९)

वृण निर्णायक कोष्ठक (१)

शारीरवृण का प्रकार Type of Ulcer	रुह्यमाण Healing	दुर्बल Weak	दुष्टव्रण Callous	क्षुब्धवृण Irritable
व्रणपृष्ठ Surface	श्लक्ष्ण और रुह्यमाण Smooth and Healing	उठा हुआ और दुर्बल रोहणांकुर Raised and Flabby Granulations	रोहणांकुर अनुपस्थि या पीत और विकृत निर्माण Granulations absent, or pale and illformed	रक्ताधिक्य युक्त लाल, रोहणांकुर रहित Congested, red, no granulation
व्रणौष्ठ Edges	श्लक्ष्ण और सम Smooth and Regular	श्लक्ष्ण और स्वस्थ Smooth and Healthy	उठे हुए, दृढ, कठोर, घन, श्वेत Raised, firm hard, dense, white	श्याव, विषम Dark red, Irregular
पार्श्वप्रदेश Surroundings	स्वस्थ Healthy	साधारणतः स्वस्थ Usually Healthy	रंजित, कठोर, पामा सदृश Pigmented, indurated, eczematous	साधारण, यत्र-तत्र स्पर्शासहिष्णु Normal tender spots
व्रणस्राव Discharge	मनोज्ञ पूय या रक्तवारि Sweet Pus or Serum	वारिमय, प्रचुर Watery, Copious	स्वल्प, दुर्गन्धित Scanty, offensive	स्वल्प, तनु, सरस Scanty, thin, serous
वेदना Pain	अनुपस्थित Absent	अनुपस्थित Absent	विशेष नहीं Inconsiderable	तीव्र Intense
क्षतांक Cicatrization	पूर्णगोल All Round	अनुपस्थित None	अनुपस्थित None	अनुपस्थित None
चिकित्सा Treatment	विश्राम, स्वच्छता त्वक्-संधान Rest, cleanliness, skin-grafting	निदान परिवर्जन उत्सादन, उत्तेजक घोल या क्षार Removal of causes, elevation, stimulating, lotions or caustics	विश्राम, उत्सादन कृमिहर मलहर, छेदन (excision) त्वक्-संधान, अंगकल्पन, Amputation	साधारण स्वास्थ्य सुधारना, अहिफेनयोग (Opiates) क्षार का स्थानिक प्रयोग, नाडी को काटना

व्रण निर्णायक कोष्ठक (२)

शारीर व्रण का प्रकार Type of Ulcer	सशोथ व्रण Inflamed	फिरंगीय Syphilitic	यक्ष्मजन्य Tubercular
व्रणपृष्ठ Surface	कोथ युक्त, विषम, रोहणांकुर रहित Sloughing, Irregular, no granulations	गोल या विषम Circular or Irregular	पाण्डु, अस्वस्थ, रोहणांकुर Pale, unhealthy granulations
व्रणौष्ठ Edges	तीक्ष्णाग्र, बाहर को मुड़े हुए, विषम Sharp, turned outwards, irregular	ढलानदार, कटे हुए किनारे, हल्के लाल Steep and sharp cut, dull red	पाण्डु, नीलाभ, तनु Pale, bluish, thin
पार्श्व प्रदेश Surroundings	धूमिल, उभरे हुए, सशोथ, त्वचा-मांसल Dusky, swollen, inflamed, skin brawny	श्लक्ष्ण, चमकीला, रंजित Smooth, glistening, pigmented	बढी हुई लसिका ग्रन्थियां, वैंगनी Enlarged glands, purplish
व्रणस्राव Discharge	सरस, सरक्त, उग्रगन्धी Serous, bloody putrid	विनाशशील तन्तुयुक्त Breaking down debris	तनु, पीताभहरित Thin, yellowish green
वेदना Pain	तीव्र, शारीर-ज्वर Severe constitutional fever	अनुपस्थित None	अनुपस्थित None
क्षतांक Cicatrization	अनुपस्थित None	प्रायः केन्द्र में निर्मित Often in center	अनुपस्थित None
चिकित्सा Treatment	विश्राम, उत्सादन, मार्दवकर औषध प्रयोग, शारीर-चिकित्सा Elevation soothing applications	पारदादि फिरंग चिकित्सा	लेखन, आयडोफार्म, बल्यौषध

दोषज व्रण चिकित्सा

षण्मूलोऽष्टपरिग्राही पंचलक्षणलक्षितः ।।
षष्ट्युपक्रमनिर्दिष्ट श्चतुर्भिः साध्यते व्रणः ।। सु. चि. १–१४७ ।।*

अर्थात् – व्रण जिसके छः मूल (षण्मूलः) अष्ट परिग्रह–अधिष्ठान (अष्टपरिग्राही) और पांच लक्षण होते हैं (पंचलक्षण लक्षितः) उसकी चिकित्सक, रोगी, परिचारक और औषध के परस्पर सहयोग से (चतुर्भिः) साठ उपक्रमों द्वारा (षष्ट्युपक्रमनिर्दिष्टः) चिकित्सा की जाती है।

व्रण के मूल कारण (१) वात (२) पित्त (३) कफ (४) सन्निपात (५) रक्त और (६) आगन्तुज भेद से छः होते हैं और इसके आठ आश्रय (अधिष्ठान) (१) त्वक् (२) मांस (३) सिरा (४) स्नायु (५) अस्थि (६) सन्धि (७) कोष्ठ और (८) मर्म हैं। जिन लक्षणों से व्रण लक्षित होता है वे (१) वात (२) पित्त (३) कफ (४) सन्निपात और (५) आगन्तुज भेद से पांच प्रकार के हैं। रक्त के लक्षणों का समावेश पित्त के लक्षणों में किया गया है। अथवा (१) गन्ध (२) वर्ण (३) स्पर्श (४) स्राव और (५) वेदना से व्रण को जाना जाता है। व्रण चिकित्सा में प्रयुक्त साठ उपक्रम इस प्रकार हैं (तत्र व्रणस्य षष्टि रुपक्रमा भवन्ति–सु. चि. १) :—

(१) अपतर्पण (२) आलेप (३) परिषेक (४) अभ्यंग
(५) स्वेदन (६) विम्लापन (७) उपनाहन (८) पाचन
(९) विस्रावण (१०) स्नेहन (११) वमन (१२) विरेचन
(१३) छेदन (१४) भेदन (१५) दारण (१६) लेखन
(१७) एषण (१८) आहरण (१९) व्यधन (२०) स्रावण
(२१) सीवन (२२) संधान (२३) पीड़न (२४) शोणित स्थापन
(२५) निर्वापण (२६) उत्कारिका (२७) कषाय (२८) वर्ति
(२९) कल्क (३०) सर्पिः (३१) तैल (३२) रसक्रिया
(३३) अवचूर्णन (३४) व्रणधूपन (३५) उत्सादन (३६) अवसादन

---

*षण्मूलः, वातपित्त कफ शोणित सन्निपातागन्तवः षडेव मूलं कारणानि यस्य सः–ड., अष्टपरिग्राही, परिग्रहोऽधिष्ठानम्, आश्रय; त्वङ् मांससिरा स्नायु सन्ध्यस्थि कोष्ठ मर्माणीत्यष्टौ व्रणवस्तूनि परिगृह्णातीति–ड.। पंचलक्षणलक्षितः, पंचानां वातपित्त कफ सन्निपातागन्तूनां लक्षणानि तैलक्षितः–ड., अथवा गन्धवर्ण वेदना स्रावाकृतिभिर्लक्षणैर्लक्षितः–ड., चतुर्भिः, वैद्यरोगिपरिचारकौषधैरितिः–ड.।

(३७) मृदुकर्म (३८) दारुणकर्म (३९) क्षारकर्म (४०) अग्निकर्म
(४१) कृष्णकर्म (४२) पाण्डुकर्म (४३) प्रतिसारण (४४) रोमसंजनन
(४५) रोमापहरण (४६) बस्तिकर्म (४७) उत्तरबस्ति (४८) बन्धन
(४९) पत्रदान (५०) कृमिघ्न (५१) बृंहण (५२) विषघ्न
(५३) शिरोविरेचन (५४) नस्य (५५) कवल धारण (५६) धूम
(५७) मधुसर्पि (५८) यन्त्र (५९) आहार (६०) रक्षा विधान या व्रणितोपासन

इन साठ उपक्रमों में से अपतर्पण से लेकर विरेचन तक के बारह उपक्रमों का वर्णन व्रणशोथ की चिकित्सा के प्रसंग में किया गया है क्योंकि ये विशेष रूप से शोथ प्रशमन के लिये प्रयुक्त होते हैं (तेच विशेषेण शोथ प्रतिकारे वर्तन्ते–सु.) किन्तु आवश्यकतानुसार इनका प्रयोग व्रणावस्था में भी किया जा सकता है (व्रणभावमापन्नस्य च न विरुध्यन्ते–सु. चि. १)

पन्द्रहवें दारण उपक्रम, जिसका वर्णन विद्रधि की चिकित्सा में किया गया है, के अतिरिक्त भेदन, लेखन, एषणादि आठ प्रमुख शस्त्र कर्म हैं जिनका वर्णन इस प्रकार हैः –

अष्टविध शस्त्रकर्म

"तत्र शस्त्रकर्माष्टविधं; तद्यथा––छेद्यं, भेद्यं, लेख्यं, वेध्यं, एष्यं, आहार्यं, विस्राव्यं, सीव्यमिति—" सु. सू. ५–५ ।

अर्थात्—शस्त्रकर्म प्रधानतया आठ प्रकार का होता हैः—

(१) छेदन (Excision) (५) एषण (Probing)
(२) भेदन (Incision) (६) आहरण (Extraction)
(३) लेखन (Scraping) (७) विस्रावण (Blood letting)
(४) वेधन (Puncturing) (८) सीवन (Suturing)

चरक काल तक शस्त्र कर्म केवल छः* प्रकार का वर्णित है जो इस प्रकार हैः—

(१) पाटन (Incision) (४) लेखन (Curettage)
(२) व्यधन (Puncturing) (५) प्रोंछन (Scraping)
(३) छेदन (Excision) (६) सीवन (Suturing)

सूत्रस्थान के तिस्रैषणीय अध्याय में शस्त्रप्रणिधान प्रसंग में छेदन

*पाटनं व्यधनं चैव छेदनं लेखनं तथा । प्रोंछनं सीवनं चैव षड्विधं शस्त्रकर्म तत्–चरक चि. २५–५५.

भेदन, व्यधन, दारण, लेखन, उत्पाटन, प्रच्छान, सीवन, एषण, क्षार और जलौकाओं का उल्लेख है। जेज्जटानुसार इन सबका उपरोक्त छः प्रकारों में ही समावेश हो जाता है— (च. चि. २५–५५)।

वाग्भटने छब्बीस प्रकार के शस्त्र बताने के उपरान्त उनके कर्मों का निम्नलिखित प्रकार से वर्णन किया है:—

उत्पाटचपाटच सीव्यैष्य लेख्य प्रच्छन्नकुट्टनम्।
छेद्यं भेद्यं व्यधो मन्थो ग्रहो दाहश्च तत्क्रियाः॥ वा. सू. २६–२८॥

अर्थात्—उत्पाटन, पाटन, सीवन, एषण, लेखन, प्रच्छान, कुट्टन, छेदन भेदन, व्यधन, मंथन, ग्रहण और दाह ये शस्त्रों के कर्म हैं।

शस्त्र कर्मों की संख्या के सम्बन्ध में बृहत्त्रयी में उपरोक्त प्रकार का जो वर्णन उपलब्ध होता है उसके अनुसार इन कर्मों में से दाहादि कुछ स्वतन्त्र कर्म हैं और ग्रहणादि मुख्य रूप से यन्त्र कर्म हैं। शेष छेदन, भेदनादि सुश्रुतोक्त प्रमुख शस्त्र कर्म माने जाते हैं तथा अन्य गौण रूप से शस्त्रकर्म हैं।

डल्लनानुसार सुश्रुतोक्त छेदन, भेदनादि अष्टविध शस्त्रकर्मों में से एषण और आहरण को कुछ आचार्य शस्त्रकर्म नहीं मानते हैं किन्तु अनेक बार छेदनादि के उपरान्त आवश्यकतानुसार एषण और आहरण करना पड़ता है अतः इन्हें भी शस्त्रकर्मों में सम्मिलित किया गया है। (एषणा हरणे शस्त्रकर्मणी यद्यपि केचिन्नमन्यन्ते, तथापि छित्वा भित्वापि एषणाहरणे क्रियेते; अतोऽत्र शस्त्रकर्मणी निर्दिष्टे—ड.) चक्रपाणि के अनुसार शस्त्रकर्म में की जाने वाली हिंसा में एषण और आहरण भी कारण होते हैं इस हेतु इन्हें भी शस्त्रकर्म माना है (एषणाहरणयोरपि हिंसा हेतुतया शस्त्रकर्मात्मकता—चक्रपाणिः; शस्त्रंहि शरीरहिंसकमिति "शसु" हिंसायामिति धात्वर्थादपि भवति। ते न यत्राहरणे एषणे वा शरीरावयवहिंसा तच्छस्त्रकर्म, शरीराहिंसकं तु यन्त्र कर्म—च. पा.) वस्तुतः यहां शस्त्रकर्म पूर्वक किये गये एषण और आहरण से अभिप्राय है।

सुश्रुतोक्त शस्त्रकर्मों का वर्णन इस प्रकार है:—

(१) छेदन Excision) उपक्रम—

"निःशेषतश्छेदनीयमर्शः प्रभृतिः—" डल्लनः

अर्थात्—छेदन नामक शस्त्रकर्म में पीड़ित भाग को सम्पूर्ण रुप से काटकर पृथक् कर दिया जाता है। यह कर्म उस समय किया जाता है जब कोई रचना रोगादि से पूर्णतया नष्ट हो गयी हो अथवा जिसकी शरीर के

स्वास्थ्य के लिये किसी प्रकार की उपयोगिता न हो। छेदन* विषय इस प्रकार है:—

अपाकेषुच रोगेषु कठिनेषु स्थिरेषुच।
स्नायुकोषादिषु तथा छेदनं प्राप्तमुच्यते॥ सु. चि. १॥

अर्थात्—उन रोगों में छेदन कर्म किया जाता है जिनमें पाक उत्पन्न नहीं होता है, जैसे—मेदोग्रन्थि, कफजग्रन्थि, मांसकन्द (दुरूढव्रणे उच्छ्रतमांसम्—च. पा.) आदि; अथवा जिन रोगों में अल्पपाक होता है, जैसे—वल्मीक। कठिन (दृढ) और स्थिर (अचल) रोग, जैसे—अर्बुद आदि का भी छेदन किया जाता है। यदि स्नायु, सिरा, धमनी आदि धातुएं कोथ (पूतिभावः—ड.) युक्त हो गयी हों तो उन्हें भी काटकर पृथक् कर दिया जाता है। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित रोगों में भी छेदन कर्म विहित हैं:—

भगन्दर विशेषकर शतपोनक, तिलकालक (क्षुद्ररोगोक्त) व्रणवर्त्म (क्लिन्नव्रणौष्ठ), सभी प्रकार के अर्बुद, अर्श (वातिक और श्लैष्मिक), चर्मकील (गुदपार्श्व वर्तिमांसांकुर), अस्थि और मांसग शल्य, जतुमणि (क्षुद्ररोग), मांससंघात (मुखरोग), गलशुण्डिका, अध्रुष (मुखरोग), उपदंश, शतपोनक (शूकरोगज), और अधिमांस (मुखरोग)।

छेदन उपक्रम के योग्य व्याधियां 'छेद्य' कहलाती हैं। यह मण्डलाग्र, करपत्र, वृद्धिपत्र, नखशस्त्र आदि शस्त्रों की सहायता से किया जाता है।

(२) ⊕ भेदन (Incision) उपक्रमः—

इसका विस्तृत वर्णन विद्रधि चिकित्सा में किया गया है (पृष्ठ २३ पर)

(३) लेखन (Curettage) उपक्रमः—

कठिनान् स्थूलवृत्तौष्ठान् दीर्यमाणान् पुनः पुनः।
कठिनोन्नत मांसांश्च लेखनेनाचरेद्भिषक्॥ सु. चि. १॥

अर्थात्—कठोर, स्थूल और गोल व्रणौष्ठों को तथा ऐसे व्रण जो बार बार विदीर्ण होते हैं अथवा जिनका मांस कठोर और ऊपर को उठा हुआ हो उनकी चिकित्सा लेखन कर्म द्वारा की जाती है।

---

*(१) उद्वृत्तान्स्थूल पर्यन्तानुत्सन्नान्कठिनान् व्रणान्।
अर्शः प्रभृत्यधिमांसं छेदनेनोपपादयेत्॥ च.चि. २५॥

(२) छिदिर् द्वैधी करणे, रुधादिगणः, छिनत्ति।

⊕(१) भिदिर् विदारणे, रुधादिगणः, भिनत्ति।

(२) नाडी व्रणाः पक्वशोथा स्तथा क्षत गुदोदरम्। अन्तः शल्याश्च ये शोफाः पाट्यास्ते तद्विधाश्चये—च. चि.—२५।

जब व्रण जीर्ण हो जाता है तो उसके किनारे स्थूल और कठोर होने के कारण उसमें रोहण भली भांति नहीं हो पाता अतः व्रण की इस अनावश्यक वृद्धि को मण्डलाग्र शस्त्र से सुलिखित करना (खुरच देना) आवश्यक हो जाता है। लेखन के उपरान्त जो नवीन रोहणांकुर उत्पन्न होते हैं उनसे व्रण-रोहण सम्यक् प्रकार से होता है।

निम्नलिखित रोगों में मुख्य रूप से लेखन कर्म किया जाता है:—

वात, पित्त, कफ और सन्निपात से उत्पन्न होने वाला रोहिणी (कण्ठ-रोग) विकार, किलास (कुष्ठ भेद) उपजिह्विका, मेदोज दन्त वैदर्भ, ग्रन्थि, वर्त्मरोग (पोथकी = Trachoma आदि) अधिजिह्विका (Epiglottitis) अर्श, मण्डल (कुष्ठभेद) मांसकंद, मांसोन्नति आदि—सु. सू. २५।

लेखन उपक्रम के योग्य व्याधियां 'लेख्य' कहलाती हैं। लेखनार्थ मण्डलाग्र, करपत्र आदि शस्त्र प्रयुक्त होते हैं।

मांसहीन किन्तु कठोर व्रण में लेखन उपक्रम अल्प और अधिक मांस वाले कठोर व्रण में अधिक करना होता है (समं लिखेत्—सु.)। इसी प्रकार स्थूल और वृत्त ओष्ठ वाले व्रण में अतिशयलेखन करना पड़ता है (सुलिखितं लिखेत्—सु.) बार बार दीर्यमाण व्रण में सम्पूर्ण विकृत भाग का भली भान्ति लेखन कर्म कर दिया जाता है (लिखेन्निरवशेषतः—सु.) जिन व्रणों का मांस कठोर और उन्नत हो उनका विकारमार्ग के अनुसार जहां जहां विकृति उपस्थित होती है वहां वहां लेखन करते हैं (वर्त्मनान्तु प्रमाणेन—सु.) इस प्रकार जो स्थान जितना विकृत होता है उसका विकृति के अनुसार ही लेखन करना चाहिये जिससे स्वस्थ धातुएं सुरक्षित रहें और विकृत धातुएं शेषन रहें (समं शस्त्रेण निर्लिखेत्—सु.)

आवश्यकता के अनुसार लेखन कर्म कई प्रकार से करना पड़ता है; समलेखन या अवगाढ लेखन, सुलेखन या तिरश्चीन लेखन, और निरवशेष लेखन अथवा निःशेष लेखन*।

लेखन उपक्रम के लिये मण्डलाग्र और करपत्र नामक शस्त्र और शस्त्रेतर निम्नलिखित पदार्थ प्रयुक्त होते हैं:—

क्षौम (अतसीवस्त्र) प्लोत (कर्पट) पिचु (कार्पासतूला), फेन

*समं लिखेत् सुलिखितं लिखेन्निरवशेषतः। वर्त्मनान्तु प्रमाणेन समं शस्त्रेण निर्लिखेत् - सु. चि. १।

(समुद्रफेन) यवक्षार, सैंधवलवण और गोजिह्वा, शेफालिका (हारसिंगार) आदि के कर्कश पत्र⊕ ।

(४) वेधन (Puncturing) उपक्रम—

वेध्या:सिरा वहुविधा मूत्रवृद्धि दकोदरम्—सु. सू. २५

वेधन उपक्रम के दो उद्देश्य होते हैं। दूषित रुधिर को निकालना, एतदर्थ विविध स्थानों की विविध सिराएं विद्ध की जाती है जिसका वर्णन अन्यत्र किया गया है; दूसरे किसी गुहा में स्थित अप्राकृत तथा रोगपरिणामज तरल को निकालना जैसाकि मूत्रवृद्धि (Hydrocele) और जलोदर में किया जाता है अथवा रोगनिर्णयार्थ किसी गुहा में स्थित तरल को परीक्षण के लिये निकालना जैसाकि सुषुम्ना तरल (Spinal fluid) को निकालते हैं।

व्यधन* उपक्रम के लिये स्थान, प्रमाण आदि निश्चित होते हैं, जैसे–दकोदर में अंगुष्ठोदर प्रमाण अवगाढ बताया गया है और मूत्रवृद्धि में सेवनी से पार्श्व में और नीचे की ओर (Anteriorly and Inferiorly=सेविन्या: पार्श्वतोऽधस्तात्–सु.) वेधन कर्म करने के लिये लिखा है अन्यथा रक्तवाहिन्यादि क्षतिग्रस्त हो सकती हैं (रोगे व्यधन साध्ये तु यथोद्देश प्रमाणत: । शस्त्रं निदध्यात्--सु. चि. १)

वेधन या व्यधन उपक्रम के योग्य व्याधियां 'वेध्य' या 'व्यध्य' कहलाती हैं। एतदर्थ कुठारिका, आरा, वेतसपत्र, सूची, व्रीहिमुख आदि शस्त्र प्रयुक्त होते हैं।

(५) एषण (Probing) उपक्रम --

एष्या नाड्य: सशल्याश्च व्रणा उन्मार्गिणश्च ये—सु. सू. २५

एषण उपक्रम के द्वारा, जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है, यह जानने का प्रयत्न किया जाता है कि शल्य किस स्थान में स्थित है और किस पदार्थ का है। यह उपक्रम एषणी (Probe) के द्वारा सम्पन्न होता है। एषणकाल में जब एषणी शल्य से टकराती है तो उसकी कर्करायन से शल्य की प्रकृति का पता चल जाता है कि वह धातुमय है या काष्ठनिर्मित (शल्यगर्भान्–सु.चि. १; एष्येषु शल्यमेष्य मल्पास्थित्वादि प्रतीत्यर्थम्—च. पा.)

पूय द्वारा निर्मित मार्गों की लम्बाई, गहराई आदि को जानने के लिये

⊕क्षौमं प्लोतं पिन्चु फेनं यावशूकं स सैन्धवम् । कर्कशानि च पत्राणि लेखनार्थे प्रदापयेत्—सु. चि १ ।

*वेधन को व्यधन भी कहा जाता है (वेध्य स्थाने व्यध्यमित्यके–ड.)

भी एषण करना होता है जैसाकि नाडी व्रणों की चिकित्सा में बताया गया है (मृदू कृतामेष्य गतिविदित्वा—सु. चि. १७) अथवा भगन्दर की चिकित्सा में वर्णित है (अथान्तर्मुखमेषित्वा सम्यक् शस्त्रेण पाटयेत् वा. उ. २८–२५) क्योंकि ऐसे रोगों की चिकित्सा एषण उपक्रम के उपरान्त ही करना सम्भव होती है अन्यथा शस्त्रपातन हानिप्रद है। इसी प्रकार उन्मार्गी (कुटिल) और उत्संगी व्रणों में भी गाम्भीर्य आदि को जानने के लिये एषण करना होता है। चरकने द्विविध एषणी (मृद्वी, एरण्डनालादि कृता तथा कठिना, पंचलोह-कृता–जै.) में से एक ऐसी एषणी (कठिना) का उल्लेख किया है जो एषण के साथ पाटन भी करती है (गम्भीरेमांसले देशे पाट्यं लोह शलाकया—च. चि. २५–८१) तथा निम्नलिखित व्याधियों को 'एष्य' बताया है:—

सूक्ष्ममुख, बहुस्रावी, कोषवान् और मर्माश्रित व्रण।

एषण उपक्रम के लिये एषणी नामक शस्त्र या यन्त्र के अतिरिक्त करीर, चुञ्चुपा, उपोदिका आदि के कोमल नाल; हस्ति, शूकर आदि के बाल और कोष्ठादि में स्थित बड़े मुख वाले व्रणों में (विवृतास्यान् कोष्ठाश्रितान् अङ्गुल्या—ड.) अंगुली को एतदर्थ प्रयुक्त किया जाता है (करीर वालांगुलिभिरेषण्या वैषयेद् भिषक्—सु. चि. १। चुञ्चुपा आदि के कोमल नालों का प्रयोग नेत्रवर्त्म, गुदसमीपस्थ नाड़ी, शोणित युक्त तथा मुखरहित नाडी और संकुचित मुख आदि में एषणार्थ किया जाता है। ये नाल कोमल होने से क्रियाकाल में सम्पर्क में आने वाली धातुओं को क्षति नहीं पहुंचाते हैं। इसीसे नेत्र सदृश मृदु अंगों में इनके द्वारा एषण करने के लिये लिखा है*।

एषण उपक्रम के योग्य व्याधियां 'एष्य' कहलाती हैं।

(६) आहरण (Extraction) उपक्रम—

संवृतासंवृतास्येषु व्रणेषु मतिमान् भिषक्।
यथोक्तमाहरेच्छल्यं प्राप्योद्धरणलक्षणम्॥ सु. चि. १॥

अर्थात्—वडिश, दन्तशंकु आदि शस्त्रों की सहायता से चिकित्सक संकुचित अथवा असंकुचित मुख वाले व्रण में उपस्थित शल्य को निकालने के लिये आहरण करता है।

आहरण उपक्रम में दन्तमल, कर्णमल, अश्मरी, मूढ़गर्भ और गुदस्थ संचित मल आदि शल्यभूत पदार्थों को शस्त्रकर्म के साथ साथ बाहर निकाला

*नेत्रवर्त्म गुदाभ्यास नाड्योऽवक्त्राः सशोणिताः। चुंचूपोदकजैः श्लक्ष्णैः करीरैरेषयेद् तु ताः - सु. चि. १॥

जाता है। इसी प्रकार शर्करात्रय अर्थात् पादशर्करा, दन्तशर्करा (Tartar) और मूत्र शर्करा (Gravel) को निकालने के लिये भी आहरण उपक्रम किया जाता है (आहार्याः शर्करास्तिस्रा–सु.सू. २५, आहार्या आकर्षणीयाः–ड.) गर्भशल्य आहरण में सर्वाधिक क्लेशकर बताया है (गर्भशल्यमाहार्याणाम्—अ. सं. सू. १३)

आहरण उपक्रम के योग्य व्याधियां 'आहार्य' कहलाती हैं। एतदर्थ बडिश, दन्तशंकु आदि का प्रयोग होता है। पूय आदि के निरन्तर निकलते रहने की व्यवस्था भी आहरण (Drainage) कहलाती है। एतदर्थ रब्बर-नलिका, वलियुक्त (Corrugated) रब्बर आदि को व्रण स्थान में प्रविष्ट कर देते हैं। इस प्रकार की आहरण व्यवस्था यन्त्रकर्म है।
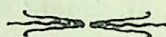
(७) शोणित विस्रावण

(Blood letting = रक्तावसेचन)

"एकतश्च क्रियाः सर्वा रक्तमोक्षणमेकतः*:"––वा. चि. १६–३६

यह संहिता सम्मत सिद्धान्त है कि "क्षीणा वर्धयितव्याः, वृद्धा ह्रासयितव्याः⊕ अर्थात् बढ़े हुये दोषधात्वादिक को घटाना और घटे हुओं को बढ़ाना चिकित्सक का कार्य होता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर रक्त में वृद्धि प्राप्त विकारों के निराकरण के लिये रक्त मोक्षण या शोणितावसेचन कर्म किया जाता है। इस कर्म का महत्व इससे ही स्पष्ट है कि रक्त विकारों के शमन के लिये वर्णित सम्पूर्ण चिकित्सा की जो उपयोगिता है उतनी केवल रक्त मोक्षण की है। स्वेदादि के द्वारा समस्त शरीर की समग्र शुद्धि नहीं होती है किन्तु शोणित मोक्षण से मांस, मेद, अस्थि, मज्जादि सब शुद्ध हो जाते हैं⊙।

---

*The removal of blood from patient was once a very popular form of treatment, and in some cases blood letting is still a valuable measure—Pye.

⊕क्षपयेद् बृंहयेच्चापि दोषधातु मलान् भिषक्––सु. सू. १५।

⊙मांसमेदोऽस्थि मज्जानः शोणितस्यावसेचनात्। धमन्यश्च विशुद्ध्यन्ति दुष्टरक्तास्त्वचश्च याः ॥ रसस्वेदादिनिष्यन्दात् विशुद्ध्यन्ति न पुष्कलम्—डल्लणः, सु. शा. ८।

अठारह प्रकार के कुष्ठ, न्यच्छ, नीलिकादि, वातादि से होने वाली ग्रन्थियां, सिराग्रन्थि, रक्तगुल्म, विद्रधि, विसर्प आदि रक्तज विकारों से वे व्यक्ति मुक्त रहते हैं जो रक्तमोक्षण करा लेते हैं (त्वक् दोषा ग्रन्थयः शोथा रोगाः शोणितजाश्च ये। रक्तमोक्षण शीलानां न भवन्ति कदाचन—सु. सू. १४) विशुद्ध रुधिर ही बलवर्ण, सुख और आयु को देने वाला होता है (तद् विशुद्धं हि रुधिरं बलवर्णसुखायुषा—च. सू. २४.)

रक्तावसेचन अष्टविध शस्त्रकर्मों में से एक कर्म है (तत्र शस्त्रकर्माष्टविधम्। तद्यथा छेद्यं भेद्यं लेख्यं वेध्य मेष्य माहार्यं विस्राव्यं सीव्यमिति च—सु. सू. ५; विस्राव्यं विद्रध्यादौ जलौकादिभिः शोणितादीनामास्रावणम्—हाराणचन्द्रः) व्रण चिकित्सा के षष्ट्युपक्रमों में इसका नवम स्थान है और इनमें से सातप्रमुख उपक्रमों में यह द्वितीय है (आदौविम्लापनं कुर्याद्द्वितीयमवसेचनम्—सु. सू. १७)

रक्तावसेचन इस उद्देश्य से किया जाता है कि दोषादि के द्वारा दूषित हुआ रक्त निकाल दिया जाये जिससे उसमें पूयादि के उत्पन्न होने का अवसर ही न प्राप्त होने पावे। जिस प्रकार शोणित दूषण स्थानिक, शरीर व्यापि, उत्तान या गम्भीर आदि अनेक प्रकार का होता है इसी आधार पर शोणित विस्रावण भी विविध प्रकार का होता है और विविध उपकरणों से किया जाता है।

रक्तावसेचन के उपकरणः—

शृंग, अलाबू, जलौका और सूची, कुशपत्र, त्रिकूर्चक आदि शस्त्र रक्तविस्रावण के लिये प्रयुक्त होते हैं। एतदर्थ त्रिकूर्चक शस्त्र को बहुत उपयोगी बताया है विशेषकर जब बाल, वृद्ध, भीरु स्त्री, राजा, राजपुत्र आदि सुकुमार व्यक्तियों को रक्त विस्रावण कराना हो तो*।

रक्तविस्रावण दो प्रकार का होता है; (१) जहां शस्त्र का मुख्य रुप से प्रयोग होता है, जैसे—प्रच्छान और सिराव्यधन, यह 'शस्त्र विस्रावण' भी कहलाता है (शस्त्रविस्रावणं द्विविधं प्रच्छानं सिराव्यधनं च—सु. सू. १४) जहां शस्त्र का मुख्य रूप से विस्रावणार्थ प्रयोग नहीं होता है वह 'अशस्त्रविस्रावण' कहलाता है, जैसे—जलौकापातन और शृंग तथा अलाबू।

रक्तावसेचन–उपकरणों के प्रयोज्यस्थल पृथक् २ हैं, जैसे—

*विशेषेण बालवृद्ध भीरु सुकुमार नारीणां राज्ञां राजपुत्राणां च त्रिकूर्चकेन विस्रावयेत्—सु. सू. ८।

अवगाढे जलौकास्यात् प्रच्छानं पिण्डितेहितम् ।
सिराङ्गव्यापके रक्ते शृङ्गालाबू त्वचि स्थिते ।। सु. शा. ८ ।।

अर्थात्—यदि दुष्टरुधिर गम्भीर धातुओं में स्थित हो तो जलौका (Leech), पिण्डीभूत जमे हुये रक्त को निकालने के लिये प्रच्छान (पछने लगाना), सर्वशरीरव्यापि शोणितनिर्हरण के लिये सिराव्यधन (Venesection) और यदि रक्तज विकार त्वचा तक ही सीमित हो तो शृंग या अलाबू का प्रयोग होता है। प्रकारान्तर से जलौका आदि का दुष्ट-रुधिर की अवगाढता के आधार पर भी प्रयोग होता है, जैसे—उत्तान (जो बहुत गहरा न हो) में प्रच्छान, अवगाढ़ में जलौका, अवगाढतर में तुम्बी (अलाबू), अवगाढतम में विषाण और सार्वाङ्गिक-अवगाढतम में सिराव्यधन किया जाता है (सिराविषाणतुम्वैस्तु जलौकाभिः पदैस्तथा । अवगाढं यथापूर्वं निर्हरेद् दुष्टशोणितम्—सु. शा. ८) भाव प्रकाश के वर्णन के अनुसार शृंग दस अंगुल तक के दूषित रुधिर को, जलौका हस्तमात्र तक के, तुम्बी बारह अंगुल तक के और सिराव्यधन सम्पूर्ण शरीर के दूषित रुधिर को निकाल देने की क्षमता रखता है (भा. प्र. पूर्वखण्ड प्रकरण ५)

शल्यशास्त्र में कायचिकित्सादि से भिन्नता तथा विशेषता यह है कि इसमें रुधिर का वातादि तीनों दोषों की तरह ही विशिष्ट स्थान है। सुश्रुत वात, पित्त और श्लेष्मा को ही शरीर का कारण स्वीकार करते हैं और इसी आधार पर देह 'त्रिस्थूण' भी वर्णित की है (वात, पित्त, श्लेष्माण एव देह-सम्भव हेतवः । त्रिस्थूणमाहुरेके—सु. सू. २१) किन्तु व्रणाधिष्ठान होने से रुधिर को चतुर्थ दोष भी स्वीकार किया है (तदेभिरेव शोणित चतुर्थैः—सु. सू. २१) और शरीर की उत्पत्ति के प्रति कारण भी माना जाता है (देहस्य-रुधिरं मूलं रुधिरेणैवधार्यते—सु. सू. १४*) इस प्रकार शल्य शास्त्र में रुधिर दोष और धातु दोनों हैं (तेषां क्षयवृद्धी शोणितनिमित्तो—सु. सू. १४) सुश्रुत के अनुसार रुधिर जीवन दाता है (रक्तं जीवयति—सु. सू. १५) चरक ने रुधिर को दस प्राणायतनों में माना है⊕ ।

रक्तावसेचन में दूषित रुधिर को निकाला जाता है। अतः इस प्रसंग

*नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुताद् ।
शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते ।। सु. सू. २१ ।।

⊕दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः ।
शंखौ मर्मत्रयं कण्ठोरक्तं शुक्रौजसी गुदम्—च. सू. २९ ।।

में शुद्ध रक्त के लक्षणों को सर्व प्रथम जानना आवश्यक है। चरकानुसार शुद्ध शोणित का लक्षण इस प्रकार है:—

तपनीयेन्द्र गोपाभं पद्मालक्तक सन्निभम्।
गुंजाफल सवर्णं च विशुद्धं विद्धि शोणितम्॥ सू. प्र. २४–२२

अर्थात्—विशुद्ध रुधिर का वर्ण अग्निप्रतप्त स्वर्ण (लोहित सुवर्ण) इन्द्रगोप (बीरबहूटी), रक्तवर्ण कमल, अलक्तक और गुञ्जाफल के सदृश लाल होता है। सुश्रुत ने प्रकृतिस्थ (शुद्ध) रुधिर के लक्षणों में "इन्द्रगोपक प्रतीकाश" के अतिरिक्त उसका 'अविवर्ण' और 'असंहत' लक्षण भी बताया है (इन्द्रगोपक प्रतीकाश मसंहत मविवर्ण च प्रकृतिस्थं जानीयात्—सु.सू. १४) वाग्भट के अनुसार शुद्ध शोणित स्वाद में कुछ २ मधुर, लवण और स्पर्श में अशीतोष्ण होता है (मधुरं लवणं किंचिदशीतोष्णम्—वा. सू. २७; तेजसा रंजितमिन्द्र गोपाकारं च शश शोणित गुंजाफलालक्तक पद्म सुवर्णवर्णं धौतं च विरज्यमानं मधुरमीषल्लवणं स्निग्धमसंहतमशीतोष्ण गुरु पित्तैकचय प्रकोपशमं सौम्याग्नेयं प्रकृत्या रक्तमाहुः—अ. सं. सू. ३६)

शरीर में अहरहः भ्रमणशील शोणित दो प्रकार का होता है, एक तो वह जो धमनियों में बहता है और दूसरा जो सिराओं में बहता है। ऊपर जो वर्ण में लाल, वातादि दोषों से रहित होने पर अविवर्ण और असंहत (न गाढा न पतला) शुद्ध शोणित के लक्षण बताये हैं वे धमनियों में बहने वाले रुधिर के हैं। धमनियों में ही वह रुधिर होता है जो फुफ्फुसों में श्वास क्रिया द्वारा लायी गयी शुद्ध वायु के सम्पर्क में आने पर शुद्ध हुआ होता है। इस दृष्टि से सिराओं में बहने वाला रुधिर अपेक्षाकृत कम शुद्ध होता है।

शुद्ध शोणित के लक्षणों में उसके रंग पर विशेष बल दिया गया है और उसे विशेष प्रकार से लाल रंग का बताया गया है। धमनीस्थ रुधिर के लाल रंग का कारण रुधिर में उपस्थित रक्तकणों (Red blood cells.) का रंजक पदार्थ (Hemoglobin.) है जो शुद्ध वायु की उपस्थिति में और अधिक लाल हो जाता है।

शुद्ध रुधिर को 'अविवर्ण' इस हेतु कहा गया है कि यह वातादि दोषों द्वारा विकृत वर्ण वाला हो जाता है, जैसे:—

वातदुष्ट रुधिर फेनिल, अरुण (ईषद्रक्त), कृष्ण (पाकाभिमुख होने पर), परुष (जिसमें पिच्छिलता की मात्रा कम हो), तनु (बहुत पतला) शीघ्र (आशु प्रसृति=सहसा अधिक स्राव की प्रवृत्ति) और अस्कन्दि अर्थात्

जिसमें जमने की प्रवृत्ति कम हो। पित्तदुष्ट रुधिर नील, हरित, पीत (निराम पित्त के कारण), श्याव (साम पित्त के कारण हरितकृष्ण), विस्र (आम गन्धि) अनिष्ट (पिपीलिकादि के अनुसरण से ज्ञेय) और अस्कन्दि (स्त्यानत्व रहित) होता है। श्लेष्मदुष्ट रुधिर पाण्डुलोहित (गैरिकोदक प्रतीकाश) स्निग्ध, शीतल, बहल (घन) पिच्छिल, चिरस्रावी (अधिक समय तक स्रवित होने वाला) और गाढा (स्त्यान) होने के कारण मांसपेशी की तरह लगता है। त्रिदोषदुष्ट रुधिर उपरोक्त लक्षणों से युक्त होता है विशेषकर काञ्जिक सदृश और दुर्गन्धित होता है। वाग्भट के अनुसार प्रायः पित्त और श्लेष्मा ही रक्त को दूषित करते हैं, वायु से कभी कभी शरत्काल में रक्त दुष्टि हो जाती है—सू. २७।

वातादि दुष्ट रुधिर के उपरोक्त लक्षणों में एक विशेष रुधिर विकार की ओर संकेत किया गया है; वह है रुधिर में जमने की प्रवृत्ति की अल्पता। वातदुष्ट और पित्तदुष्ट को 'अस्कन्दि' और श्लेष्मदुष्ट को 'चिरस्रावि' कहा है। कांच नलिका में रक्खे रुधिर के जमने का समय जो साधारणतः २ से ८ मिनट है, "स्कन्दनसमय = (Coagulation Time.)" कहलाता है। स्कन्दन-समय शस्त्रकर्म आदि से पूर्व इस हेतु जानना आवश्यक है कि कहीं रुधिर में न जमने की प्रवृत्ति तो नहीं है। ऐसा रोग जिसमें रुधिर जमने में चिरकाल तक असमर्थ होता है 'हीमोफीलिया' (*Hemophilia) कहलाता है। सुश्रुत ने प्रकारान्तर से शुद्ध रक्त उसे बताया है जिसमें स्वतः ही बन्द हो जाने की प्रवृत्ति होती है (सम्यक् गत्या यदा रक्तं स्वयमेवावतिष्ठते। शुद्धं तदा विजानीयात्—सु. सू. १४) यह "शोणित स्रवण समय = Bleeding Time" है जो ३ मिनट या इससे कमका होता है। Fibrinogen. Prothrombin या Thrombogen और कैलशियम लवण ये तीन तथ्य हैं जिनसे रुधिर का स्कन्दन सम्भव होता है। जब रुधिर का थक्का (Clot) बनने लगता है तो 'प्रोथ्रोम्बीन और कैलशियम लवण थ्रोम्बीन' (Thrombin) बनाते हैं। थ्रोम्बीन फाईब्रीनोजीन को 'फाईब्रीन' (Fibrin)

*Obstructive jaundice, acute toxic poisoning of the liver, Leukaemia, aplastic condition of the bone marrow और X Rays तथा Radium की अधिक मात्रा में भी रुधिर देर से जमता है। Haemorrhage के उपरान्त, प्लीहच्छेदन कर देने पर और General anaesthesia में रक्त के जमने का समय कम हो जाता है—Savill.

में बदल देती है। इस प्रकार फाईब्रीन और रक्तकणों से रुधिर का थक्का (Clot) बन जाता है।

उपरोक्त शुद्ध शोणित के लक्षण में सुश्रुत ने शुद्ध रुधिर को 'असंहत' कहा है जिसका अभिप्राय है कि स्वस्थ रक्त न बहुत पतला और न अधिक गाढा होता है। वस्तुतः स्वस्थ रुधिर में ७८ प्रतिशत जल और २२ प्रतिशत घन (Solids) पदार्थ होते हैं। इसी कारण रुधिर का आपेक्षिक घनत्व १०५५ है अर्थात् यदि एक गिलास पानी का भार १००० तोले है तो उतने ही रुधिर का भार १०५५ तोले होगा।

शरीर में रस–वातादि धातुओं की तरह रक्त भी 'क्षीण' या 'वृद्ध' होकर हानि उत्पन्न करता है। रक्त की न्यूनता (शोणित क्षय) होने पर त्वचा में रूक्षता हो जाती है और रोगी अम्ल और शीतल पदार्थों का सेवन* करना चाहता है तथा पूरकरक्त की अल्पता से सिरा शैथिल्य हो जाता है। (शोणित क्षये त्वग्पारुष्य मम्ल शीत प्रार्थना सिरा शैथिल्यंच–सु. सू. १५) जब शरीर में रक्त 'वृद्ध' हो जाता है तो नेत्रादि अंग रक्तवर्ण तथा सिरापूर्णता होती है (रक्तं रक्तांगाक्षितां सिरापूर्णत्वं च–सु. सू. १५)

शोणित दूषण के हेतु––दूषित तथा बहुत तीक्ष्ण और उष्ण मद्यों या इसी प्रकार के अन्य पदार्थों का अति सेवन; अतिलवण, अतिक्षार, अतिअम्ल और अति कटु द्रव्यों का अति सेवन; कुलत्थ, माष, तिल, तैल, पिण्डालु, मूलक, जलज–आनूप और प्रसह प्राणियों का अति सेवन; विरुद्धाहार, द्रव–स्निग्ध–गुरु भोजन के बाद दिवास्वप्न, अत्यादान (इच्छा से अधिक आहार) वातातप का अधिक सेवन, अधिक क्रोध करना, छर्दि के वेगों को रोकना अजीर्ण, अध्यशन (भुक्तस्योपरि यद्भुक्तं तदध्यशन मुच्यते) और वह काल जिसमें रक्त प्रकोप हुआ करता है, जैसे शरद् ऋतु (शरत्काल स्वभावाच्च––च. सू. २४) इनसे रक्त दूषित होता है।

शोणित दूषण से होने वाले रोग––मुखपाक, अक्षिराग, पूतिघ्राण, मुख दौर्गन्ध्य, गुल्म, उपकुश, विसर्प, रक्तपित्त, विद्रधि, रक्तमेह, प्रदर, वातरक्त, वैवर्ण्य, अग्निसाद, पिपासा, गुरुगात्रता, सन्ताप, अतिदौर्बल्य, अरुचि

*रोगी को धातुक्षीणता में 'स्वयोनिवर्धन द्रव्यों की आकांक्षा' होती है (स्वयोनिवर्धनं यत्तदन्नपानं प्रकांक्षति – सु. सू. १५) और क्षीण व्यक्ति को उसकी प्रार्थना के अनुसार पदार्थों को दे देने से तत्तद्धातुक्षय दूर होता है (यद्यदाहार जातंतु क्षीणः प्रार्थयते नरः। तस्य तस्य च लाभेतु तं तं क्षय-मपोहति – सु. सू. १५)।

शिरोवेदना, अन्न-पान का विदाह, तिक्त तथा अम्ल उद्गार, क्लम, क्रोध की प्रचुरता, बुद्धि का संमोह, लवणास्यता, स्वेद, शरीर दौर्गन्ध्य, मद, कम्प, स्वरक्षय, तन्द्रा, अनिद्रा, अतिनिद्रा, तमोबाहुल्य, कण्डू, कोठ, पिडका और कुष्ठ आदि रक्तज विकार हैं—च. सू. २४। मशक, नीलिका, न्यच्छ, व्यंग, इन्द्रलुप्त, प्लीह वृद्धि, रक्त प्रदर, गुदमुखमेढ्पाक भी दुष्टरक्तज हैं–सु. सू. २४।

देश* सात्म्य, कालसात्म्य और ओकसात्म्य की जो विधि वर्णित की गयी है, जिसमें सम्यक् आहार–आचारादि का उपदेश किया गया है, उसके पालन करने से जो रुधिर उत्पन्न होता है वही वास्तव में 'शुद्ध शोणित' होता है और इस प्रकार के रुधिर से ही प्राणियों को प्राण, बल, वर्ण, सुख और दीर्घायु प्राप्त होते हैं—च.।

रक्तावसेचन रोगी का बल, दोष, दोष प्रमाण और दुष्ट शोणित के स्थान को विचार कर किया जाता है। बलवान् रोगी अधिक रक्तावसेचन को सहन करने में समर्थ होता है। विकार में किस दोष की प्रधानता है, रक्तज व्याधि की तीव्रता आदि का क्या प्रमाण है, कितने रक्तावसेचन से रुधिर का शुद्ध होना सम्भव है अथवा शोणित दुष्टि से कितना स्थान विकृत है आदि का निर्णय कर ही रक्ताव सेचन किया जाता है, जैसे—अल्पकुष्ठ में प्रच्छन्न (Scarification) ही पर्याप्त होता है किन्तु महाकुष्ठ में सिराव्यधन किया जाता है (प्रच्छन्नमल्पे कुष्ठे, महति च शस्तं सिराव्यधनम्––च. चि. ७) सिरा वेधन द्वारा रक्ताव सेचन सोलह वर्ष की आयु से पहले और सत्तरह वर्ष के बाद नहीं करना चाहिये (नतूनषोडशाऽतीतसप्तत्यब्द स्रुतासृजाम्––वा. सू. २७)।

सुश्रुतानुसार जिन व्याधियों में रक्तावसेचन किया जाता है वे 'स्राव्य' कहलाती हैं। सान्निपातिक को छोडकर अन्य सभी विद्रधियां, एकदेशोत्थ शोथ, पाल्यामय, श्लीपद, विषजुष्ट रुधिर, उपदंश, स्तनरोग, विदारिका, सौषिर, कण्ठशालूक, कृमिदन्त और प्रायः सभी क्षुद्ररोग आदि स्राव्यव्याधियां हैं। अष्टागसंग्रहकारने विद्रधि आदि के प्रशमन में रक्तावसेक को सर्वोत्तम उपाय बताया है (रक्तावसेको विद्रधि विसर्पपिडका गण्डमाला पहराणाम्—अ. सं. सू. १३)।

यदि स्रावण योग्य रुधिर को न निकाला जाये तो शोथ, दाह, राग,

---

*विधिना शोणितं जातं शुद्धं भवति देहिनाम्।
देशकालौकसात्म्यानां विधिर्यः सम्प्रकाशितः॥ च. सू. २४॥

पाकादि हो जाते हैं (तद्दुष्टं शोणितमनिर्ह्रियमाणं शोफ दाहरागपाकवेदना जनयेत्—सु. सू. १४) दुष्ट रुधिर के निकाल देने से पूयोत्पादन नहीं होता है क्योंकि पूय दुष्ट रुधिर से ही उत्पन्न होती है (रक्तं हि व्यम्लतां याति तच्चनास्ति नचास्तिरुक्—च. द. व्रणशोथचि.)

किन्तु सर्वांग शोफ (Anasarka), अम्ल भोजन से उत्पन्न क्षीण रोगी का शोथ और पाण्डु*, अर्श, उदर तथा शोष से पीड़ित रोगियों और गर्भिणी के एकदेशोत्थ शोथ में रक्ताव सेचन नहीं करना चाहिये (एतेषां व्रण शोथा (Inflammation) एकांगजा अपि न स्राव्याः––डल्लणः) ।

रक्तावसेचनार्थ शस्त्रादि के सम्यक् प्रयोग करने पर भी वैद्यक्रिया-दोष––जैसे दुर्विद्ध करना, काल–कृतदोष जैसे–शीत–ऋतु और आवस्थिक कालदोष–जैसे भोजन के शीघ्र बाद, के कारण रुधिर नहीं निकलता है अथवा अत्यन्त अल्प निकलता है। शोणितस्राव भली प्रकार होने के लिये यह आवश्यक है कि शस्त्र प्रयोग उपयुक्त प्रकार से उपयुक्त स्थल पर किया जाये। शीतर्तु में रक्तवाहिनियां संकुचित होती हैं, इस हेतु उनसे भी रुधिर की सम्यक् प्रवृत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार भोजन करने के उपरान्त रुधिर आमाशय की ओर अधिक आकृष्ट होता है अतः ऐसे समय भी रक्ताव सेचन में रक्त नहीं आता है अथवा अल्प आता है। दुर्दिन और स्वेदन न करना भी रक्ताव-सेचन के लिये अनुपयुक्त हैं (दुर्दिने दुर्विद्धे शीतवातयोरस्विन्ने भुक्त मात्रे स्कन्दत्वाच्छोणितं नस्रवत्यल्पं वा स्रवति—सु. सू. १४) ।

जो मद, मूर्च्छा और श्रम से पीड़ित हो, जिनके आपान वायु, पुरीष और मूत्र न आ रहा हो तथा नींद की अवस्था में रक्तावसेचन करने पर भी रुधिर नहीं आता है क्योंकि ऐसी अवस्थाओं में रुधिर गम्भीरस्थ बड़ी बड़ी वाहिनियों में स्थित होता है।

इसी प्रकार अत्युष्णकाल में, अधिक स्वेदन करने के उपरान्त शस्त्र द्वारा अधिक वेधन कर देने पर और अदृष्ट कर्मा चिकित्सक द्वारा शस्त्र प्रयोग करने पर रुधिर अधिक मात्रा में निकल जाता है जिससे अधिक शोणित स्राव के लक्षण, जैसे शिरोऽभिताप, आन्ध्य, आक्षेपक आदि उपस्थित होते हैं।

पूर्व वर्णित कारणों से यदि रुधिर अल्पमात्रा में आ रहा हो तो एला, शीतशिव (कर्पूर) कुष्ठ, तगर, पाठा आदि में से जितने भी द्रव्य मिल सकें

---

*Severe anaemia is an absolute contraindi–cation—Pye.

उनके चूर्ण में लवण और तैल मिलाकर व्रण मुख पर घर्षण करें, इस प्रकार भली भांति शोणित स्राव होने लगता है। अधिक रुधिर स्राव हो रहा हो तो 'शोणित स्राव' प्रकरण में बताये गये उपाय प्रयोग में लाये जाते हैं।

वस्तुतः निम्नलिखित अवस्थाओं की उपस्थिति में रक्ताव सेचन कराने पर ही शोणित स्राव भली भान्ति होता है:—

तस्मान्नशीते नात्युष्णे नास्विन्ने नातितापिते ।
यवागूं प्रतिपीतस्य शोणितं मोक्षयेद्भिषक् ॥ सु. सू. १४ ॥

अर्थात्—शोणित स्राव उस समय भली भान्ति होता है जब ऋतु या काल न अधिक शीत हो और न अधिक उष्ण, रोगी का अथवा उस स्थान का जहां से रुधिर निकालना हो अतिस्वेद न किया गया हो और न वे सूर्य तापादि से अधिक उष्ण ही हों। रक्ताव सेचन से पूर्व रोगी को दो-तीन बार सद्यः स्नेहन करने वाली तिलतण्डुल युक्त यवागू का पान करा देना भी सम्यक् स्रावण के लिये उपयोगी है। साधारणतः शरत्काल शोणितावसेचन के लिये उपयोगी होता है (शरत्काले स्वभावेन शोणितं स्रावयेन्नरः—भा. प्र. पूर्वखण्ड)

सम्यक् स्रावित (भली भान्ति रक्त निकालने) के लक्षण ये हैं कि रोगी हल्कापन अनुभव करता है, व्याधि की वेदना और वेग शान्त हो जाते हैं और मन प्रसन्न हो जाता है (सम्यग्विस्राविते लिंगं प्रसादोमनसस्तथा— सु. सू. १४*; मनः स्वास्थ्यं भवेत् चिन्हं सम्यक् विस्राविते ऽसृजि—भा. प्र.)

स्रावित रुधिर की मात्रा—रुधिर का ही दूसरा नाम जीवन है (रक्तं जीव इति स्थितिः—सु. सू. १४) अतः दुष्ट रुधिर को भी स्रावित करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि रक्त के अतिस्राव से होने वाली व्याधियां न होने पावें। यही कारण है कि सुश्रुत ने दुष्ट रुधिर को शरीर में ही शेष रहने देने को अधिक स्राव से होने वाली हानियों की अपेक्षा उत्तम बताया है (सावशेषे ततःस्थेयं न तुकुर्यात् अतिक्रमम्—सु. सू. १४) यदि दुष्ट रुधिर का कुछ अंश शेष रह जाये तो वह व्याधि उत्पन्न करने में असमर्थ होता है (शेषदोषे यतोरक्ते न व्याधि रतिवर्तते—सु.) अनुद्रिक्त (न निकाला हुआ) दुष्ट रक्त को शीतोचापरादि से दोष रहित करना चाहिये (शेषं संशमनैर्जयेत्—सु. शा. ८)।

प्रच्छान, जलौका, अलाबू आदि द्वारा किये गये रक्तावसेचन में

---

*प्रसन्नवर्णेन्द्रिय मिन्द्रियार्थान् इच्छन्त मव्याहत पक्तृवेगम् ।
सुखान्वितं तुष्टिबलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषंवदन्ति ॥ च. सू. २४ ॥

रुधिर अधिक नहीं निकलता है, किन्तु सिराव्यधन में पर्याप्त शोणित स्राव होता है। अतः इसमें शोणित स्राव की मात्रा निश्चित कर दी गयी है। अर्थात्—एक समय में यदि रोगी मनुष्य बलवान् बहुदोषयुक्त और युवा हो तो अधिक से अधिक एक प्रस्थ तक रुधिर को निकाला जा सकता है (परं-प्रमाण मिच्छन्ति प्रस्थं शोणित मोक्षणे—सु. शा. ८) आयुर्वेदीय परिभाषा के अनुसार साधारणतः प्रस्थ सोलह पल का होता है (शरावोऽष्टपलम्...... शरावाभ्यां भवेत्प्रस्थः) किन्तु वमन, विरेचन और शोणित स्राव में प्रस्थ केवल साढे तेरह पल का माना है (वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः) पल चार तोले के बराबर होता है। इस प्रकार बलवान् युवारोगी से एक समय में चौवन तोले रुधिर निकाला जा सकता है। उल्लणानुसार रुधिर स्राव की यह 'उत्तममात्रा' है और अर्धप्रस्थ रुधिर निकालना 'मध्यममात्रा' तथा कुडव ($\frac{1}{4}$ प्रस्थ) रुधिर निकालना 'अधममात्रा' है। उनके अनुसार इतना रुधिर दो दिन में निकालना चाहिये। किन्तु आवश्यकता होने पर प्रस्थ (१३॥ पल) से अधिक रक्त भी निकाला जा सकता है (परन्तु रुधिरावसेचन प्रमाणं प्रस्थः। अतोऽन्यथा व्याधि देहतु-वल मपेक्षेत - अ. सं. सू. ३६) जैसा कि जीर्ण हृद्रोगों, रक्त भाराधिक्य आदि में करना होता है (... and collect the amount required-usually 12 to 25 oz - Pye.)

विविध व्याधियों में शोणित विस्रावण की भारतीय ऋषि-मुनियों द्वारा आविष्कृत पद्धति पाश्चात्य वैद्यक में भी इसी रूप में स्वीकृत करली गयी है। उसमें भी आज प्रच्छान (Scarification) जलौका (Leeches) और सिराव्यधन (Venesection) का पर्याप्त प्रचलन है। मसूरिका में प्रच्छान का 'वेक्सिनेशन' के लिये भी प्रयोग होता है। जलौका प्रयोग पार्श्व-शूल की तीव्रावस्था (Acute Pleurisy) में वेदना शमन के लिये किया जाता है। एतदर्थ हृदयावरणशोथ (Pericarditis) में भी ४–५ जलौकाओं के लगाने का विधान है। फुफ्फुस के अतिशोणित संचय (Hyperaemia) में भी तनाव को कम करने के लिये जलौकापातन किया जाता है। इसी प्रकार सिराव्यधन भी विविध व्याधियों में पाश्चात्य वैद्यक विशारदों द्वारा समय समय पर सम्प्रत्यपि किया जाता है जिसका वर्णन तत्तत् स्थलों में किया जावेगा।

स्रवित रुधिर की मात्रा भी लगभग उतनी ही है जितनी आयुर्वेदज्ञों द्वारा स्थिर की गयी है, अर्थात्—सार्धत्रयोदशपल (५४ तोले; २॥ तोले=

१ औंस) (अशुद्धौ बलिनोऽप्यस्रं न प्रस्थात्स्रावयेत्परम्—वा. सू. २७)

जिस व्यक्ति के रक्तावसेचन कराना हो उसे पहिले यवागू का सेवन करा देना चाहिये (यवागूं प्रतिपीतस्य शोणितं मोक्षयेद्भिषक्—सु. सू. १४) इसका लाभ यह है कि रोगी के बल का ह्रास नहीं होता है और शस्त्रोत्थ वेदना, भय आदि से उसे मूर्च्छा भी नहीं आती है (न मूर्च्छत्यन्न संयोगान्; प्राक्शस्त्रकर्मणश्चेष्टं भोजयेदातुरं भिषक् - सु.)

शोणितावसेचन के उपरान्त वात प्रकोप की अधिक सम्भावना रहती है। यह शीतल द्रव्यों के प्रयोग से और अधिक बढ़ जाती है। अतः ऐसी अवस्था में जब व्रण स्थान पर तोद, शोथ आदि हों तो कोष्ण घृत से परिषेक करना चाहिये (स्रुत रक्तस्य सेकाद्यैः शीतैः प्रकुपितेऽनिले। शोफं सतोदं कोष्णेन सर्पिषा परिषेचयेत्—सु. सू. १४)

शोणितावसेचन 'शस्त्र सहित' हो अथवा 'शस्त्र रहित' सभी में त्वचा –भिन्न होती है, अर्थात्—त्वचा में व्रण किया जाता है और व्रण से पूर्व और व्रण से पश्चात् यदि त्वचा की स्वच्छता का ध्यान न रक्खा जाये तो संक्रमण होकर पूयादि उपस्थित हो सकते हैं। अतः प्रत्येक अवस्था में विसंक्रमण की पूर्ण व्यवस्था आवश्यक है।

शस्त्रविस्रावण में शस्त्र प्रयोग इस प्रकार का होना चाहियेः—

"तत्र, ऋज्वसंकीर्णं सूक्ष्मं सममनवगाढमनुत्तानमाशु च शस्त्रं पातयेन्मर्म सिरास्नायुसंन्धीनामनुपघाति—सु. सू. १४"।

अर्थात्—शस्त्र को सहसा और इस प्रकार चलाना चाहिये कि शस्त्र-पद ऋजु (सीधे), असंकीर्ण (दूर–दूर), सूक्ष्म (सूक्ष्मधार वाले शस्त्र से), समानान्तर (तुल्य रेखम्) और न अधिक गहरे और न अधिक उथले हों साथ ही जिनसे मर्म, सिरा, स्नायु और सन्धियों को क्षति न पहुँचे। इस प्रकार के शस्त्र पद प्रायः प्रच्छान में किये जाते हैं।

वाग्भट ने प्रच्छान में किये गये शस्त्र प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ अन्य विशेषताओं का उल्लेख भी किया है। उनके अनुसार जहां से रक्तावसेचन करना हो उस स्थान से हृदय की ओर के भाग को रज्जु या पट्ट से दृढ़ता पूर्वक बांध देना चाहिये। इससे शोणित गति रुक जाने के कारण अधिक मात्रा में संचित हो जाता है (गात्रं बद्ध्वोपरि दृढं रज्ज्वा पट्टेन वा समम्—वा. सू. २६)।

रक्त के अवसेचन के उपरान्त रोगी को आहार इस प्रकार का देना चाहिये कि जिससे उसकी अग्नि विकार ग्रस्त न हो (अग्निर्विशेषादिति

रक्षणीयः—वा.) क्योंकि शरीर का आधार रक्त, रक्त का आधार पित्त और पित्त का आधार अग्नि है (पित्तं वह्निरिति) इस लिये रोगी को न अति शीत और न अति उष्ण ही आहार देना चाहिये अपितु लघु (स्वभाव और मात्रा में) और दीपनीय पदार्थों का सेवन करावें (नात्युष्णशीतं लघु दीपनीयं रक्तेऽपनीतेहितमन्नपानम्—वा. सू. २७.) ।

शोणितस्राव के पश्चात् बल प्राप्ति होने तक रोगी व्यायाम, मैथुन, क्रोध, शोक आदि का त्याग करे—भा. प्र. ।

जैसाकि आरम्भ में ही संकेत किया गया है रक्तावसेचन पांच प्रकार से किया जाता है:—

प्रकार (i) शृंग (वात), (ii) जलौका (पित्त), (iii) अलाबू (कफ), (iv) प्रच्छान और (v) सिराव्यधन ।

यद्यपि शृंगादि का दोषानुसार* प्रयोग बताया है किन्तु आवश्यकतानुसार सभी का सभी जगह प्रयोग किया जा सकता है (तत्र वात पित्त कफ दुष्ट शोणितं यथासंख्यं शृंगजलौकोऽलाबूभिरवसेचयेत् विशेषतश्च विस्राव्यं, सर्वाणि सर्वैर्वा—सु. सू. १३) शृङ्गादि का वर्णन इस प्रकार है:–

(i) शृङ्ग (Horn अथवा Cupping)

भिषक् वातान्वितं रक्तं विषाणेनाशु निर्हरेत्—चरक, चि. २१.

यदि दुष्ट रुधिर का विशेष कारण वायु दोष हो तो उसके निर्हरण के लिये 'शृंग' का प्रयोग करना चाहिये। वाग्भट ने कफ दूषित रुधिर को निकालने के लिये शृंग के प्रयोग का निषेध किया है क्योंकि इसमें उष्णता के अभाव में कफ विलयन की सामर्थ्य नहीं हाती है (कफेन दुष्टं रुधिरं न शृंगेण विनिर्हरेत् । स्कन्नत्वात्—वा. सू. २६; शृङ्गस्य चाग्निसंयोगा भावेन कफविलयने सामर्थ्याभावात्—अरुणदत्तः) इनके अनुसार पित्त दुष्ट रुधिर को निकालने के लिये भी शृंग का प्रयोग किया जा सकता है (वातपित्ताभ्यां दुष्टं शृंगेण निर्हरेत्—वा. सू. २६)

सुश्रुत ने वात प्रधानता में शृंग द्वारा रुधिर निर्हरण का यह कारण बताया है कि गोशृंग उष्ण, समधुर और श्लक्ष्ण होता है (स्निग्धं उष्णं श्लक्ष्णं समधुरं गवां शृंगं प्रकीर्तितम्—सू. सू. १३) इस प्रकार यह वातदोष का प्रशमन भी करता है। शृंग शब्द से गोशृंग लेना चाहिये ।

---

*भिषक् वातान्वितं रक्तं विषाणेनाशु निर्हरेत् ।
पित्तान्वितं जलौकाभि रलाबूभिः कफान्वितम् ॥ च. चि. २१ ॥

शृंग के द्वारा त्वचा में स्थित दूषित रुधिर को निकाला जाता है (शृंगालाबू त्वचिस्थिते—सु. शा. ८) वाग्भट ने सुप्त (निश्चेतन संस्थानं, प्रसुप्त्यादि विकारि—अ.) रुधिर को भी शृंग द्वारा निकालने का उल्लेख किया है (हरेंच्छृंगादिभिः सुप्तम्—वा. सू. २६)

रक्तावसेचन जैसे महत्वपूर्ण कार्यों का प्रमुख उपकरण होने के कारण 'शृंग' का नाड़ी यन्त्रों में परिगणन किया गया है।

शृंग प्रयोग विधिः—

"तत्र प्रच्छिते तनुवस्त्रपटलावनद्धेन शृंगेण शोणितमवसेचयेदाचूषणात्—सु. सू. १३" ।

अर्थात्—जिस स्थान से रुधिर निकालना हो वहां पर प्रच्छान (पछने लगा) कर शृंग के चौड़े भाग को रख देते हैं और दूसरी ओर के सूक्ष्म छिद्र में से आचूषण क्रिया द्वारा निर्वात (Vacuum) स्थिति उत्पन्न कर पतले वस्त्रखण्ड से शृंग के सूक्ष्म छिद्र को बन्द कर दिया जाता है (कथमपिप्रचरिते हि वाते शोणितं ना याति मुखमाचूषकस्य शृंगेणाकृष्टत्वादित्यतस्त्रिश्चतुर्वाऽऽनद्धं खण्डशोवस्त्राणि ग्राहयति पटलशब्देन—हाराण चन्द्रः) जब मुख द्वारा या अन्य विधि से शृंग के अन्दर की वायु को बाहर खेंच लिया जाता है तो अन्दर निर्वात स्थान की ओर खिचाव उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रच्छित (पछने लगे) स्थान से रुधिर निकलने लगता है।

शृंग प्रयोग के द्वारा अनेकों विकारों में शोणित मोक्षण किया जाता है। चरक ने स्थिर और कठिन मण्डल कुष्ठ में स्वेदन तथा लेखन के उपरान्त शृंग द्वारा शोणित निर्हरण का निर्देश किया है (शृंगालाबूनि योजयेत्कुष्ठे—च. चि. ७) वात रक्त यदि सुप्त तथा कण्डू और चिमचिमाहट लिये हो तो शृंग द्वारा रक्तावसेचन किया जाता है (शृंगैस्तुम्बै र्हरेत्सुप्ति कण्डू चिमचिमायनात्—च. चि. २९.) विद्रधि के शमनार्थ भी शृंग द्वारा रक्त का निर्हरण करना बताया गया है (हरेत् शृंगादिभिरसृक्—च. चि. १३–१८.) वातार्बुद में भी शृंग के प्रयोग द्वारा रक्ताव सेचन किया जाता है (शृंगेण रक्तं बहुशो हरेच्च—सु. चि. १८–२८) आदि।

शृंग की आकृति, दैर्घ्य, विस्तीर्णता आदि का वर्णन यन्त्रों के वर्णन के साथ किया गया है।

(ii) जलौका (Leeches)

जलौकसोऽनुशस्त्राणाम्—चरक सु. २५-४० ।

अर्थात्—जलौका शस्त्र न होते हुये भी शस्त्र की तरह क्रिया करने वाले अनुशस्त्रों में सर्वश्रेष्ठ है।

इन्हें जलौका इस लिये कहा जाता है कि ये मुख्य रूप से जल में ही पायी जाती हैं (जलमासामायुरिति जलायुका=जल है आयु जिनकी, जलमासामोक इति जलौकस:=जल है घर जिनका)

जलौका द्वारा रक्तावसेचन परम सुकुमार उपाय है और नृप, धनी, बाल, वृद्ध, भीरु, दुर्बल, नारी तथा मृदु प्रकृति वालों में भी इनका प्रयोग आसानी से किया जा सकता है (जलौकसस्तु सुखिनां रक्तस्रावाय योजयेत्—वा. सू. २६-३५; परम सुकुमारोऽयं शोणिताव सेचनोपायोऽभिहितो जलौकस:—सु. सू. १३-३) यद्यपि "सर्वाणि सर्वैर्वा" के अनुसार जलौकाओं का भी रुधिर विस्रावण के लिये सभी अवस्थाओं में प्रयोग विहित है तथापि इनका मुख्य रूप से पित्तोपसृष्ट रुधिर को निकालने के लिये प्रयोग किया जाता है जिसका कारण यह बताया गया है कि ये शीतल जल में उत्पन्न होने के कारण शीत प्रकृति होती हैं और पित्तहर हैं (शीताधिवासा मधुरा जलौका वारिसंभवा। तस्मात्पित्तोपसृष्टे तु हिता सा त्ववसेचने—सु. सू. १३-६)

जलौका भेद—जलौकाएं दो प्रकार की होती हैं, (१) सविष और (२) निर्विष; सविष जलौकाएं छः प्रकार की और निर्विष जलौकाएं भी छः प्रकार की होती हैं (ता द्वादश; तासां सविषा: षट्, तावत्य एव निर्विषा:—सु. सू. १३) इस प्रकार सुश्रुत ने बारह प्रकार की जलौकाओं का वर्णन किया है।

छः प्रकार की निर्विष जलौकाओं का वर्णन इस प्रकार है:—

(१) कपिला—इसके दोनों पार्श्व मनःशिला के रंग की तरह के और पृष्ठ स्निग्ध तथा मुद्गवर्ण अर्थात् हरा होता है।

(२) पिङ्गला—इसका शरीर वृत्त अर्थात् गोल होता है और यह कुछ लाल तथा पिंगल वर्ण की होती है। इसकी गति भी तीव्र होती है।

(३) शंकुमुखी—इसका रंग यकृत् की तरह का सलेटी होता है और यह रक्तपान शीघ्रता से करती है। इसका मुख लम्बा तथा तीक्ष्ण होता है।

(४) मूषिका—इसका रंग चूहे के रंग की तरह भूरा और इसकी आकृति चूहे की पूंछ की तरह की होती है (मूषिका लांगूला कृति:, तद्वर्णा च—च. पा.) इससे अप्रिय गन्ध भी आती है।

(५) पुण्डरीक मुखी—यह रंग में मूंग की तरह हरी होती है तथा इसका मुख पद्मपुष्प की तरह अति विस्तृत होता है।

(६) सावरिका—यह अठारह अंगुल लम्बी होती है और इसका रंग पद्मपत्र की तरह गहरा हरा होता है। बड़े आकार की होने के कारण यह हस्ति, अश्व आदि के रक्तावसेचनार्थ प्रयुक्त की जाती है मनुष्यों में नहीं।

छः प्रकार की सविष जलौकाओं का वर्णन इस प्रकार है:—

(१) कृष्णा—इसका शिर स्थूल (पृथुशिरा) और रंग अंजन के चूर्ण की तरह गहरा नीलकृष्ण होता है।

(२) कर्बुरा—यह वर्मिमत्स्य (सर्प या रोहितमत्स्य) की तरह विस्तृत और इसकी कुक्षि (पार्श्व) कहीं से नीची तथा कहीं से ऊँची होती है।

(३) अलगर्दा – इसके शरीर पर बाल होते हैं, पार्श्व प्रदेश बहुत बड़े बड़े होते हैं और मुख काला होता है।

(४) इन्द्रायुधा—इसके शरीर के ऊर्ध्वभाग पर इन्द्रधनुष की तरह बहुरंगी धारियां होती हैं।

(५) सामुद्रिका—रंग में यह कुछ कालापनलिये पीली होती है और इसके शरीर पर विविध पुष्पों सदृश रंगीन धब्बे होते हैं।

(६) गोचन्दना—इसके शरीर का अधोभाग बैल के अण्डकोष की तरह दो भागों में विभक्त होता है और मुख सूक्ष्म होता है।

सविष जलौकाओं के वर्णन का उद्देश्य यह है कि जिससे इनको प्रयोग में न लाया जाये और यदि कहीं अचानक लग जायें तो चिकित्सा करने में सुविधा हो (सविषाणा मुपन्यासः परित्यागार्थं। दैवतो लग्नानां विषचिकित्सार्थं च—च. पा.)

साधारणतः उन जलौकाओं को चिकित्साकार्य में प्रयुक्त नहीं करना चाहिये जिनका मध्य भाग स्थूल हो, जो परिक्लिष्ट (अमनोज्ञदर्शनाः) हों पृथु (विस्तीर्ण) हों, मन्द–मन्द गति करती हों, लगती न हों (अग्राहिणी) और विषैली तथा अल्परक्त पान ही कर सकती हों एवं इन्द्र धनुष की तरह की विचित्र धारियों से युक्त हों (शक्रायुधवद्विचित्रो र्ध्वराजीचिता वा सविषाः—अ. सं. सू. ३५)

सविष जलौकाओं के दंश से तीव्र शोथ (स्थानिक); कण्डू, ज्वर, दाह, छर्दि और सुपारी के अधिक प्रयोग से होने वाली मत्तता की तरह का मद तथा अंग सदन होता है। रोगी मूर्छित भी हो सकता है। इन्द्रायुधा नामक सविष जलौका के दंश से पीड़ित व्यक्ति असाध्य होता है।

सविष जलौकाओं के दंश से उत्पन्न शोथ, दाहादि की शान्ति के लिये विष प्रकरण में वर्णित महागदों का पान, आलेपन, नस्यादि के रूप में प्रयोग करना चाहिये।

उत्पत्ति स्थान—सविष और निर्विष जलौकाओं के उत्पत्ति स्थान भिन्न भिन्न होते हैं। निर्विष जलौकाएं स्वच्छ पानी वाले जलाशयों में पायी जाती हैं जहां पद्म (ईषच्छुक्ल), उत्पल (ईषन्नील), नलिन (ईषद्रक्त), कुमुद, सौगन्धिक (गर्द्भपुष्पाभिधान मत्यन्तसुरभि चन्द्रोदयविकाशि––ड.), कुवलय (रक्तोत्पल), पुण्डरीक (अतिश्वेतपद्म) तथा शैवाल पाये जाते हैं और जहां इनका कोथ (गलना) होता है। ये सुगन्धित तथा जलबहुल स्थानों में विचरण करती हैं और विषैले पदार्थों को नहीं खाती हैं और न ये कीचड़ युक्त स्थानों में ही पायी जाती हैं (क्षेत्रेपु विचरन्त्येताः सलिलाढ्य सुगन्धिषु। न च संकीर्ण चारिण्यो न च पङ्कशयाः सुखाः––सु. सू. १३) सामान्यतः ये शैवालश्याव, वृत्त और ऊपर की ओर से नीली धारियों से युक्त होती हैं। इनका उदर भी कुछ पीला होता है*। सविष जलौकाएं गन्दे स्थानों तथा जलाशयों में पायी जाती हैं (कलुषेष्वम्भः सु च सविषाः––सु.) जहां विषैली मछलियां, कीट, मेंढक आदि के मूत्र–पुरीष आदि से सड़न उपस्थित हो।

इनकी लम्बाई अधिक से अधिक अठारह अंगुल होती है (सर्वासां च परं प्रमाण मष्टादशांगुलानि––अ. सं. सू. ३५)। इनमें से चार पांच या छः अंगुल लम्बी जलौकाओं का प्रयोग मनुष्यों में होता है और अधिक लम्बियों को गज अश्व आदि में प्रयुक्त करते हैं।

कमलादि से सुगन्धित जलाशयों से जलौकाओं को गीले चमड़े की सहायता से पकड़कर ऐसे घड़े में रखना चाहिये जिसनें इसी प्रकार के जलाशय का कीचड़ और जल भरा हो। यह घट नवीन और आकार में बड़ा हो (अथैनां नवे महति घटे सरस्तड़ागोदक पंकमावाप्य निदध्यात्—सु. सू. १३) डल्लण के अनुसार जलौकाओं को शरत्काल में पकड़ना चाहिये और आर्द्रचर्म (तेषांग्रहणमार्द्र चर्मणा––सु.) से पकड़ने के अतिरिक्त इन्हें सद्योहत प्राणियों की मांसपेशी अथवा जंघा आदि अवयवों में नवनीत, घृत या क्षीर लगाकर भी पकड़ा जा सकता है।

इस प्रकार पाली हुई जलौकाओं को खिलाने के लिये शैवाल शृंगाटक,

---

*निर्विषाः शैवालश्यावा वृत्ता नीलोर्ध्वराजयः। कषाय पृष्ठा स्तन्वङ्गचाः किंचित्पीतोदराश्च याः––अ. हृ. सू. २६।

कशेरुक, मृणाल, पुष्कर बीज, बल्लूर (शुष्कमांस) और जलकन्द का चूर्ण देना चाहिये। घट में तृण तथा जल में उत्पन्न होने वाले पत्र डाल देने चाहिये। जिन पर ये विश्राम कर सकें। घड़े के जल को प्रति दूसरे या तीसरे दिन बदल देना चाहिये। खाने के लिये पदार्थ भी प्रति दूसरे या तीसरे दिन देने चाहिये। प्रत्येक सातवें दिन घड़े को भी बदल देना चाहिये (सप्तरात्रात् सप्तरात्राच्च घटमन्यं संक्रामयेत्—सु. सू. १३)

जलौकापातन विधि—सर्वप्रथम यह निर्णय करना चाहिये कि व्याधि जलौकोऽवसेक साध्य अर्थात् जलौका प्रयोग द्वारा ठीक होने वाली है या नहीं। तदनन्तर रोगी को बिठाकर (उपवेश्य) या लिटाकर (संवेश्य=शाययित्वा-ड.) उसके उस स्थान को जहां पर जलौका पातन करना है, मट्टी या गोमय (गोबर) चूर्ण से रूक्ष कर लिया जाता है। यह प्रयोज्य स्थल व्रण रहित होना चाहिये क्योंकि व्रण की उपस्थिति में जलौकाएं बिना रूक्षण किये ही रक्तपान करने लग जाती हैं (व्रणे तु गन्धक्लेदाभ्यामेव गृह्णन्ति—ड.) पकड़कर पाली हुई जलौका को सरसों और हल्दी के कल्कोदक से अच्छी तरह तर कर कुछ समय तक स्वच्छ जल पूर्ण पात्र में रख छोडे जिससे वह तरो-ताजा हो सके। उसके बाद जलौका को रुग्ण भाग पर जहां दोष संचित हों, लगाना चाहिये जिससे वह दूषित रुधिर का पान द्वारा निर्हरण कर सके।

हरिद्रा आदि के कल्कोदक से प्रयोज्य जलौका को लिप्त कर स्वच्छ जल से प्रक्षालन करने का उद्देश्य यह है कि इस प्रकार जलौका शुद्ध हो जाती है और उससे उत्पन्न व्रण संक्रमण ग्रस्त नहीं होता है।

जलौका ठीक उसी स्थान पर लगे जहां दोष संचित हैं इसके लिये छिद्र युक्त कागज का या कांच की नलकी का प्रयोग किया जा सकता है। जिस समय जलौका को लगाया जा रहा हो उस समय उसे नरम तथा शुक्ल वर्ण के गीले पिचु (बीजहीनः कार्पासः) या प्लोत (वस्त्रखण्ड) से इस प्रकार पकड़ें कि जलौका का मुख नग्न रहे (श्लक्ष्ण शुक्लार्द्र पिचुप्लोतावच्छन्नां कृत्वा मुखमपावृणुयात्—सु.) यदि इस प्रकार जलौका रक्तपान न करे तो प्रयोज्य स्थल पर क्षीरबिन्दु, रक्तबिन्दु, घृत या नवनीत* रखना चाहिये अथवा शस्त्रपद (पछने) कर देना चाहिये (अगृह्णन्त्यै क्षीरबिन्दुं शोणितबिन्दुं वा दद्यात् शस्त्रपदानि वा कुर्वीत—सु. सू. १३) यदि इतने पर भी रक्तपान करना आरम्भ न करे तो दूसरी जलौका को प्रयोग में लावें। आर्द्र वस्त्र या पिचु से जलौका को सुख पूर्वक पकड़ा जाता है। इससे वह रक्त भी

*अलगन्तीषु क्षीरघृत नवनीत रुधिरान्यतम बिन्दून् न्यसेत्—अ. सं सू. ३५

शीघ्र पीने लगती है (आर्द्रवस्त्रावच्छन्नामिति इत्यं सुखिता शीघ्रं रक्तं पिवति--डल्लणः)

जलौका ने रुधिर पान करना आरम्भ कर दिया है, इसकी पहिचान यह है कि वह अश्वखुर की तरह मुख और ग्रीवा को ऊपर को उठाती है (यदा च निविशतेऽश्वखुर वत् आननं कृत्वोन्नम्य च स्कंधं तदा जानीयात् गृह्णातीति—सु.) और ग्रीवा प्रदेश में तरंग की तरह लहर प्रतीत होती है* जलौका द्वारा रुधिर पान आरम्भ हो जाने पर उसे गीले वस्त्र से ढक देना चाहिये और ऊपर से थोड़ा थोड़ा जल टपकाते रहें (गृह्णन्तींचार्द्रवस्त्रावच्छन्नां धारयेत् सेचयेच्च—सु.सू. १३; सेचयेच्चाम्भसाल्पाल्पम्—अ. सं. सू. ३५)

जलौका आरम्भ में दुष्ट रुधिर का ही पान करती है। जिस प्रकार हंस जल मिले दूध में से दूध को पी लेता है और जल को रहने देता है इसी प्रकार जलौकाएं भी रुधिर के दूषित अंश का ही पान करती है शुद्ध अंश का नहीं (यथा च हंसः क्षीरोदकात् क्षीरमादत्ते, तद्वदुत्क्लिष्टे रक्ते जलौका प्राक् दुष्टमसृक्—अ. सं. सू. ३५) वास्तव में जलौका पातन किया ही वहीं जाता है जहां केवल दुष्ट रुधिर का ही प्राचुर्य होता है। जब जलौकादंश के स्थान पर तोद, कण्डू आदि होने लगें तो शुद्ध रक्त की रक्षा के लिये जलौका को हटा देना चाहिये। यदि रक्तगन्ध या लौल्य के कारण जलौका न हटे तो उसके मुख पर सैन्धव लवण या हरिद्रा चूर्ण डालें (सैन्धव चूर्णेनावकिरेत् — सु. सू. १३) डल्लण के अनुसार जलौका के न हटने का कारण गर्द्ध या लौल्य अर्थात् रक्तपान की तीव्र अभिलाषा है गन्ध नहीं क्योंकि जलौकाओं के गन्धेन्द्रिय नहीं होती है (गन्धेनेति अयुक्तः पाठः, कुतः ? यस्माज्जलौकसां घ्राणेन्द्रियं नास्तीति)

इस प्रकार जब रक्तपान के उपरान्त जलौका को हटा लिया जाता है तो उसके शरीर पर तण्डुल कण्डन (तण्डुल त्वक् चूर्णम्—इन्दु) या तण्डुलगुण्डन (गुण्डनं कणाः—ड.) छिड़क दें तथा उसके मुख में भी तैल और लवण मलें। तत्पश्चात् वामहस्त के अंगुष्ठ और अंगुली से जलौका की पूंछ पकड़कर दाहिने हाथ के अंगुष्ठ और अंगुली से पूंछ से लेकर मुख तक शनैः २ अनुलोम (अनुकूल) पीडन कर वमन, करावे। इस प्रकार पीत रुधिर का वमन तब तक कराना चाहिये जब तक 'सम्यग्वान्ता' के लक्षण उपस्थित न

---

*यदा तु शिशुवत् श्वसन्त्यो शिरः स्पन्दोर्मि वेगैः पिवन्ति तदार्द्रवाससावच्छादयेत्—अ. सं. सू. ३५।

हों। वमन कराने के उपरान्त जलौका को जलपात्र (सलिल सरक) में छोड़ देने पर यदि वह खाने की तालाश में इधर उधर चलने लगे तो वह 'सम्यग्वान्ता' कहलाती है। 'दुर्वान्ता' वह जलौका होती है जो जल पात्र में छोड़ने पर जलपात्र में डूब जाये (सीदति = निमज्जति) और इधर-उधर न चले। भली प्रकार वमन करा देने पर जलौका में पहिले की तरह स्फूर्ति (पटुता) आ जाती है (पूर्ववत्पटुता दार्ढ्यं सम्यग्वान्ते जलौकसाम्—वा. सू. २६) वमन अधिक भी नहीं कराना चाहिये अन्यथा जलौका की मृत्यु हो सकती है (क्लमोऽतियोगान्मृत्युर्वा—वा.) दुर्वान्ता जलौका में स्तब्धता और मद होता है (दुर्वान्ते स्तब्धता मदः—वा.) जिस कारण वह कोई चेष्टा नहीं कर पाती।

जब पीत रुधिर जलौका में ही रह जाता है (दुर्वान्ता) तो उससे जलौका में स्तब्धता, मद आदि लक्षण पाये जाते हैं। जलौका का यह विकार "इन्द्रमद" या "रक्तमद" कहलाता है। इससे जलौका की* मृत्यु हो जाती है (दुर्वान्ताया व्याधि रसाध्य इन्द्रमदो (रक्तमदो) नाम—सु. सू. १३)

यदि अशुद्ध रुधिर अल्प मात्रा में शेष रह गया हो तो व्रण स्थान पर हरिद्रा, गुड और मधु लगाकर उस स्थान को मलें और रुधिर विस्रावण करावें (अशुद्धौस्रावयेत् दंशान् हरिद्रागुड माक्षिकैः—वा.)

जलौका पातन के पश्चात् अशुद्ध रुधिर के शेष रह जाने की अपेक्षा उसके अधिक स्रावित हो जाने की (अतियोग) आशंका रहती है। इसका कारण जलौका के गालों में स्थित अनेकों लघुग्रन्थियों (गल्लग्रन्थियों = Buccal Glands) से निकलने वाला Hirudin⊕ नामक स्राव है जिसमें रक्त को न जमने देने की (Anti-coagulant) अद्भुत क्षमता है। हिरुडिन नामक इस पदार्थ की एक रत्ती का छठा भाग (Gr. $\frac{1}{3}$) एक सौ सी० सी० रुधिर को पर्याप्त समय तक न जमने देने की शक्ति रखता है। जलौका जब रुधिर पान करती है तो हिरुडिन को रुधिर में मिलाकर उसे आसानी से पान योग्य बनाये रखती है। जब जलौका को हटाते हैं तो इस

---

*ता अप्यसम्यग्वमना त्प्रततं च निपातनात्। सीदन्ती सलिलं प्राप्ता 'रक्तमत्ता' इति त्यजेत्—वा. सू. २६।

⊕Hirudin. The active principle of a secretion derived from buccal glands of leeches. It prevents coagulation of blood.

पदार्थ का कुछ अंश शेष रह जाता है जिससे रुधिर अधिक देर तक स्रावित होता रहता है।

जलौकापातन के पश्चात् दो प्रकार की अवस्थाएं होती हैं; (१) योग (सम्यक्स्रुतिः) अर्थात् जलौका को हटाने के पश्चात् होने वाला स्वाभाविक रुधिर स्राव। इसको रोकने के लिये व्रण स्थान पर शतधौत घृत का अभ्यंग अथवा उसका पिचुधारण कराना चाहिये (शोणितस्य योगायोगान् अवेक्ष्य शतधौतघृताभ्यंग स्तत्पिचुधारणं वा—सु. सू. १३); (२) स्वाभाविक रुधिर स्राव न होने की अवस्था में तीन प्रकार की दशाएं हो सकती हैं; (i) हीन योग अर्थात् जलौका द्वारा उतना रुधिर पान न किया जाना जितना दूषित हुआ है। ऐसी अवस्था में जलौका–व्रण को मधु आदि से रगड़ना बताया है; (ii) अतियोग अर्थात् जलौकापातन के पश्चात् अधिक रुधिर स्राव होना। ऐसी अवस्था में रक्तस्राव को रोकने के लिये शीतल परिषेक और बन्धन बताये हैं। शीतल जल से सिञ्चन करने से रक्तवाहिनियों के छिन्न मुख सिकुड़ जाते हैं जिससे रक्त रुक जाता है। यदि इस प्रकार लाभ न हो तो बन्धन किया जाता है जो कटी हुई रक्तवाहिनियों अथवा व्रण को बांध देना इस तरह दो प्रकार का होता है (शीतलजलपरिषेचनं बन्धनं च जलौकोमुख पदस्य रक्तस्थित्यर्थम् —डल्लणः) अथवा 'शोणित स्राव' के प्रसंग में बताये गये उपायों का अवलम्बन करना चाहिये। (iii) मिथ्या योग होने पर व्रण स्थान पर कषाय, मधुर, स्निग्ध और शीतल द्रव्यों का प्रयोग करें।

जलौकापातन एक से अधिक जलौकाओं को एक साथ क्रमशः लगाकर भी किया जा सकता है (तामित्येक वचननिर्देशादेकैकां मोक्षयेन्नतु सर्वाः सकृदेवेति गमयति—अरुणदत्तः) साधारणतः दो साल के बालक के लिये एक जलौका और इसी अनुपात से अनेक जलौकाओं का एक साथ प्रयोग होता है किन्तु दस जलौकाओं से अधिक एक समय में नहीं लगानी चाहिये। जलौका को ऐसे स्थान पर लगाना अधिक उपयोगी होता है जहां पर दबाव डालकर रुधिरस्राव को रोकना आसान हो, जैसे—किसी अस्थि के ऊपर का स्थान*। जब जलौकाएं अधिक संख्या में उपलब्धन हों तो रक्त पीती हुई जलौकाकी पूंछ में सूई से छिद्र कर देने से वह मुख से रक्त पीती रहती है और वह पूंछ की ओर से निकलता रहता है। इस प्रकार जलौका को वमन कराकर लगाना आदि की आवश्यकता नहीं रहती है और प्रायः एक ही जलौका से कार्य सिद्धि

*अस्थ्नामुपरि कुठारिकया विध्येदर्धयवमात्रकम्—सु. शा. ८।

हो जाती है। अष्टांग संग्रहकार के अनुसार एक बार प्रयुक्त की गयी जलौका का एक सप्ताह से पहिले रक्तावसेचन के लिये प्रयोग नहीं करना चाहिये (सप्तरात्रं च ताः पुनर्न पातयेत्--अ. सं. सू. ३५)

संहिता ग्रन्थों के अनुसार वे जलौकाएं स्त्री जाति की होती हैं जिनके शरीर का अधोभाग बड़ा, शिर छोटा, त्वचा पतली और प्रकृतितः सुकुमार हों। पुरुष जाति की जलौकाएं इससे विपरीत, अर्थात् उनका ऊर्ध्वभाग तथा शिर बड़ा होता है और त्वचा स्थूल होती है। इनकी प्रकृति भी सुकुमार नहीं होती है। पुरुष जलौका बहुत दोषयुक्त तथा चिरकालीन व्याधियों और स्त्री जलौकाएं अल्प दोषोत्थ तथा अल्पकालीन व्याधियों में प्रयुक्त की जाती है।

जलौका का प्रयोग निम्नलिखित व्याधियों में होता है:—

पित्तज ओष्ठ प्रकोप (जलौकोभिरुपाचरेत्—सु. चि. २२-४), अल्प कुष्ठ (प्रच्छितमल्पं कुष्ठं विरेचयेद्वा जलौकोभिः— च. चि. ७-५२) वातरक्त (रुग्रागतोददाहेषु जलौकोभिर्विनिर्हरेत्—वा. चि. २२-२) पैत्तिक ग्रन्थि (जलायुकाः पित्तकृते हितास्तु—च. द.) और सभी प्रकार की विद्रधियां (जलौकापातनं शस्तं सर्वस्मिन्नेव विद्रधौ—च. द.) इसी प्रकार अन्य भी अनेकों व्याधियों में रुधिर विस्रावण के लिये जलौकाओं का प्रयोग होता है⊕।

रुधिर विस्रावण के लिये जलौकाओं का पाश्चात्य वैद्यक में भी अनेकों व्याधियों में प्रयोग होता है। तीव्रशुष्क पार्श्वशूल (Acute dry pleurisy) की तीव्र वेदना के प्रशमन के लिये जलौका प्रयोग किया जाता है (Leeches may also give relief in severe cases—Price) फुप्फुस की रक्ताधिक्यता (Hyperaemia) में तनाव को कम करने के लिये छः जलौकाएं तक एक साथ लगायी जाती हैं (If this is not practicable, the application of 6 leeches over the liver.........may be tried—Price) हृद्विकारों (Cardiac Affections) की चिकित्सा में भी जलौकापातन प्रशस्त है (If venesection is not practicable, 6–8 leeches over the right ventricle or liver may be of service—Price) इसी प्रकार अन्य भी अनेकों विकारों में जलौकाओं का प्रयोग किया जाता है।

⊕गुल्मार्शो विद्रधिकुष्ठ वातरक्तगलामयान्।
नेत्ररुग् विषवीसर्पान् शमयन्ति जलौकसः—वाग्भटे प्रक्षिप्तः श्लोकः।

यूनानी वैद्यक में जलौकाओं का शोणितविस्रावण के अतिरिक्त भी उपयोग होता है। इसकी भस्म को तिलाओं में मिलाकर ध्वजहर्ष के लिये पुरुष जननेन्द्रिय पर लगाते हैं। इस भस्म को तैल के साथ खरलकर पक्ष्मकोप पक्ष्मशात आदि में भी लेप करते हैं और इसका लेप अर्श के अंकुरों को शुष्क करने के लिये भी होता है। चरक ने इसके पुरीष को अपस्मार में नस्यार्थ उपयोगी बताया है (जलौकः शकृता तद्वद्दग्धैर्वा ·· नावनम्–च.चि. १०–४०)

जलौकाओं के प्रयोग के सम्बन्ध में सुश्रुत ने लिखा है कि—

क्षेत्राणि ग्रहणं जातीः पोषणं सावचारणम्।
जलौकसांच योवेत्ति तत्साध्यान् स जयेत् गदान्॥ सू. १३॥

अर्थात्—जलौकावचारण से उस चिकित्सक को सफलता मिलती है जो जलौकाओं के क्षेत्र (उत्पत्ति स्थान), आर्द्रचर्म से ग्रहण करना आदि, इनकी सविष एवं निर्विष जातियां, नये घड़े में रखना आदि जलौकाओं के पालने के तरीके और जलौकाओं को लगाना, हटाना एवं उनके पश्चात्कर्म को जानता है।

(iii) अलाबू (Gourd अथवा Cupping)

अलाबु कटुकं रूक्षं तीक्ष्णञ्च परिकीर्तितम्।
तस्मात् श्लेष्मोपसृष्टे तु हितं तदवसेचने॥ सु. सू. १३॥

अर्थात्–अलाबू* (लौकी, घीया) कटु, रूक्ष और तीक्ष्ण होती है। इस कारण यह कफ से विकृत रुधिर को निकालने के लिये हितकर है।

अष्टांग संग्रहकार ने अलाबू की तरह 'घटिका' का भी उल्लेख किया है। दोनों के प्रयोज्य स्थल समान हैं। इनके अनुसार अलाबू और घटिका का रक्त–पित्त से दुष्ट हुये रुधिर को निकालने के लिये प्रयोग नहीं करना चाहिये (रक्तपित्तेन दुष्टमलाबू घटिकाभ्यान्न निर्हरेत्—अ. सं. सू. ३५) क्योंकि इनके (अग्नि के) सम्पर्क में आने से रक्तपित्त प्रकोप होने की आशंका होती है (अग्निसंयोगात्पित्तरक्तकोपोत्पत्तेरिति भावः—अरुणदत्तः) अतः अलाबू और घटिका कफ और वायु से दूषित रुधिर को निकालने के लिये उपयोगी हैं (युञ्ज्याच्च कफवायुना—वा.)

रक्तावसेचनार्थ अलाबू की एक विशिष्ट उपयोगिता है और इसी आधार पर शृंग की तरह अलाबू का भी नाडी यन्त्रों में परिगणन किया गया

*(i) तुम्ब्यलाबूरुभे समे—अमरकोषः।
(ii) अलाबूः कथिता तुम्बी—भा. प्र.।

है। इसकी आकृति लम्बाई आदि का वर्णन यन्त्र प्रकरण में किया गया है।

अलाबू प्रयोग विधि—शृंग में दोनों ओर छिद्र होते हैं। अतः उसके अन्दर निर्वात (Vacuum) स्थिति उत्पन्न करने के लिये उसके सूक्ष्मच्छिद्र में से अन्दर की वायु को खेंच लिया जाता है। किन्तु अलाबू एक मुखी नाडी है इसमें इस प्रकार निर्वातस्थिति उत्पन्न करना सम्भव नहीं है। अतः संहिताकारों ने अलाबू की विशेष प्रयोग विधि का वर्णन किया है:—

तथा प्रदीप्त पिचुगर्भाभ्यामलाबू घटिकाभ्यामिति—अ. सं. सू. ३५।

अर्थात्—अलाबू या घटिका का प्रयोग उनके अन्दर पिचु जलाकर तथा उन्हें उलटाकर प्रयोज्य स्थल पर लगाकर किया जाता है। पिचु या रूई के फोए को मेथिलेटड स्प्रिट में या मद्य में भिगोकर अलाबू के अन्दर रखकर आग लगा देते हैं तो उसके उपरान्त भी वह कुछ समय तक (जब तक कि उसके अन्दर की प्राणवायु (Oxygen) जल नहीं जाती) जलता रहता है। प्राण वायु के जल जाने के उपरान्त पिचु बुझ जाता है किन्तु इस प्रकार (प्राण वायु के न रहने से) जो अलाबू के अन्दर निर्वात स्थिति उत्पन्न होती है उससे खिचाव उत्पन्न होता है और प्रच्छित भाग से रुधिर निकल आता है (सान्तर्दीपयाऽलाब्वा—सु. सू. १३; अत्र यत् किंचिदाग्नेयं मद्यसारं वाऽलाब्वन्तः प्रणिधायाग्निं प्रज्वाल्य प्रच्छिते समेदेशे सान्तर्दीपामेव तामलावूं न्युब्जीकृत्य सममाशुनिदध्यात् शोणितावसेचनार्थम् —हाराणचन्द्रः)

अलाबू का दोषानुसार प्रयोग करने के अतिरिक्त यह उस दूषित रुधिर को निकालने के लिये भी अधिक उपयोगी होती है जो त्वचा में स्थित होता है (त्वक्स्थेऽलाबुघटी शृङ्गम्—वा. सू. २६) सुश्रुत के अनुसार अवगाढतर दुष्ट शोणित को निकालने के लिये भी अलाबू उपयोगी है (अवगाढतरं तुम्बैः—ड.)

वातरक्त के चिमचिमायमान और कण्डू युक्त रुधिर को अलाबू से निकालना चाहिये (शृङ्ग तुम्बैश्चिमिचिमकण्डू रुग्दूयनान्वितम्—वा. चि. २२) कुष्ठ में भी अलाबू का प्रयोग किया जाता है (रुधिरागमार्थं मथवा शृङ्गालाबूनि योजयेत्कुष्ठे—च. चि. ७) इसी प्रकार अन्य भी अनेकों विकारों में आलाबू प्रयोग प्रशस्त है।

पाश्चात्य वैद्यक में अलाबू प्रयोग "कपिंग = (Copping)" नाम से व्यवहृत है। इसमें शीशे का बना इतना बड़ा गिलास नुमा पात्र लिया जाता है जिसमें ३–४ औंस पानी आ सके। 'कपिंग' दो प्रकार से किया जाता है—

(१) शुष्क (Dry) और स्रावी (Wet) शुष्क में पछने नहीं लगाये जाते हैं। इसे १०–२० मिनट तक लगाते हैं। इसका उपयोग वृक्क को उत्तेजित करना तथा न्यूमोनियां आदि में रक्ताधिक्य (Congestions) को दूर करना आदि में होता है। स्रावी का प्रयोग प्रच्छित स्थान पर होता है किन्तु उस स्थान का क्षौर कर्म और विसंक्रमण पहिले ही कर देना चाहिये। Dry cupping प्रतिक्षोभक (Counter irritant) भी होता है। यह रुधिर को पृष्ठ (Surface) पर ले आता है।

(iv) प्रच्छान (Scarification)

प्रच्छानं पिण्डिते हितम्––सु. शा. ८।

अर्थात्—पिण्डित (आभ्यन्तराश्रय) रुधिर का अवसेचन करने के लिये प्रच्छान विधि हितकर होती है।

शृंग (Wet Cupping) और अलाबू (Wet Cupping) का प्रयोग जहां करना होता है वहां इनको प्रयुक्त करने से पहिले दुष्ट रुधिर युक्त स्थल को प्रच्छित कर लिया जाता है; अन्यथा रुधिर विस्रावण सम्भव नहीं है (तत्र प्रच्छिते तनुवस्त्र पटलावनद्धेन शृंगेण ·· सान्तर्दीपयाऽला-ब्वा—सु. सू. १३) जलौका पातन में भी जब जलौका रक्तपान न कर रही हो तो प्रयोज्य स्थल को प्रच्छित कर देने का निर्देश किया है (शस्त्रपदानि वा कुर्वीत––सु. सू. १३) इस प्रकार यद्यपि प्रच्छान शृंगादि का अंगभूत शस्त्र-कर्म है कोई प्रमुख रक्तविस्रावणोपाय नहीं तथापि इसका मुख्य रूप से वहां प्रयोग होता है जहां केवल पछने लगाकर ही शोणित विस्रावण अभिप्रेत होता है और आचूषण द्वारा उसकी विस्रावण क्रिया को बढ़ाने की आव-श्यकता नहीं होती है; जैसे—त्वक्स्थ विकारों में जब रुधिर पिण्डित हो अथवा दूषित रुधिर एक देशस्थ हो (प्रच्छानेनैकदेशस्थम्––वा. सू. २६)

प्रच्छान क्रिया इस प्रकार करनी चाहिये कि (१) सिरा, स्नायु, अस्थि मर्म आदि क्षतिग्रस्त न हों (स्नायुसंध्यस्थिमर्माणि त्यजन् प्रच्छान माचरेत्–– वा. सू. २६) (२) प्रच्छान में शस्त्र प्रयोग नीचे से ऊपर की ओर को करना चाहिये (अधोदेशप्रविसृतैः पदैरुपरि गामिभिः—वा.) (३) प्रच्छान न गाढ (खर) हों, न घन (बहुत पास २) हों, न तिर्यक् (तिरछे) हों और (४) न एक प्रच्छान पर ही दूसरा प्रच्छान लगाया जाये (नगाढ घनतिर्यग्भिर्न पदे पदमाचरन्––वा.)

इन्द्रलुप्त नामक विकार में प्रच्छान कर दूषित रुधिर को निकाल

दिया जाता है (प्रच्छयित्वाऽवगाढं वा—सु. चि. २०) वातरक्त में भी प्रच्छान किया जाता है (देशाद्देशं व्रजत् स्राव्यं सिराभिः प्रच्छनेन वा—च. चि. २९) कुष्ठ यदि अधिक बढ़ा हुआ न हो तो भी प्रच्छान द्वारा दुष्ट रुधिर निकाल दिया जाता है (प्रच्छितमल्पं कुष्ठम्—च. चि. ७) इसी प्रकार अन्य भी अनेकों विकारों में प्रच्छान किया जाता है।

(iv) सिराव्यधन

(VENESECTION)

सिराव्यध श्चिकित्सार्धं शल्यतन्त्रे प्रकीर्तितः—सु. शा. ८।

अर्थात्—शल्यतन्त्र में सम्पूर्ण औषध चिकित्सा का आधा भाग* केवल सिरावेधन है। इसका अभिप्राय यह है कि शल्यसाध्य अधिकांश व्याधियां सिरावेधन द्वारा ठीक हो जाती हैं। जिस प्रकार तीनों दोषों में प्रधान वात दोष के प्रशमन के लिये ⊕बस्तिकर्म सर्वोत्तम है उसी प्रकार शल्यतन्त्र में सिरावेधन का महत्व है (यथा प्रणिहितोबस्तिः सम्यक् काय चिकित्सिते—सु. शा. ८) अष्टांगसंग्रहकार के अनुसार तो सिराव्यध सम्पूर्ण चिकित्सा है⊕।

अव्यध्य अवस्थाएं—

बालक और वृद्ध व्यक्तियों की सिरा का वेधन नहीं करना चाहिये क्योंकि बालक में धातुएं सम्पूर्ण नहीं होती हैं और वृद्धों की धातुएं क्षीण हो चुकी होती हैं। क्षत (उरःक्षत या खड़गाद्यभिहत) से क्षीण हुये व्यक्तियों में सिरावेधन करने से वात प्रकोप होने का भय रहता है। जो भीरु (डरपोक) प्रकृति के होते हैं वे रक्त को देखते ही मूर्च्छित हो जाते हैं (केचिद्रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुविमानवाः) क्योंकि ऐसे व्यक्ति तमोबहुल होते हैं। परिश्रान्त (थके हुये) व्यक्तियों में श्रमकुपित वात पूर्व ही उपस्थित होता है और रक्तमोक्षण करने से वह और अधिक कुपित हो जाता है। मद्यपान करने वाले व्यक्तियों का चित्त मदविक्षिप्त होता है और उनमें सिरावेधन किया जाये तो उनके और अधिक मूर्छित होने का भय रहता है। इसी प्रकार अध्व (मार्ग)

---

*शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम्। बस्तिर्विरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु—वा. सू.

⊕सिराव्यध श्चिकित्सार्थं सम्पूर्णंवाचिकित्सितम्। शल्य तन्त्रे स्मृतो-यद् वत् बस्तिःकायचिकित्सिते—अ. सं. सू. ३६

और स्त्रीकर्षित व्यक्तियों की सिराएं भी अव्यध्य होती हैं क्योंकि इससे भी वात प्रकोप सम्भव है। वान्त (जिसे वमन कराया गया हो), विरिक्त (जिसे विरेचन कराया हो), आस्थापित और जागरित (जिसे नींद न आती हो) व्यक्तियों में भी सिरावेध करने से वात प्रकोप हो जाता है। अनुवासित व्यक्ति में इस हेतु सिरावेध नहीं किया जाता है कि पहिले ही से उपस्थित मन्दाग्नि और अधिक बढ़ जाती है। क्लीव व्यक्ति में प्रधान शुक्र धातु की अनुपस्थिति से वह अल्पसत्व होता है और सिरावेध से उसका निश्चित नाश होता है। कृश और गर्भिणी भी क्षीण धातु होने से अव्यध्य सिरावाले होते हैं। इसी प्रकार कास, श्वास और शोषपीड़ित भी अल्पधातु वाले होते हैं। तीव्र ज्वर युक्त व्यक्तियों में शोणित स्राव से प्रलापादि हो जाते हैं अतः इनमें भी सिरा का वेधन नहीं करना चाहिये। सुश्रुत ने आक्षेपक, पक्षाघात, उपवास, पिपासा, मूर्च्छा आदि से पीड़ित व्यक्तियों में भी वातप्रकोप भय से सिरावेध का निषेध किया है। जिनमें पंचकर्म कराया गया है उनकी सिराएं भी अव्यध्य होती हैं।

जिन सिराओं को (सु. शा. ७ में) अव्यध्य बताया है (ऐसी सिराएं शाखाओं में सोलह, कोष्ठ में बत्तीस और जत्रु से ऊर्ध्वभाग में पचास हैं) उनका भी वेधन नहीं करना चाहिये। यदि वेधन कर्म के योग्य सिराएं भी दिखाई न दे रही हों तो उनका भी वेधन नहीं करना चाहिये। व्यध्य और दृश्य सिराएं भी बिना यन्त्रण किये और यन्त्रण करने पर भी अनुत्थित हों तो वेधन निषिद्ध है (याश्चाव्यध्याः, व्यध्याश्चादृष्टाः, दृष्टाश्चायंत्रिताः, यन्त्रिताश्चानुत्थिता इति—सु. शा. ८)

अत्युष्ण और अतिशीतकाल में, अतिवात तथा दुर्दिन में, अस्निग्ध एवं अस्वेदित तथा अत्यर्थस्वेदित व्यक्तियों में भी सिरावेध निषिद्ध है। किन्तु ऊपर जो सिरावेधन का निषेध बताया है आत्ययिक अवस्था में उसका पालन नहीं किया जाता है क्योंकि संकटकालीन परिस्थितियों में रोगी की जीवन रक्षा ही एक मात्र उद्देश्य होता है (अतिपातिषु रोगेषु नेच्छेद्विधिमिमां भिषक्। प्रतीप्तागारवच्छीघ्रं तत्र कुर्याच्चिकित्सितम्—सु.) ऐसी अवस्था में शीतादिक की उपयुक्त व्यवस्था कर शोणितावसेचन कर दिया जाता है*।

यद्यपि रक्तावसेक से ठीक होने वाली सभी व्याधियों में सिरावेध विहित है (शोणितावसेक साध्याश्च ये विकाराः प्रागभिहिता स्तेषु चापक्वेषु नानुक्तेषु

*शीते शीत प्रतीकारमुष्णे चोष्ण निवारणम्।
कृत्वा कुर्यात् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत्॥ सुश्रुतः॥

यथाभ्यासं यथान्यायं च सिरां विध्येत्—सु. शा. ८) तथापि जब दोष शरीर व्यापी होता है प्रायः तभी सिरावेध प्रभावशाली होता है (सिराऽङ्ग व्यापके रक्ते—सु. शा. ८–३८) सार्वाङ्गिक अवगाढ रक्त भी सिरावेध द्वारा ही निकालना लाभकर है।

वस्तुतः सिरावेध बहुविध व्याधियों में बहुत उपयोगी होता है। स्नेहन, स्वेदन, लेपन आदि के द्वारा व्याधियां इतनी शीघ्र शान्त नहीं होती हैं जितनी शीघ्र उपयुक्त सिरा के वेध करने पर होती हैं (स्नेहादिभिः क्रियायोगै नं तथा लेपनैरपि। यान्त्याशु व्याधयः शान्तिं यथा सम्यक् सिराव्यधात्—सु. शा. ८)

सिरावेध एक कुशलसाध्य कार्य है। निपुण व्यक्ति भी असावधानता के कारण इस कर्म में कठिनता से सफलता प्राप्त कर पाते हैं क्योंकि सिराएं मछली की तरह अत्यन्त चपल (सहसा इधर–उधर को फिसल जाने वाली) होती हैं और वेधन के ऐन वक्त पर सामने से हट जाने के कारण सम्यक् प्रकार से विद्ध नहीं हो पाती हैं। अतः अभ्यास द्वारा नैपुण्य प्राप्त चिकित्सक भी सावधान रहकर ही भली प्रकार सिरावेध कर सकता है (तस्याद्यत्नेन-ताड़येत्—सु. शा. ८)

सिरावेध काल—

यद्यपि अधिक उष्णता, शीतता या दुर्दिन में सिरावेध निषिद्ध बताया है किन्तु शीत, उष्ण और वर्षा ऋतुओं में भी उपयुक्त अवसरों पर सिरावेध किया जाता है। वर्षा ऋतु का वह काल सिरावेध के लिये उपयुक्त होता है जिसमें बादल न हों (व्यभ्रे वर्षासु विध्येत्—सु.) इसी प्रकार ग्रीष्मकाल में जो शीतल समय हो; जैसे—तृतीय प्रहर के पश्चात् या प्रातः और शीतर्तु में मध्याह्नकाल एतदर्थ उपयुक्त है (ग्रीष्मकाले तु शीतले। हेमन्तकाले मध्याह्ने—सु.) भिन्न भिन्न ऋतुओं पर आधारित सिरावेध के ये 'तीन काल' हैं (शस्त्रकालास्त्रयः स्मृताः—सु.) यद्यपि क्षीण, मूर्च्छित आदि में सिरावेध निषिद्ध है किन्तु आत्ययिक अवस्था में सिरावेध करना हो तो इनमें एक समय में ही सम्पूर्ण रुधिर नहीं निकाल देना चाहिये अपितु अपराह्न में, दूसरे दिन या तीसरे दिन स्रावण कराना चाहिये (भूयोऽपराह्ने विस्राव्या साऽपरेद्युस्त्र्य हेऽपिवा—सु. शा. ८)

सम्यक् स्रावित या सुविद्धा वह सिरा होती है जिसमें शस्त्रपातन के उपरान्त रुधिर धार के रूप में बाहर निकले (धारया या स्रवेदसृक्—सु.) और दबाव डालने पर मुहूर्त मात्रमें रुधिर रुक जाये (मुहूर्तं रुद्ध्वातिष्ठेच—

सु.) सम्यग्विद्धा सिरा का नियन्त्रण हटा देने से शोणितस्राव स्वतः बन्द हो जाता है (यन्त्रे मुक्ते तु न स्रवेत् -वा. सू. २७)

सिरावेध में प्रयुक्तशस्त्र —

व्रीहिमुख और कुठारिका को सिरावेधनार्थ प्रयुक्त करते हैं। यदि सिरा मांसल स्थान में स्थित हो तो व्रीहिमुख शस्त्र को व्रीहिमात्र प्रविष्ट कर सिरा का वेधन किया जाता है और यदि अस्थि के ऊपर स्थित सिरा का वेधन करना हो तो कुठारिका का प्रयोग किया जाता है तथा इससे आधे यवके बराबर ही वेधन करते हैं (यवार्धमस्थ्ना मुपरिसिरां विध्यन् कुठारिकाम्— वा. सू. २७–३३) सुश्रुत ने तैल पायित शस्त्र को सिरावेधन के लिये उपयोगी बताया है (तैलपायितं सिराव्यधन स्नायुच्छेदनेपु—सु. सू. ८–१०)

सिरानियन्त्रण—

ऐसी सिरा के वेधन का निषेध किया गया है जिसका नियन्त्रण न किया गया हो। यह आरम्भ में ही बताया गया है कि सिराएं मत्स्य की तरह चंचल होती हैं और वेधन काल में इधर-उधर फिसल जाती हैं। अनुत्थित और अनियन्त्रित सिरा विद्ध कर दी जाये तो उससे शोणितस्राव भली प्रकार नहीं होता है (न वहन्ति सिराविद्धास्तथाऽनुत्थित यन्त्रिताः—सु. शा. ८)

साधारणतः सिरावेध करने के लिये रोगी को स्नेहन और स्वेदन कर यवागू अथवा द्रवप्राय आहार कराया जाता है (रक्तोत्क्लेशनार्थं द्रवाधिकमन्नं भुक्तवन्तम्—ड.) तदनन्तर रोगी को बिठाकर या खड़ाकर (आसीनं स्थितं वा—सु.) अथवा लिटाकर वस्त्रपट्ट, चर्म, अन्तर्वल्कल आदि में से किसी एक के द्वारा उपयुक्त स्थल पर सिरा के उत्थान तथा नियन्त्र के लिये इस प्रकार बान्धें कि बन्धन न अधिक शिथिल हो और न अधिक गाढ (प्राणानवाधमान ·· नातिगाढं नाति शिथिलम्—सु.) आज कल सिरावेधन में बन्धन के लिये रक्तभार मापक (Sphygmo mano meter) के पट्ट का प्रयोग भी करते हैं और इसे पश्चाद्-भुजा में ऊपर कन्धे के समीप बांधकर दबाव डालते हैं जो 70 और 90 M. M. Hg. के मध्य होता है। यह दबाव लगभग इतना होता है कि धमनीरक्तसंचार रुकता नहीं है जिसे धमनी स्पर्श कर निर्णीत किया जा सकता है। अधिकतर मध्यबाहुका योजनी सिरा (Median cubital vein) का वेध होता है। सम्प्रति सिरावेधन के लिये उपकरण भी प्राप्य है जो सिरावेधन-उपकरण (Venesection Apparatus) कहलाता है।

आयुर्वेद में शरीर की भिन्न भिन्न सिराओं का भिन्न भिन्न रोगों में वेधन करने का विधान है। अतः उनकी नियन्त्रणविधि भी पृथक है। यदि उत्तमाङ्ग की किसी सिरा का वेधन करना हो तो रोगी को अरत्निमात्र (कनिष्ठांगुलिप्रमितहस्त मात्रोच्छ्रिते—डल्लण) ऊँचे आसन पर इस प्रकार बिठावें कि उसके हाथ के अंगूठे अन्दर की ओर को मुड़े हों और तब मुट्ठी बन्धे हाथों को ग्रीवा में मन्या पर रखवादें और कोहनियों को जानु प्रदेश पर टिकवा दें। तत्पश्चात् यन्त्रण शाटक को ग्रीवा और मुट्ठी पर डालकर उसके प्रान्तों को रोगी के पीछे खड़े सहायक को पकड़वादें जो पृष्ठमध्य में पकड़कर उन्हें कपड़ा निचोड़ने की तरह सिरा के उत्थान के लिये ऐंठता है। कर्म पुरुष (यस्य सिराव्यधनं कर्म क्रियते स कर्मपुरुषः—डल्लणः) इस समय अपने मुख में वायु भर लेता है।

यह मुख के अन्दर की सिराओं को छोड़कर शिर की सभी सिराओं के उत्थान और नियन्त्रण करने की विधि है।

पादसिरावेध के लिये पाद को समस्थल पर दृढता पूर्वक टिकाकर जानु सन्धि से नीचे यन्त्रण शाटक को कस कर लपेट दिया जाता है और बन्धन से नीचे गुल्फ की ओर को चिकित्सक दोनों हाथों से निपीडन करता है। यन्त्रण शाटक को व्यध्यदेश से चार अंगुल ऊपर भी बांधा जा सकता है। इस प्रकार पैर की व्यध्य सिरा नियन्त्रित और भली प्रकार उत्थित हो जाती है।

हस्तसिरावेधनार्थ अंगूठे को अन्दर की ओर कर मुट्ठी बांधने के उपरांत हाथ को यथोचित स्थान पर टिका दिया जाता है और यन्त्रण शाटक को कूर्पर संधि से नीचे या व्यध्यदेश से चार अंगुल ऊपर बांध देते हैं। सिरा के भली प्रकार उत्थान के लिये मुट्ठी में पाषाण आदि को लेकर जोर से मुट्ठी बांधनी चाहिये।

विश्वाची (बाह्वोःकर्म क्षयकरी विश्वाची—सु.) में कूर्पर को और गृध्रसी में जानु को संकुचितकर सिरावेधन किया जाता है। श्रोणि, पृष्ठ और कन्धे की किसी सिरा का वेध करना हो तो रोगी को सामने की ओर झुका कर तथा शिर नीचे कर बैठाया जाता है जिससे पीठ तन जाती है। उदर तथा वक्षःस्थल की सिरा का वेधन करना हो तो रोगी को शिर ऊँचाकर छाती फुलाने के लिये कहा जाता है। इसी प्रकार उदर को भी फुलाकर उदर की सिराओं का उत्थान किया जाता है। पार्श्व की ओर की सिरा का वेध करने के लिये रोगी वृक्ष आदि की शाखा के सहारे बाहुओं से लटक जाता है। मेढ़ सिरा का वेध मेढ़ को अवनामित (झुकाया) कर किया जाता है। जीभ को अन्दर की ओर मोड़कर अधोजिह्वा सिरा का वेध करते हैं। तालु और

दन्तमूलों के सिरावेध के लिये रोगी अपने मुख को पूर्णतया खोल लेता है।

सिराओं के नियन्त्रण तथा उत्थान के लिये ये उपाय उपलक्षण मात्र हैं। चिकित्सक रोगानुसार तथा शरीर की दशा के अनुसार अन्य भी उपायों का प्रयोग कर सकता है (एवं यन्त्रणोपायानन्यांश्च सिरोत्थापन् हेतून् बुद्धचावेक्ष्य शरीरवशेन च विदध्यात्—सु. शा.)

रोगानुसार सिरावेध—

पैर के अंगुष्ठ और अंगुली के मध्य का स्थान क्षिप्र नामक मर्म है। इससे दो अंगुल ऊपर की सिरा, जो पाद पृष्ठिका सिराजाल (Dorsal venous arch) कहलाती है, का वेध पादहर्ष, पाददाह, अवबाहुक, चिप्प, विसर्प, वातरक्त, वातकण्टक, विर्चाचिका और पाददारी आदि विकारों को दूर करने के लिये किया जाता है।

श्लीपद नामक रोग में वातादि के अनुसार भिन्न २ सिराओं का वेध किया जाता है जिसका वर्णन श्लीपद की चिकित्सा के प्रसंग में किया गया है। खञ्ज* (Claudication) क्रोष्टुशीर्ष⊕, पंगु (पंगुः सक्थ्नोर्द्वयोर्वधात्—सु.) और वात वेदनाओं में गुल्फ से चार अंगुल ऊपर स्थित सिरा का वेध किया जाता है। इस सिरा का नाम 'ह्रस्वोत्ताना सिरा (Small saphenous vein)' है। अपची में इन्द्रबस्ति नामक मर्म (पार्ष्णि प्रति जंघामध्ये इन्द्रबस्तिनाम मर्म-सु.; अग्रबाहु में इन्द्रबस्ति = Cubital Fossa) से दो अंगुल नीचे की सिरा (ह्रस्वोत्ताना सिरा) का वेध किया जाता है। विश्वाची⊙ और गृध्रसी (Sciatica) में जानुसंधि से चार अंगुल ऊपर या नीचे की सिरा (दीर्घोत्ताना या ह्रस्वोत्ताना सिरा) का वेध किया जाता है। गलगण्ड (Goiter) में ऊरुमूल में स्थित और्वी सिरा (Femoral vein) का वेध करते हैं। प्लीहवृद्धि में वामभुजा के दो स्थानों पर सिरावेध किया जाता है; (१) कर्पर सन्धि के सामने की मध्यबाहुका योजनी सिरा (Median Cubital vein) या (२) कनिष्ठिका और अनामिका के

---

* वायुः कट्याश्रितः सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेत्यदा।
खञ्जस्तदा भवेज्जन्तुः—सुश्रुत नि. १॥

⊕वातशोणितजः शोथो जानुमध्ये महारुजः।
ज्ञेयः क्रोष्टुशीर्षस्तु ...... सु. नि. १॥

⊙तलं प्रत्यंगुलीनां याः कण्डरा बाहुपृष्ठतः।
बाह्वोः कर्मक्षयकरी विश्वाची चेति चोच्यते॥ सु.

मध्य स्थित 'प्रथमा पृष्ठीया करांगुली मूल शलाका सिरा' = (First doroal metacarpal vein) का वेध करते हैं। यकृद्दाल्युदर में तथा कास और श्वास के रोगों में भी दाहिनी ओर की इन्हीं सिराओं का वेध किया जाता है।

प्रवाहिका में शूल उपस्थित होने पर श्रोणिप्रदेश के चारों की दो अंगुल क्षेत्र में स्थित सिरा का वेध (सम्भवतः Superficial circumflex iliac vein) करना चाहिये। शिश्नपृष्ठिका सिरा (Superficial dorsal vein of the penis) का वेधन परिवर्तिका (Para phimosis) उपदंश, शूकदोष और शुक्रसम्बन्धि विकारों में किया जाता है। पार्श्वशूल (Dry pleurisy) और अन्तर्विद्रधि में वामपार्श्व की कक्षा और स्तन के मध्य की (Long thoracic vein) सिरा का वेध किया जाता है। कुछ आचार्यों के मत के अनुसार बाहुशोष और अवबाहुक में अंसों के मध्य स्थित सिरा का वेधन करना चाहिये। तृतीयक (Tertian) ज्वर में त्रिकसंधि के मध्य स्थित सिरा का और चतुर्थक (Quartan) ज्वर में अंस सन्धि के अधःस्थित किसी भी पार्श्व की सिरा का वेधन करना चाहिये।

अपस्मार (Epilepsy) में हनुसन्धि के मध्य की सिरा और उन्माद में शंख प्रदेश तथा केशान्त सन्धिगत सिरा (Superficial Temporal Vein) अथवा उरः, अपांग और ललाट की सिरा का वेधन करना चाहिये। दन्तव्याधि और जिह्वा रोगों में अधोजिह्वा सिरा (Sublingual Vein) का, तालुगत रोगों में तालव्य सिरा का, कर्ण रोगों में कान के ऊपर या आस पास की किसी सिरा का और गन्ध का ज्ञान न होना आदि नासा रोगों में नासाग्रसिरा का वेध करना चाहिये। तिमिर, नेत्रपाक आदि नेत्र विकारों में उपनासिका सिरा का वेध विहित है अथवा ललाट स्थित (लालाटच) या अपांग (आपाङ्गच) की सिरा का वेध करना चाहिये। लालाटच, आपाङ्गच और उपनासिका सिरा का वेध शिरो रोग, अधिमन्थ आदि विकारों में भी किया जाता है।

ऊपर रोगानुसार जिन २ सिराओं के वेधन का निर्देश किया है यदि ये स्थौल्य आदि के कारण दिखाई न दें तो समीप की किसी ऐसी सिरा का वेधन कर देना चाहिये जो मर्म स्थान पर न हो (मर्महीने यथासन्ने देशेऽन्यां व्यधयेत् सिराम्—वा. सू. २६)

सिरावेधन में अधिक रुधिर स्राव हो तो उसकी तत्काल अवरोधक चिकित्सा, जैसाकि 'शोणितस्राव' प्रकरण में बतायी गयी है, करनी चाहिये।

उपयुक्त सिरा का सम्यग्वेधन होने पर भी मूर्च्छा, भय, यन्त्रशैथिल्य, कफावृत व्रणता आदि के कारण रुधिर भली प्रकार नहीं निकलता है, अतः अल्पस्राव होने पर कारणों को दूर करना चाहिये और सिरामुख पर तैल, लवण, तगरादि चूर्ण आदि मलने चाहिये एवं अष्टांग संग्रहकार के अनुसार रोगी का पृष्ठमध्य से पीडन करने से रुधिर अधिक आने लगता है (पृष्ठमध्ये चातुरं पीड़येत्, एवं साधु वहति—अ. स. सू. १६)

सिरावेधन द्वारा भली प्रकार स्रवण हो जाने पर व्रण स्थान का शीतल जल से प्रच्छालन करना चाहिये और सिरामुख पर तैलप्लोत रखकर बांध दिया जाता है—वा. ।

प्राच्य (आयुर्वेद) और प्रतीच्य (पाश्चात्य वैद्यक) दोनों चिकित्सा पद्धतियों में सिरावेधन का महत्व स्वीकृत है किन्तु साथ ही दोनों में मौलिक अन्तर भी है। जहां पाश्चात्य वैद्यक में रक्त को निकालने के लिये सिरावेध का उद्देश्य शरीर में रुधिर की मात्रा कम कर रक्त के दबाव को कम करना जैसे—रक्तभाराधिक्य, रक्ताधिक्यज हृत्कार्यविरोध (Congestive heart failure) आदि; रुधिर में उपस्थित विषैलेपन को दूर करना, जैसे—सर्पदंश, मूत्रविषमयता (Ureamia) आदि में है वहां भिन्न २ रोगों में भिन्न २ स्थानों की सिराओं का वेध करना आयुर्वेद में पूर्णतः रोग निवारक माना है। दूसरा बहुत बड़ा अन्तर यह है कि पाश्चात्य वैद्यक वेत्ताओं द्वारा किये गये सिरावेध का उद्देश्य शरीर से रक्त निकाल देना मात्र है जो किसी भी सिरा से निकाला जा सकता है किन्तु आयुर्वेदज्ञों द्वारा उसी सिरा का वेध किया जाता है जिसको रोग विशेष में वेध्य बताया गया है। आयुर्वेद में अधिकतर रुग्ण भाग की सिरा का ही वेध किया जाता है। कभी २ दूरवर्ती सिरा भी वेध्य होती है, जैसे—गलगण्ड में और्वी सिरा का वेध बताया गया है। यह स्वाभाविक है कि विकृत अंग की सिरा का वेध करने से उसमें उपस्थित दूषित रुधिर ही सर्व प्रथम बाहर निकलता है। इस विषय को स्पष्ट करने के हेतु सुश्रुत ने कुसुम्भ पुष्प का उदाहरण दिया है और बताया है कि जिस प्रकार इस पुष्प के तोड़ने पर पीतवर्ण का दुग्ध ही पहिले निकलता है इसी प्रकार सिरावेध करने पर भी सर्वप्रथम दूषित रुधिर ही निकलता है (यथा कुसुम्भपुष्पेभ्यः पूर्वं स्रवति पीतिका। तथा सिरासु विद्धासु दुष्टमग्रे प्रवर्तते—सु. शा. ८)

जब सिराओं का वेधन शास्त्रनिर्दिष्ट विधि द्वारा नहीं होता है तो वह "दुष्टव्यधन" कहलाता है जिसका कारण अकुशल चिकित्सक ही है जो अनुप-

युक्त शस्त्र, अनुपयुक्त रोगी और अनुपयुक्त सिरा का एतदर्थ चयन करता है तथा उनका अनुपयुक्त ढंग से नियन्त्रण करता है। इसके परिणाम स्वरूप २० (बीस) प्रकार के सिरावेधन दोष होते हैं जिनका वर्णन इस प्रकार है:—

जब चिकित्सक सिरावेधनार्थ कुण्ठित, बृहन्मुख, सूक्ष्ममुख आदि दोषों से युक्त शस्त्र का प्रयोग करता है तो (१) दुर्विद्धा (२) अतिविद्धा (३) कुट्टिता (४) पिच्चिता (५) अत्युदीर्णा (६) शस्त्रहता (७) तिर्यक्‌विद्धा (८) अपविद्धा (९) पुनः पुनर्विद्धा (१०) धेनुका (११) अन्तेऽभिहता (१२) कूणिता और (१३) कुञ्चिता नामक अवस्थाएं उत्पन्न होती हैं। ऐसे रोगी जो सिरावेध के लिये अनुपयुक्त हैं उनकी सिराओं का वेधन करने से (१४) अप्रस्रुता और (१५) परिशुष्का नामक विकार होते हैं। (१६) अव्यध्य (जिनका वेधन विषिद्ध है) सिराएं शाखाओं में सोलह, श्रोणि प्रदेश में आठ, वक्षः स्थल की चौदह और ग्रीवा की सोलह आदि हैं। इनके वेधन से वैकल्य अथवा मरण निश्चित है। सिराओं का नियन्त्रण भली प्रकार न होने से भी वेधन दोषपूर्ण होता है और इससे (१७) वेपिता (१८) अनुत्थितविद्धा और (१९) विद्रुता नामक दुष्टवेधन होते हैं। जब चिकित्सक अज्ञानवश वेधन काल में (२०) मांस, स्नायु, अस्थि का भी वेधन कर देता है तो शोफ, वैकल्य और मरण तक हो जाते हैं। इस प्रकार चिकित्सक दोष, रोगीदोष, सिरादोष, नियन्त्रण दोष और शस्त्र दोष से उपरोक्त बीस प्रकार के 'सिरावेध व्यापत्' होते हैं। इनका पृथक् २ वर्णन इस प्रकार है: —

(१) दुर्विद्धा—अल्पमुख वाले शस्त्र से सिरावेधन करने से शोणित अल्प मात्रा में आता है और स्थानिक शोफ तथा वेदनाएं होती हैं। (२) अतिविद्धा—यह बड़े मुख वाले शस्त्र से वेधन करने पर होती है जिससे रुधिर सिरासे अधिक मात्रा में निकल कर शरीर की अन्य धातुओं में प्रविष्ट हो जाता है। (३) कुट्टिता—इसमें शस्त्र प्रयोग से सिरा के दोनों पार्श्व विद्ध हो जाते हैं। अनुत्थित सिरामें बार २ शस्त्र प्रयोग से ऐसा होता है। (४) पिच्चिता—कुण्ठ शस्त्र से विद्ध होने की अपेक्षा कुचली जाने से सिरा स्थूल (पृथुली भावमापन्ना) हो जाती है। (५) अत्युदीर्णा—तीक्ष्ण और महामुख शस्त्रसे वेधन करने से यह विकार होता है। (६) शस्त्रहता—में सिरा पूर्णतः कट जाती है (छिन्ना) और इससे अधिक रुधिर निकल जाने से रोगी क्रिया करने में असमर्थ (क्रियासंगकरी) होता है। (७) तिर्यक्‌विद्धा— इसमें सिरा तिरछी (तिर्यक्) कटती है और इसका कुछ ही भाग कटने से शेष रह जाता है। (८) अपविद्धा—हीन लक्षणों से युक्तशस्त्र से अनेक छिद्र कर देने से (बहुशः क्षता)

यह अवस्था होती है। (९) पुनः पुनर्विद्धा—सूक्ष्ममुख शस्त्र से सिराका अनेक बार भेदन करना। (१०) धेनुका—नीचे से ऊपर की ओर को अनेक वेधन कर देने से जो बार २ रुधिर स्रवित करती है। (११) अन्तेऽभिहता—वह व्यापत् है जिसमें सिरा का किनारे से वेध करने से रुधिर स्राव अल्प होता है। (१२) कूणिता—कुण्ठित शस्त्र से जब सिरा का केवल चौथा भाग ही कट पाता है (चतुर्भागावसादिता) और इससे शोणित स्राव अल्प होता है। (१३) कुञ्चिता—इसमें सिरा का प्रमाण से अधिक वेधन हो जाने से रक्त-स्राव अधिक होता है।

(१४) अप्रस्रुता—रोगी के शीत, भय, मूर्छा आदि से पीड़ित होने की अवस्था में शरीर का अधिकांश रुधिर गम्भीर स्थित बड़ी २ धमनियों में चला जाता है, अतः इनमें सिरावेधन से रक्त नहीं निकलता है। (१५) परिशुष्का—यह अवस्था उन रोगियों में पायी जाती है जिनकी सिराएं रक्त न्यूनता युक्त तथा वात पूर्ण होती हैं।

(१६) अव्यध्या—वेधन कर्म के अयोग्य सिराएं शारीर स्थान (सुश्रुत) अध्याय ७ में वर्णित की हैं जिनके वेधन से विविध विकार हो जाते हैं।

(१७) वेपिता – सिरोत्थान के लिये अनुचित स्थान पर नियन्त्रण शाटक बांध देने से कांपती हुई सिरा का वेधन कर देने पर रुधिर स्राव अल्प होता है। (१८) अनुत्थितविद्धा—जब नियन्त्रण के बिना ही सिरा का वेध कर दिया जाये तो भी रुधिर भली प्रकार नहीं निकलता है। (१९) विद्रुता—नियन्त्रित किये बिना ही चंचलावस्था में सिरावेध कर देने से यह अवस्था होती है। (२०) मांसादिविद्धा—इसमें मांस, स्नायु, अस्थि, सिरा तथा सन्धि स्थल के मर्मों का भी वेधन हो जाता है जिससे उस स्थान में वेदना, शोथ, वैकल्य और मरण होते हैं।

सिरा का वेधन करने में होने वाली व्यापत्तियों का यह उपरोक्त वर्णन प्राच्य चिकित्सकों के सिरावेधन सम्बन्धी सूक्ष्म अध्ययन का द्योतक है।

इस प्रकार अष्टविध शस्त्रकर्मों में पठित विस्रावण से अभिप्राय रुधिर के निकालने (Blood letting) से है। कुछ लोगों ने विस्रावण का अर्थ तरलनिर्हरण (Drainage) किया है जो कि अनुपयुक्त है। तरलनिर्हरण व्रणशोधन का महत्वपूर्ण अंग है। शल्य रूपी पूयादि के निरन्तर निकलते रहने की व्यवस्था इस दृष्टि से आवश्यक होती है। तरल निर्हरण के लिये 'स्रावग'

उपक्रम किया जाता है जो षष्टि उपक्रमों में २० वां उपक्रम है। इसका वर्णन आगे किया गया है।

जब रुग्ण की वेध्य सिरा का समुचित प्रकार से वेधन कर भली प्रकार उचित मात्रा में शोणित स्राव कराया जाता है तो उसकी मानसिक अवस्था उत्तम होती है, जठराग्नि विकृत नहीं होती और वह अपने आपको स्वस्थ अनुभव करता है। वाग्भट ने ऐसे व्यक्ति को 'विशुद्ध रक्त पुरुष' बताया है*।

⊕शोणित विस्रावण के पश्चात् रोगी को अनुष्ण शीत दीपनीय, लघु और हितकर अन्नपान का सेवन कराना चाहिये क्योंकि शरीर का आधार रुधिर, रुधिर का पित्त और पित्त का आधार अग्नि होने से उसकी रक्षा के लिये चिकित्सक को विशेष रूप से सावधान रहना चाहिये। (नात्युष्णशीतं लघु दीपनीयं रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम्। तदा शरीरं ह्यनवस्थितास्र मग्नि-विशेषादिति रक्षणीयः—वा. सू. २७)⊕

(८) सीवन उपक्रम—

(SUTURING)

जिन रोगों अथवा अवस्थाओं में सीवन उपक्रम उपयुक्त होता है वे 'सीव्य' कहलाते हैं और इस कर्म को सम्पन्न करने के लिये जो पदार्थ आवश्यक होते हैं वे 'सीवन-उपकरण' कहलाते हैं। सीवन-उपकरणों में प्रमुख (i) सूत्र और (ii) सूची हैं जिनका वर्णन इस प्रकार है:—

(i) सूत्र (Suture Material)—

सीव्येत्सूक्ष्मेण सूत्रेण वल्कलेनाश्मन्त कस्यवा।
मूर्वा गुडूचीतानैर्वा स्नायुवा बालेन वा पुनः॥
शणज क्षौम सूत्राभ्याम्⊙ ·····सु. सू. २५॥

इस सार्ध श्लोक में दो प्रकार के सीवन-सूत्रों का वर्णन किया गया है—(१) विलीनार्ह (Absorbable) अर्थात्—देह ऊष्मा के कारण

---

*प्रसन्न वर्णेन्द्रिय मिन्द्रियार्था निच्छन्तम व्याहत पक्तृवेगम्।
सुखान्वितं पुष्टि बलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति॥ वा. सू. २७॥

⊕व्रणशोथ चिकित्सा (१२ पृष्ठ) में विस्रावण (Blood letting) का वर्णन संक्षेप में किया गया है।

⊙स्नायु सूत्र बालाना मन्यतमेन सीव्येत् शणाश्मन्तक मूर्वातसीनां वल्कलैर्वा—सु. सू. २५।

विलीन हो जाने पर जिनका स्थान शारीर तन्तु ले लेते हैं; जैसे— (i) स्नायु (Catgut)। प्राणियों से उत्पन्न होने वाले इस तरह के कुछ अन्य पदार्थ भी हैं जो आज कल सीवन सूत्र के रूप में प्रयुक्त होते हैं; जैसे— कंगारु–स्नायु (Kangroo Tendon), और्वी पेशी–कला (Fascia lata) से निर्मित सूत्र (Strips) और वृषभ महाधमनी (Ox aorta) से निर्मित सूत्र आदि। दूसरे ऐसे पदार्थों का उल्लेख किया गया है जो (ii) अविलीनार्ह (Non—absorbable) होते हैं अर्थात् जो शरीर की आभ्यन्तर धातुओं में सीवन के लिये प्रयुक्त किये जाने पर भी विलीन नहीं हैं; जैसे—अश्मन्तक, मूर्वा, गुडूची आदि के सूक्ष्म सूत्र अथवा घोड़े के बाल (Horse hair) या शणनिर्मित सूत्र या रेशमी (क्षौम (Silk) सूत्र) सूत्र आदि। आज कल अविलीनार्ह कुछ अन्य पदार्थों का भी सीवन–उपक्रम में प्रयोग होता है, जैसे—विरंग आयस सूत्र (Stainless steel wire), रजतसूत्र (Silver wire) सिल्कवर्मगट (Silk wormgut), नाइलॉन (Nylon) आदि।

विलीन हो जाने वाले (विलीनार्ह) सीवन सूत्र आभ्यन्तर धातुओं और विलीन न होने वाले (अविलीनार्ह) बाह्य त्वगादि के सीवन कर्म में प्रयुक्त किये जाते हैं। निभृत सीवन (Buried suture) और वाहिनियों के बन्धन (Ligature) के लिये अधिकतर केटगट को उत्तम समझा जाता है, किन्तु कुछ शल्यचिकित्सक इसकी पूर्ण विसंक्रमणता (Perfect sterility) पर विश्वास नहीं करते हैं और इसके स्थान पर क्षौम (Silk) सूत्र का प्रयोग करते हैं।

सीवन और बन्धन के लिये वह सूत्र उपयुक्त होता है जो (i) पर्याप्त दृढ हो किन्तु शारीर तन्तुओं को काटता न हो (ii) जो पूर्णतः विसंक्रमण योग्य (Sterilisable) हो और जो (iii) पार्श्वस्थ तन्तुओं में क्षोभ उत्पन्न न करता हो तथा (iv) विलीनार्ह होने के साथ २ जो इतने समय तक कम से कम बना रह सके जिससे उसको प्रयुक्त करने का उद्देश्य पूर्ण हो सके।

गम्भीर धातुओं के सीवन या अदृश्य सीवन को 'निभृत सीवन= Buried suture' और बाह्य यादृश्य सीवन को 'उत्तान सीवन=Superficial suture' कहते हैं।

सीवन कर्म के लिये धातुनिर्मित क्लिप्स (Metal clips) का प्रयोग भी किया जाता है जो केवल बाह्य ही होता है। इससे भी व्रणौष्ठ भली भांति परस्पर मिले रहते हैं। चेहरे आदि पर जब व्रण वस्तु (Scar)

अल्प बनाना अभीष्ट होता है तो वानहर्फ (Van herff) के क्लिप्स उपयोगी होते हैं। जहां तनाव अधिक होता है, जैसे उदरभित्ति में, वहां माइकेल के क्लिप्स (Michel's clips) का प्रयोग होता है।

कैटगट जो क्रोमिक अम्ल (Chromic acid) पद्धति से तैयार किया जाता है वह शरीर में ४ से ६ सप्ताह तक बना रहने के उपरान्त विलीन होना है। यह भेड़* की अन्त्र से तैयार किया जाता है अतः कुछ शल्य चिकित्सक इसके पूर्ण विसंक्रमण पर विश्वास नहीं करते हैं। कैटगट पानी में उबालने पर नष्ट हो जाता है। विलीन हो जाने के योग्य होने के साथ २ यह पर्याप्त दृढ और लचकीला होता है।

कैटगट नं० '०००००' से नं० ४ तक के अनेक आकार के होते हैं। नं० '०००००' सबसे पलता और नं० ४ सबसे स्थूल होता है। नाड़ियों (Nerves) के सीवन कर्म में सबसे पतले और महामातृका (Carotid) धमनी जैसी रक्तवाहिनियों के बन्धन के लिये सबसे स्थूल कैटगट का प्रयोग किया जाता है।

सिल्कसूत्रों को उबालकर पूर्ण रूप से विसंक्रमित करना सम्भव होने के कारण बन्धन और सीवन दोनों के लिये कैटगट की अपेक्षा उपयुक्त समझा जाता है। नं० '०००' से '००००' के सिल्क सूत्र विसंक्रमित वैसलीन से श्लक्ष्ण कर धमनी सीवन के लिये उपयुक्त होते हैं ?

सिल्कवर्मगट को त्वक् सीवन के लिये प्रयुक्त करते हैं। इसके सूक्ष्म सूत्र को ग्रीवा और चेहरे के व्रणों को सीने के लिये प्रयोग में लाते हैं जहां व्रण-वस्तु का अल्प बनाना अभीष्ट होता है। इसके नं० ४ सूत्र से औदरिक और शिरोव्रणों के दूर २ स्थित व्रणौष्ठों को समीप लाने के लिये सीवन कर्म करते हैं। अश्ववाल भी व्रणवस्तु को अल्प बनाने की दृष्टि से त्वक्-सीवन के लिये प्रयुक्त होते हैं। कंगारू टंडन और वृषभ महाधमनी को उपयुक्त विसंक्रमण पद्धति से तैयार कर अक्षकाधोधमनी (Subclavian Artery) सदृश बड़ी धमनियों के बन्धन में प्रयुक्त किया जाता है। इसी प्रकार और्वी-पेशी कला से निर्मित सूत्रों का भी बड़ी २ धमनियों के बन्धन में प्रयोग होता है और वंक्षणी अन्त्र वृद्धि के शस्त्रकर्म में भी सीवन के लिये प्रयुक्त करते हैं। सीवन उपकरणों में दूसरा प्रमुख स्थान 'सूची' का है:—

*अन्त्रं मेषादीनां शुष्कान्त्रम् इति ख्यातम्, शस्त्रच्छेदानन्तरं सूक्ष्मसिरादि बन्धनार्थं युज्यते – वाग्भटार्थ कौमुदी।

"सूच्यस्तु तिस्र उपदिश्यन्ते—द्वयङ्गुला, त्र्यङ्गुला, धनुर्वक्रा"—सु. सू. २५।

अर्थात्—सीवन कर्म में प्रयुक्त सूची तीन प्रकार की होती हैं:—(i) दो अंगुल लम्बी (ii) तीन अंगुल लम्बी और (iii) धनुष की तरह टेढी। प्रकारान्तर से ये तीनों सूचियां दो ही प्रकार की होती हैं--(१) सरल (Straight) और (२) वक्र (Fully Curved=धनुर्वक्रा) आज कल अर्धवक्रा (Half curved) सूची का भी प्रयोग होता है। सुश्रुत ने '*यवमुखी' नामक एक सूची का पृथक् उल्लेख भी किया है इससे अर्बुदमूल में सूत्र बान्धने का काम लिया जाता है। वस्तुतः यह उपरोक्त तीन प्रकार की सूचियों का ही प्रकार विशेष है। द्व्यंगुला सूची गोल (वृत्ता) और= त्र्यंगुला त्र्यस्रा (त्रिधार) होती है। धनुर्वक्रा सूची की लम्बाई ढाई अंगुल होती है—सु.।

वास्तव में सूचियों के कई प्रकार होते हैं और कुछ एक शल्य चिकित्सकों के पास तो उनकी अपनी ही विशेष प्रकार की सूचियां होती हैं।

सुश्रुत ने सूचियों के गुणों का उल्लेख भी किया है। ये सभी प्रकार की सूचियां तीक्ष्णाग्र और सम्यक् प्रकार से निर्मित हुई होनी चाहिये (तीक्ष्णाग्राः सुसमाहिताः—सु. सू. २५) और इनका अग्र भाग मालती पुष्प के वृत्त सदृश होना चाहिये (कारग्रेन्मालती पुष्प वृन्ताग्र परिमण्डलाः—सु. सू. २५)

मांसल स्थानों के सीवन-कर्म के लिये त्रिधार (त्र्यस्र) और त्र्यंगुल सूची तथा सन्धि स्थल के स्वल्प मांसयुक्त स्थानों में द्व्यंगुला तथा वृत्ता सूची का प्रयोग किया जाता है। ऐसे स्थानों में सरल या सीधी सूई से सीने में सुविधा होती है किन्तु गम्भीर धातुओं में इस प्रकार की सूची से सीवन कर्म सम्भव नहीं होता है अतः ऐसे स्थानों में मुडी हुई सूची (धनुर्वक्रा) का प्रयोग किया जाता है (पक्वामाशय मर्मसु धनुर्वक्राऽर्ध तृतीयांगुला च—सु. सू. २५⊕; पक्वाशयादावन्तः प्रवेशकतया वक्रा—चक्रपाणिः; धनुर्वक्राहिता मर्म फलकोषोदरोपरि—ड.)

आज कल अनेकों प्रकार की सूचियों का प्रयोग होता है, जैसे—औद-

*सूचीभिर्यव वक्त्राभिराचितं वा समन्ततः—सु. चि. १७।

⊕Straight cutting needles are employed for the skin and large curved cutting needles for the insertion of deep sutures—Pye.

रिक (Abdominal) सूची, सिराग्रन्थि (Aneurysm) सूची, फर्गूसन (Ferguson) की सूची, भगंदर (Fistula) सूची आदि। उन्हें भी सूची ही कहा जाता है जो अन्दर से खोखली होती हैं, जैसे—आचूषण (Aspirating) सूची, उपत्वगीय (Hypodermic) सूची आदि। अन्तः सुषिर सूचियों का प्रयोग तरल को शरीर में प्रविष्ट करने अथवा शरीर से निकालने के लिये होता है।

सीवन प्रकार—

> ... ... —सीव्येद् वेल्लितकं शनैः ।
> सीव्येत् गोफणिकांवापि सीव्येद् वा तुन्नसेवनीम् ॥
> ऋजु ग्रन्थि मथोवापि यथायोग मथापि वा—सु. सू. २५ ।,

अर्थात्—यद्यपि यह निर्णय करना शल्यचिकित्सक पर निर्भर करता है कि किस स्थान और किस प्रकार के व्रण में किस प्रकार का तथा किस प्रकार के सूत्र से सीवन उपक्रम उपयुक्त होता है तथापि पथप्रदर्शन की दृष्टि से निम्नलिखित चार तरह के सीवन उपक्रम होते हैं:—

(i) वेल्लितक सीवन (Continuous Suture)
(ii) गोफणिका सीवन (Continuous Blanket Suture)
(iii) तुन्नसेवनी सीवन (Subcuticular Suture)
(iv) ऋजु ग्रन्थि सीवन (Interrupted Suture)

प्रकारान्तर से सीवन कर्म दो प्रकार का होता है; (i) जिसमें सीवन सूत्र को स्यूतन (टांका = Stitch) लगाने के उपरान्त काटा नहीं जाता है अपितु निरन्तर स्यूतन करते चले जाते हैं। सीवन का यह प्रकार "अविच्छिन्न सीवन = (Continuous Suture)" कहलाता है, जैसे—वेल्लितकं सीवन, गोफणिका सीवन और ऋजु ग्रन्थि सीवन तथा अन्य अनेक प्रकार होते हैं। अविच्छिन्न सीवन से अपेक्षाकृत उत्तम रक्तावरोधन(Haemostasis) होता है किन्तु इसमें न्यूनता यह है कि यदि व्रण का कोई भाग संक्रमण ग्रस्त हो जाये तो यह सम्भव नहीं होता कि केवल विकारग्रस्त भाग के स्यूतन (टांकों) को काट दिया जाये। विच्छिन्न–सीवन में ऐसा सम्भव होता है। दूसरे प्रकार में (ii) सीवन सूत्र को एक स्यूतन के उपरान्त काट दिया जाता है और कुछ दूरी पर पुनः पूर्ववत् स्यूतन लगाते हैं। यह "विच्छिन्न सीवन = (Interrupted Suture) कहलाता है, जैसे—तुन्नसेवनी सीवन तथा अन्य अनेक प्रकार होते हैं। उपरोक्त सीवन प्रकारों का वर्णन इस प्रकार है—

(i) वेल्लितक सीवन*—

अल्पान्तरं तु कुटिलं सीव्यते बहुवेष्टनम्। यत्तत् वेल्लितकं नाम शाखादौ युज्यते बुधैः—हाराणचन्द्रः; "वेल्लितक बन्धवत् वेल्लितकम्"—चक्रपाणिः।

अर्थात्— जिसमें वेल्लित बन्ध की तरह स्यूतन (टांके) लगाये जाते हैं वह 'वेल्लीतक सीवन' कहलाता है। यह शाखा व्रणों में प्रयुक्त होता है। इसकी आकृति चित्र संख्या २ से स्पष्ट है:—

चित्र संख्या—२
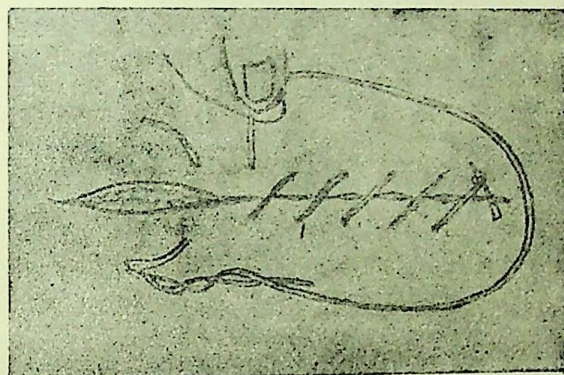
Glover's Continuous Suture.
सीव्येद् वेल्लितकं शनैः—सु. सू. २५–२७।

वेल्लीतक सीवन एक ओर से देखने में वृक्ष पर चढी हुई लता के सदृश होता है। इसमें सीवन सूत्र स्यूतन के पश्चात् काटा नहीं जाता है अतः यह अविच्छिन्न सीवन है। एक ओर से सीना आरम्भ कर दूसरी ओर तक सी दिया जाता है। संक्रमण रहित सद्यो व्रणों में यह सीवन प्रकार उपयोगी होता है। इसे आज कल Continuous Suture कहते हैं।

*वेल्लितं वक्र मनुगतमित्यनुवेल्लितं तदस्यास्तीति अनुवेल्लितः, वक्रानुपूर्व्या कृतो बन्धः—हाराणचन्द्रः; वेल्लितं वक्रमित्यपि—अमरकोषः।

(ii) गोफणिका सीवन*--

"गोफरिणकां गोफणाकाराम्—डल्लणः"

अर्थात्—जिस प्रकार कौपीन या गोफणा बन्ध में पट्टी को लपेटा जाता है उसी प्रकार गोफणिका सीवन में भी स्यूतन किया जाता है। यह भी अविच्छिन्न सीवन है तथा इसका प्रयोग विस्तृत व्रणों के सीवन में होता है। इसकी आकृति चित्र संख्या ३ से स्पष्ट है:—

चित्र संख्या—३
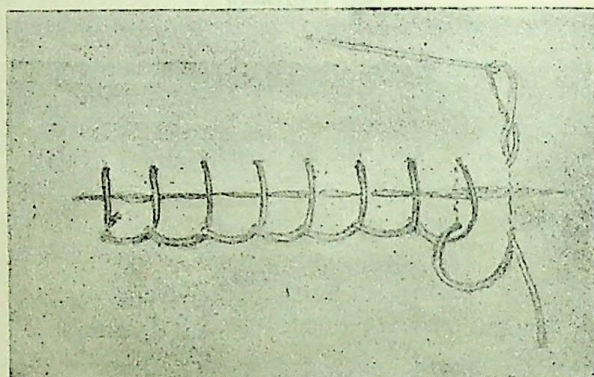
Blanket Suture.

सीव्येद् गोफरिणकां वापि—सु. सू. २५-२१।

इसमें सूई को अपनी ओर से दूसरी ओर को निकाल कर वहीं पर ग्रन्थि लगादी जाती है। तदनन्तर पुनः सूई को अपनी ओर से दूसरी ओर को निकाला जाता है, किन्तु सूई को अब इस प्रकार सिली हुई ओर के सूत्र के ऊपर से निकालते हैं कि एक प्रकार का फंदा सा बन जाता है। शेष सीवन-कर्म में भी इसी प्रकार के गोफणाकार फंदे लगाये जाते हैं।

श्री हाराणचन्द्र द्वारा दिये गये तन्त्रान्तर के उद्धरण के अनुसार यह सीवन कर्म दोनों ओर रक्खी गयी शलाकाओं के सहारे से किया जाता है।

गोफणिका सीवन आज कल Continuous Blanket Suture कहलाता है।

---

*कौपीन बन्धोनाम गोफणेत्युच्यते स्वशास्त्रसिद्धान्तादिति गम्यते गुदभ्रंश चिकित्सादौ तदर्थे गोफणाशब्द प्रयोगदर्शनात्—हाराणचन्द्रः।

(iii) तुन्नसेवनो—

यथा वस्त्रं पाटितं तन्तुवायाः सन्दधति, तदवत् तुन्नसेवनीं सीव्येत् – डल्लणः।
पृथक् ग्रथित्वा संछिन्ना सेवनी तुन्नसेवनी—"हाराणचन्द्रः"

अर्थात्—तुन्नसेवनी नामक सीवन कर्म में स्यूतन (टांके) उस प्रकार लगाये जाते हैं जिस प्रकार दर्जी फटे हुये वस्त्र के प्रान्तों को बारी २ से सूत्र को बिना काटे ही सीता चला जाता है। त्वचा को सीते समय सूई को उपत्वगीय तन्तुओं में से ही घुमाकर बारी २ से सूत्र को बिना काटे ही व्रण की एक ओर से दूसरी ओर तक सी दिया जाता है। सूई त्वचा से बाहर नहीं आती है। इसकी आकृति चित्र संख्या ४ से स्पष्ट है:—

चित्र संख्या—४
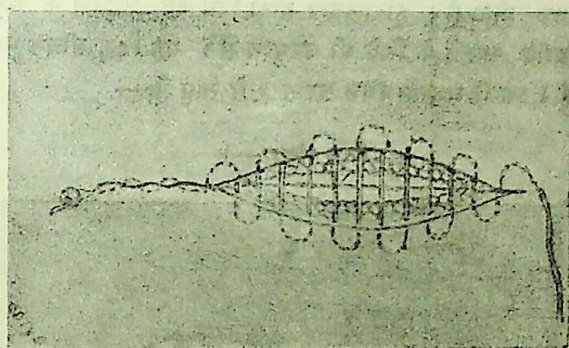
Halstead's Subcuticular Stitch.
सीव्येद्वा तुन्नसेवनीम्-- सु. सू. २५–२१.

इस प्रकार के सीवन का लाभ यह है कि क्षतांक अत्यन्त अल्प बनता है। इस सीवन की समता Subcuticular Suture से होती है। कुछ विचारकों ने तुन्नसेवनी को सविच्छेद सीवन (Interrupted Suture) कहा है (पृथक् ग्रथित्वा संछिन्ना सेवनी तुन्नसेवनी—हाराणचन्द्रः)

(iv) ऋजुग्रन्थि सीवन--

ऋजुग्रन्थिरिति ऋजुग्रन्थिबन्धसदृशो यस्यां सेवन्यां सा ऋजुग्रन्थिः—डल्लणः ।

पार्श्वात्पार्श्वान्तरं यावत् ऋजुसूचीं निपात्य च ।
संवेष्ट्याकृष्यसूत्रेण ग्रन्थिर्यः सन्धिहेतवे ।।
क्रियते स ऋजुग्रन्थि रोष्ठादिषु विधीयते ।। हाराणचन्द्रः ।।

अर्थात्—जिस सीवन में स्यूतन (टांके) करने के पश्चात् सूत्र को काटकर कुछ दूरी पर पुनः स्यूतन किया जाता है वह "ऋजुग्रन्थि" सीवन कहलाता है। इसमें दोनों व्रणौष्ठों में से सूची को निकालकर ग्रन्थि लगा दी जाती है। सूत्र को काटकर पुनः कुछ दूरी पर यही विधि दोहराई जाती है। यह 'विच्छिन्न सीवन' है और उदर आदि ऐसे स्थानों में प्रयुक्त होती है जहां तनाव अधिक होता है। हाराणचन्द्र द्वारा दिये गये उद्धरण के अनुसार यह सीवन ओष्ठादि स्थानों के लिये भी उपयुक्त है। यह त्वक् सीवन के लिये भी उपयोगी है। इसकी आकृति चित्र संख्या ५ से स्पष्ट हैः—

चित्र संख्या—५
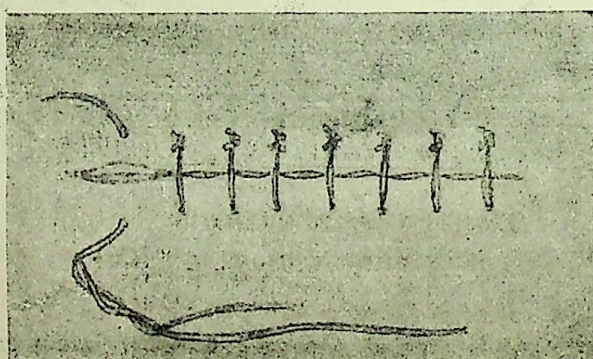
Interrupted Suture.

ऋजु ग्रन्थि ; मथोवापि—सु. सू. २५–२१

इसमें दोनों स्यूतनों (टांकों) के मध्य लगभग आधा इन्च का अन्तर होता है। स्यूतन लगाने के पश्चात् सूत्र को भी आधा इंच के लगभग छोड़कर काटा जाता है जिससे व्रणरोहण के उपरान्त स्यूत सूत्र को काटकर आसानी से निकाला जा सके।

ऋजुग्रन्थि सीवन के अन्य भी कई प्रकार हैं जिनमें एक स्यूतन लगाने के उपरान्त सूत्र को काट दिया जाता है, जैसे—आस्यन्दिका सीवन (Mattress Suture) इसमें सूची को जिधर से व्रणौष्ठ में प्रविष्ट किया जाता है उधर ही से पुनः निकालकर ग्रन्थि लगादी जाती है। लेम्बर्ट का सीवन (Lembert's Suture) भी ऋजुग्रन्थि का ही प्रकार है जो प्रायः उदर भेदन के उपरान्त अन्त्र सीवन में प्रयुक्त होता है। इसके स्यूतन लगाने की विधि भी आस्यन्दिका सीवन की तरह ही है।

ऋजुग्रन्थि सीवन को सम्प्रति Interrupted Suture भी कहा जाता है। आसान सीवन होने के कारण ही यह 'ऋजु' कहलाती है*।

सीवन विधि—

ततोव्रणं समुन्नम्य स्थापयित्वा यथातथम्। सीव्येत्...........सु. सू. २५।

अर्थात्— सूचीपातन से पूर्व संदंश की सहायता से व्रणौष्ठ को कुछ ऊंचा उठाकर तथा भली भांति स्थापित कर सीवन कर्म करे। इस प्रकार सूची सुविधा से व्रण में से प्रविष्ट की जा सकती है। सीवन कर्म का सम्यक् प्रकार से सम्पन्न होना इस बात पर निर्भरकरता है कि व्रणौष्ठों की स्थापना ठीक उसी प्रकार की जाये जिस प्रकार वे अधिक से अधिक प्राकृत रूप में आ जाएं (स्थापयित्वा यथा तथम् – सु.) अन्यथा सीवन कर्म के परिणाम अनुकूल नहीं होते हैं। सूची को सीवनकाल में दृढता पूर्वक पकड़ने के लिये सूची संदंश (Needle Holder) का प्रयोग किया जाता है।

सूची को व्रण प्रान्त के न तो अधिक समीप और न अधिक दूर से ही प्रविष्ट करना चाहिये अर्थात् सूची न अल्प ग्राहिणी हो और न अतिग्राहिणी (नातिसन्निकृष्टां नातिविप्रकृष्टां अनल्पग्राहिणी मनतिग्राहिणीं वा सूचीं पातयेत्—सु. सू. २५) अन्यथा अधिक दूरी पर से सूची को प्रविष्ट करने से वेदना होती है और अधिक समीप से सूत्र मांसादि को काट देता है और इस प्रकार शिथिल होकर निष्फल हो जाता है (नाति दूरे निकृष्टे वा सूचीं कर्मणि

---

*ऋजावजिह्म प्रगुणौ—अमरकोषः।

इन्दु ने इन चारों सीवनों के लक्षण इस प्रकार वर्णित किये हैं:—"यः काकपदाकृति व्रणः स चतुर्भिः कोणैः सीव्येत् तत् 'गोफणिका' नाम सीवनम्; यत्रातिनिकटौ व्रणौ द्वा वनेक कालै रेकमेकेन सूत्रेण जीर्णमिववस्त्रं तुद्यते तत्तुन्नसीवनं नामसीवनम्; 'वेल्लितकं' यद् व्रणौष्ठौ वेष्टयन्निव सीव्यते; 'ऋजुग्रन्थि' रेक वारं सूत्रयोजनम्"।

यातयेत् । दूराद्रुजो व्रणौष्ठस्य सन्निकृष्टेऽवलुंचनम्—सु. सू. २५)

सीवन कर्म के समय सूत्र को व्रणौष्ठों में से पिरोने के उपरान्त इस प्रकार की ग्रन्थि लगानी चाहिये कि वह खुलने न पावे। एतदर्थ रीफ (Reef Knot) ग्रन्थि और शल्यक ग्रन्थि (Surgeon's Knot) ही विश्वसनीय ग्रन्थियां हैं जो साधारणतः खुलती नहीं हैं। ये ग्रन्थियां भेदन के किसी एक पार्श्व पर लगाई जाती हैं जिससे रोहण के उपरान्त इन्हें सुविधा पूर्वक काटा जा सके।

सीवन कर्म से पूर्व व्रण का पूर्णतः स्वच्छ होना नितान्त आवश्यक है; अन्यथा संक्रमण हो जाने से पूयोत्पादन सम्भव है और इस प्रकार सीवन कर्म निष्फल हो जाता है। सुश्रुत ने यह सब वर्णित करने के लिये सीवन के योग्य और अयोग्य अवस्थाओं का 'सीवन विषय' के प्रसंग में इस प्रकार उल्लेख किया है:--

सीवन विषय—

सीव्य* अथवा सीवन कर्म के योग्य वे व्रण होते हैं जो मेदो धातु में उत्पन्न (मेदः समुत्थ) हों, विदीर्ण (भिन्न) हों तथा जिनमें भली प्रकार लेखन कर्म किया गया हो। इसी प्रकार सद्योव्रण और कफजग्रन्थि भी सीव्य होते हैं। सुश्रुत ने उन सभी व्रणों को सीवन कर्म के लिये उपयोगी बताया है जो शिर, ललाट, अक्षिकूट, कर्ण, ओष्ठ, नासा, गण्ड, कृकाटिका, बाहु, उदर, स्फिक्, पायु, प्रजनन, मुष्क आदि स्थानों और अचल संधियों तथा मांसल स्थानों में उत्पन्न होते हैं। लटकते हुये मांस को काटकर तथा शेष को यथा स्थान स्थापित कर सीवन करना चाहिये (प्रलंबिमांसं विच्छिन्नं निवेश्य स्वनिवेशने—वा. सू. २९) गम्भीर धातुओं में स्थित व्रण भी सीव्य होते हैं (गम्भीरेषु प्रदेशेषु—वा. सू. २९)

चरक ने कुक्षि, उदर आदि के गम्भीर स्थित विपाटित व्रणों को भी सीव्य बताया है (सीव्यं कुक्ष्युदराद्यं तु गम्भीरं यद्विपाटितम्—च. चि. २४) सद्योव्रणों को शीघ्र ही सी देना इस कारण आवश्यक है कि विलम्ब होने पर सम्भव है कि वह संक्रमण ग्रस्त हो जाये (सद्यः सद्योव्रणान् सीव्येत्—वा. सू. २९–४९) विवृत (चौडे) व्रण के किनारे सीवन कर्म से सम्मिलित हो जाने से भली भांति रोहित हो जाते हैं (सीव्येत् विवृत्तानभिघातजान्—वा. सू. २९–४९)

---

*सीव्या मेदः समुत्थाश्च भिन्नाः सुलिखिता गदाः।
सद्योव्रणाश्च ये चैवाचल संधि व्यपाश्रिताः ॥ सु. सू. २५ ॥

सीवन कर्म के पश्चात् व्रण सन्धान दो अवस्थाओं पर निर्भर करता है:--(i) व्रण का शुद्ध होना, क्योंकि दुर्घटना आदि में उत्पन्न व्रण में पांशु (धूल) रोम (बाल) नख आदि का उपस्थित होना साधारण है और व्रण को सीवन कर्म से पूर्व इनसे रहित करना रोहण की दृष्टि से अनिवार्य है, अन्यथा इनके कारण व्रण में भीषण पाक हो जाता है जो एक अति कष्टप्रद अवस्था है। कभी २ अस्थि का ही खण्डित भाग शरीर में स्वतन्त्र होकर शल्य का रूप धारण कर लेता है। व्रण के सम्यक् रोहण के हेतु उसका निकाल देना भी आवश्यक होता है (पांशुरोम नखादीनि चल मस्थि भवेच्चयत्। अहृतानियतोऽमूनि पाचयेयुर्भृशं व्रणम्—सु. सू. २५) (ii) सीवन कर्म के पश्चात् रोहण होने के लिये रुधिर का व्रण में उपस्थित होना अनिवार्य है, अन्यथा व्रणौष्ठों के शुष्क हो जाने की अवस्था में सीवन कर्म करने का कोई लाभ नहीं होता है क्योंकि शुष्क व्रणौष्ठों में रोहणांकुर उत्पन्न करने की क्षमता नष्ट हो चुकी होती है। रुधिर के कारण ही सद्योव्रण सीव्य हैं और भली भांति लेखन कर्म किये गये व्रण को भी इसी हेतु सीवन के योग्य बताया है।
अष्टांग संग्रहकार ने ऐसी अवस्था का उल्लेख इस प्रकार किया है:—

> व्रणो निःशोणितौष्ठो यः किञ्चिदेवावलिख्य तम्।
> सञ्जात रुधिरं सीव्येत्सन्धानं ह्यस्य शोणितम्॥ वा. सू. २९॥

अर्थात्—जिस व्रण के ओष्ठ रुधिर रहित हो गये हों उनमें सीवनकर्म से पूर्व हल्का सा लेखन कर्म करना आवश्यक है जिससे उनमें से रुधिर आने लगे और उसके उपरान्त सीवन कर्म करना चाहिये क्योंकि रुधिर ही सीवन-कर्म की सफलता का प्रधान हेतु है (यस्मादस्य व्रणस्य सन्धानं शोणितमेव—अरुणदत्त:; It is advisable to freshen the skin marging and undercut the edges, but the main bulk of the granulations may be left alone—Pye's surgical handicraft.)

ऐसे व्रण सीवन कर्म के अयोग्य⊕ होते हैं जो वायु निर्वाही, शल्यगर्भ, क्षार तथा विषजन्य, अग्निदग्धज अल्पमांसयुक्त और चल संधियों में स्थित, जैसे—जानु, कूर्पर आदि के व्रण (जानु कूर्पर जंघादिषु प्रचलेष्वल्प मांसेषु न सीव्येत्— सु. सू. २५) हों। वाग्भट ने कक्षा और वङ्क्षणादि के विकार ग्रस्त व्रण भी असीव्य बताये हैं (नतु वङ्क्षण कक्षादौ—वा. सू.—२९)

⊕नतु वङ्क्षण कक्षादा वल्पमांस चले व्रणान्। वायुनिर्वाहिणः शल्यगर्भान्क्षार विषाग्निजान्—वा. सू. २९–५१।

सुश्रुत ने "सन्निकृष्टेऽवलुंचनम्" लिखा है जिसका अभिप्राय यह है कि यदि सीवन सूत्र को व्रणप्रान्त के अल्पतम भाग में से प्रविष्ट किया गया तो सूत्र मांसादि को काट देता है, किन्तु कभी २ ऐसा भी होता है कि सूची पातन शास्त्रानुसार होने पर भी अवलुंचन हो जाता है जैसा कि उदर भेदन (Laparotomy.) में प्रायः हो जाया करता है। इसे रोकने के लिये शैथिल्यकर स्यूतन (Relaxation Sutures. या Tension Sutures.) लगाये जाते हैं। एतदर्थ भेदन के समानान्तर ही कुछ दूरी पर गम्भीर सीवन किया जाता है और भेदन के दोनों ओर के सूत्र को अवलुंचित न होने देने के लिये रब्बर ट्यूब में पिरो देते हैं। इस प्रयोजन के लिये एल्यूमिनियम (Aluminium.) ट्यूब भी प्रयुक्त होते हैं। श्री हाराणचन्द्र द्वारा दिये गये उद्धरण के अनुसार प्राचीनकाल में इस प्रकार के अवलुंचन को रोकने के लिये शला का प्रयोग किया जाता था (देशं स्यूत्वा यथायोगं पुनस्तच्छेदशंकया। नाति स्थूले नाति सूक्ष्मे शलाके द्वे निपात्यते ।। तदासक्तेनसूत्रेण संवेष्ट्य सेवनीकृता)

द्वितीयक स्यूतन (Secondary Sutures.) वह कहलाता है जो संक्रमणग्रस्त व्रण को एन्टिवायाटिक्स आदि के प्रयोग द्वारा शुद्ध करने पर किया जाता है। यह उस समय किया जाता है जब पिचु (Swab.) परीक्षण से यह प्रमाणित हो जाता है कि व्रण के अधिकतर रोगाणु नष्ट हो गये हैं।

⊕इस प्रकार व्रण का सीवन कर देने के उपरान्त उस पर क्षौमध्याम (अतसी सम्भव वस्त्रभस्म—ड) शल्लकी भस्म चूर्ण आदि पदार्थ रखकर क्षौम पिचु से ढक देना चाहिये और उपयुक्त बन्धन से बांध कर रोगी को परिचारक के सुपुर्द कर देना चाहिये (ततो व्रणं यथायोगं बद्ध्वा चारिकमादिशेत्—सु. सू. २५) व्रणबन्धनों का वर्णन आगे किया गया है।

जिस व्रण का शास्त्रनिर्दिष्ट विधि से सीवन कर्म किया जाता है वह "सुस्यूत" व्रण कहलाता है।

शस्त्रकर्म व्यापत्—

छेदन-भेदनादि अष्टविध शस्त्र कर्म की व्यापत्तियां इस प्रकार हैं:—

हीनातिरिक्तं तिर्यक् च गात्रच्छेदनमात्मनः।
एताश्चतस्रोऽष्टविधे कर्मणि व्यापदः स्मृताः ।। सु. सू. २५ ।।

अर्थात्—हीन, अतिरिक्त, तिर्यक् और चिकित्सक द्वारा अपने ही गात्र का छेदनादि कर लेना अष्टविध शस्त्रकर्म की व्यापत् हैं।

⊕अथ क्षौम पिचुच्छन्नं सुस्यूतं प्रतिसारयेत्—सु. सू. २५।

माता, पिता, पुत्र, बान्धव आदि के प्रति भी रोगी सशंकित हो सकता है किन्तु वह चिकित्सक का विश्वास करता है, अतः चिकित्सक का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह भी रोगी का पुत्रवत् पालन करे (तस्मात्पुत्रवदेवैनं पालयेदातुरं भिषक्—सु. सू. २५) उपरोक्त चार प्रकार की हीनादि व्यापत्तियों के कारण चिकित्सक का स्वविषय का अज्ञान, लोभ, अहित वाक्य, भय, प्रमोह (कर्म समये संमोहः—च. पा.) तथा इसी प्रकार के अन्य भाव (अपरैश्च भावैः—सु; व्यग्रत्वादिभिः—च. पा.) होते हैं⊙ ।

शस्त्र के हीन प्रयोग की अवस्था में क्षाराग्नि द्वारा चिकित्सा की जाती है और अतिरिक्त (अधिक) शस्त्र प्रयोग में जिस धातु का नाश हुआ हो उसी के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये तथा शस्त्र कर्म के समय अपने को ही क्षतग्रस्त कर लेने वाले जघन्यकारी कुवैद्य को उग्रविष वाले सर्प की तरह दूर से ही त्याग देना चाहिये—सु. ।

इन अष्टविध शस्त्र कर्मों में से एक, दो या अधिक कर्मों की एक साथ आवश्यकता हो सकती है क्योंकि कुछ विकार एक ही कर्म से ठीक हो जाते हैं और कुछ में अनेक कर्म करने पड़ते हैं—सु. ।

ये अष्टविध शस्त्रकर्म जिन शस्त्रों से किये जाते हैं उनका वर्णन आगे (पृष्ठ १०४ पर) किया गया है ।

⊙अज्ञान लोभाहित वाक्य योग भय प्रमो है रपरैश्च भावैः ।
यदाप्रयुंजीत भिषक् कुशस्त्रं तदा स शेषान् कुरुते विकारान् ।। सु.सू. २५ ।।

शस्त्र

संहिता ग्रन्थों में सभी प्रकार के शल्यकर्मों के लिये केवल छब्बीस शस्त्रों का वर्णन मिलता है। शल्यशास्त्र के प्रमुख संहिता ग्रन्थ सुश्रुत में तो बीस ही शस्त्रों का उल्लेख है (विंशतिः शस्त्राणि—सु. सू. ८) किन्तु यन्त्र तथा यन्त्रकर्म आदि की तरह यह वर्णन मार्गप्रदर्शन मात्र है। यह चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह आवश्यकतानुसार भिन्न २ प्रकार के शस्त्रों, अनुशस्त्रों और शस्त्रकर्मों की कल्पना कर प्रयोग में लावें।

'शस्त्रसम्पत्' के शीर्षक से सुश्रुत ने शस्त्रों के गुणों का वर्णन किया है किन्तु वाग्भट ने इनका विस्तार से उल्लेख किया है जो इस प्रकार है:—

(i) सुकर्मारघटित (कर्म कुशलैर्नरैर्यथाविधि सम्यक् निष्पादितानि- अरुणदत्तः) अर्थात् - शस्त्र निर्माण में कुशल व्यक्तियों द्वारा अथवा लब्ध प्रतिष्ठ 'फर्मों' द्वारा निर्मित होने चाहिये। इस प्रकार के शस्त्र दीर्घकाल तक खराब नहीं हाते हैं और काम के समय धोखा भी नहीं देते हैं⊕।

(ii) रोमवाही (रोमशातनसमर्थानि - अ. द.) अर्थात्—शस्त्र इतने तीक्ष्ण धार वाले हों कि इनसे जंघादि पर के बाल काटे जा सकते हों। ऐसे तीक्ष्ण शस्त्र ही शल्यकर्म के समय त्वक्, मांस स्नायु आदि को काटने में समर्थ होते हैं।

(iii) शास्त्रोक्त परिमाण वाले शस्त्र न आवश्यकता से अधिक लम्बे और न छोटे ही होते हैं। जिन शस्त्रों की लम्बाई आदि का उल्लेख नहीं है वे साधारणतः छः अंगुल लम्बे होते हैं (बाहुल्येनांगुलानि षट्—वा. सू. २६; शेषाणितु षडंगुलानि-सु. सू. ८) इनकी लंबाई आदि आवश्यकतानुसार होती है।

शस्त्र के दो प्रमुख भाग होते हैं (१) वृन्त और (२) फलक या फल। पकड़ने की हत्थी 'वृन्त' और काटने वाली धार फलक या फल कहलाती है। साधारणतः शस्त्र की लम्बाई का चतुर्थांश उसका फल होता है (स्वोन्मानार्ध चतुर्थांश फलान्येकैकशोऽपि वा—वा. सू. २६)

(iv) सुरूप (शोभनाकाराणि— अ. द.) अर्थात्—जिनका आकार देखने में अच्छा सुरुचि पूर्ण हो।

⊕शस्त्राण्येतानि मतिमान् शुद्ध शैक्या यसानितु।
कारयेत्करणप्राप्तं कर्मारं कर्म कोविदम् ॥ सु. सू. ८ ॥

(v) सुधार (शोभन धाराणि— अ. द.; सुधार त्वाभिधानं धारायां यत्नातिशयं दर्शयति, तदधीनत्वात् शस्त्रव्यापाराणाम्— च. पा.) अर्थात्– शस्त्र की धार उत्तम होनी चाहिये क्योंकि यही शस्त्र व्यापार का आधार होती है। भेदन कर्म करने वाले शस्त्रों की धार मसूर दल की तरह पतली (तत्र धारा भेदनानां मासूरी— सु. सू. ८; भेदनानां वृद्धिपत्र नखशस्त्रादीनां, मासूरी मसूरदलधारतन्वी—ड.) लेखन कर्म करने वाले मण्डलाग्रादि शस्त्रों की धार अर्ध मासूरी (मसूरदल धारार्ध तन्वी ड.) व्यधन कर्म करने वाले कुठारिकादियों की धार बाल की तरह पतली (कैशिकी केश प्रमाणा—ड.) और छेदन कर्म करने वाले वृद्धिपत्र आदि की धार अर्ध कैशिकी होनी चाहिये (छेदनादीनामर्धकैशिकीति— सु. सू. ८)

(vi) सुग्रह (सुग्रहाणि शोभन वारंगानि— ड.; ग्रहो वारंगम्– च. पा.) हाथ से पकड़ कर शस्त्र को प्रयोग में लाया जाता है अतः उसके पकड़ने का स्थान इस प्रकार का निर्मित हुआ होना चाहिये जिससे वह काम करते समय फिसल न जाय और न हाथ में ही चुभे।

(vii) अकराल (अदन्तुराणि— ड.) अर्थात्— शस्त्र कहीं से भी अनावश्यक रूप से उठा हुआ नहीं होना चाहिये । करपत्र को छोड कर किसी भी शस्त्र की धार दन्तुर नहीं होती है (अन्यत्रकर पत्रात्, तद्धि खरधार–मस्थिच्छेदनार्थम्— सु. सू. ८) अरुणदत्त के अनुसार अकराल का अर्थ 'सुदर्शन' है।

(viii) सूलोह निर्मित शस्त्र ही उत्तम होता है । वाग्भट ने उत्तम प्रकार से कमाये गये कान्तलोह से बने शस्त्र को श्रेष्ठ बताया है (सुध्मात सुतीक्ष्णावर्तितेऽयसि— वा. सू. २६)

(ix) शस्त्र का अग्र भाग अर्थात् फल का उत्तम प्रकार से बना हुआ होना आवश्यक है (समाहित मुखाग्राणि— वा.) धारा की उपयोगिता का पुनः उल्लेख उसके महत्व का द्योतक है।

(x) नीलाम्भोजच्छवी (नीलोत्पन्न द्युतीनि— अ. द.) प्राचीन काल में शस्त्र उत्तम लोह के बने हुए होते थे जैसा कि "सुलोहानि" से स्पष्ट हैं; आजकाल की तरह पालिश किये हुए नहीं। यही कारण है कि इन शस्त्रों का रंग नीलकमल की तरह का बताया है।

(xi) नामानुगत रूप वाले; अर्थात्–जिस शस्त्र का जो नाम है उसकी आकृति वस्तुतः उसी प्रकार की होनी चाहिये, जैसे– वृद्धिपत्र, करपत्र आदि का आकार वृद्धिपत्र की तरह तीक्ष्णाग्र और कर (हस्त) की तरह दन्तुर आदि

होना चाहिये (नामानुगतरूपाणि— वा.)

(xii) सदा सन्निहित (सर्वकालं समीपस्थानि— अ. द.) अर्थात्- शस्त्र चिकित्सक के समीप सदा उपस्थित होने चाहिये। शस्त्रादि उपकरणों को हमेशा तैय्यार रखना चाहिये जिससे आवश्यकता के समय उनका किसी प्रकार के विलम्ब के विना उपयोग किया जा सके।

(xiii) एक ही तरह के अथवा एक ही कर्म में प्रयुक्त किये जाने वाले दो तीन शस्त्र होने चाहिये (प्रायो द्वित्राणियुंजीत— वा. सू. २६) इसका यह लाभ है कि यदि किसी कारण से कोई शस्त्र समय पर काम न करे तो दूसरे से कार्य किया जा सकता है (एवं विधानि शस्त्राणि एकैकशः स्थानविशेषात् द्वित्राणि युंजीत— अ. द.)

शस्त्र दोष शस्त्रों की वह अवस्था है जिसके कारण ये कार्यकर नहीं होते हैं। उनमें से प्रमुख शस्त्रदोष इस प्रकार हैं :—

(i) वक्र अर्थात्– जो अनावश्यक रूप से टेढे-मेढे हों।

(ii) कुण्ठ (स्थूल धारत्वेनारोमवाहि— ड.) अर्थात्– धार न होने या मुडी हुई धार होने के कारण जो 'रोमवाही' नहीं होते हैं।

(iii) खण्ड (असमग्र) अर्थात् जो टूटे हुए होने से अपूर्ण हों।

(iv) खरधार अर्थात्– जिन शस्त्रों की धार कर्कश हो।

(v) अतिस्थूल अर्थात् जो अनावश्यक रूप से बड़े आकार के और भारी हों।

(vi) अत्यल्प अर्थात् जो अत्यन्त पतले आकार के हों जिनसे उनके पकड़ने आदि में कठिनाई हो।

(vii) अतिदीर्घ अर्थात् जो शास्त्र और व्यवहार दोनों दृष्टियों से आकार में अधिक लंबे हों।

(viii) अतिह्रस्व अर्थात् जो शास्त्रोक्त लंबाई से छोटे हों।

इन दोषों से रहित शस्त्र ही उत्तम होते हैं (अतो विपरीतगुण माददीत—सु. सू.)

इस प्रकार दोषरहित किन्तु पूर्वोक्त गुणों से युक्त शस्त्र को प्रयोग में लाने से पूर्व जिस विशेष प्रकार के संस्कार द्वारा अधिक कार्यकर बनाया जाता है वह "पायना"* कहलाता है (पायना घटना— च. पा.; पायितमिति तैक्ष्ण्यकरणे शिल्पिनां भाषा– इन्दुः; पायनायां तीक्ष्णत्वादयो गुणाः कर्म

*पायना पातुं प्रयोजना, सा च लौह काराणां प्रसिद्धा– डल्लणः

विशेषोत्कर्ष हेतवो भवन्ति–डल्लरगः) शस्त्र को तैय्यार करने के तत्क्षण बाद ही उसे तैल, क्षार आदि तरल द्रव्यों में बुझाया जाता है जिससे इनमें विशेष गुणों का आधान होता है (निर्वृत्तानां शस्त्राणां तत्क्षणात् द्रवद्रव्येषु निर्वापणं पायना, सा च तत्तद्द्रव प्रभावात् कर्म विशेषोत्कर्ष करी भवति–हाराण चन्द्रः) शस्त्र के इस प्रकार के संस्कार को "टेम्पर" (Temper.) भी कहा जाता है। जिस शस्त्र का पायना संस्कार किया जा चुकता है वह 'पायित' या 'टेम्पर्ड' (Tempered.) कहलाता है।

पायना संस्कार तीन प्रकार का होता है :–

(i) तैल पायना (ii) क्षार पायना और (iii) उदक पायना

(i) तैल पायना संस्कार उस शस्त्र का किया जाता है जिससे सिराच्छेदन या स्नायुच्छेदन करना हो, और ऐसा शस्त्र 'तैल पायित' कहलाता है। यदि शर आदि शल्य या अस्थि का छेदन करना हो तो शस्त्र की क्षारपायना की जाती है तथा वह 'क्षार पायित' कहलाता है। जल में बुझाये हुए शस्त्र का प्रयोग मांस धातु के छेदन, भेदन तथा पाटन आदि के लिये किया जाता है। ऐसा शस्त्र 'उदक पायित' कहलाता है।

शस्त्र का महत्वपूर्ण गुण उसका 'सुधार' होना बताया है और इस गुण की प्राप्ति के लिये शस्त्र के पायना संस्कार के अतिरिक्त एक अन्य संस्कार भी किया जाता है जो 'निशाण' कहलाता है। वह शस्त्र जिसका निशाण संस्कार किया जा चुका हो उसे 'निशित' कहते हैं। पायना संस्कार के पश्चात् शस्त्र की धार को माषवर्ण की श्लक्ष्ण शिला पर घिसा जाता है जिससे उसकी धार एक बराबर तथा तीक्ष्ण हो जाती है। इस शिला को 'निशानी' या 'निशातनी'* कहा है। शस्त्र को निशातनी पर तब तक घिसना चाहिये जब वह बाल काटने लगे (यदा सुनिशितं शस्त्रं रोमच्छेदि– सु. सू. ८; यदा शस्त्रं रोमच्छेदि भवति तदा सुनिशितं भवति, यावद्रोमाणि न छिनत्ति तावन्निशितव्यमित्यर्थः— ड.)

शस्त्र की धार को एक बराबर करने के उपरान्त उसे मजबूत बनाने के लिये एक अन्य संस्कार भी किया जाता है जो 'धारासंस्थापन'⊕ कहलाता है। एतदर्थ निशित शस्त्र की धार को शाल्मली फलक अर्थात् सेमल की लकड़ी पर रगड़ा जाता है (तत्र अनिशित धाराणां निशाणार्थं श्लक्ष्णशिला, निशितानां संस्थापनार्थं शाल्मली फलकम्—ड.)

---

* निशातनी तैक्ष्ण्याय घर्षणशिला—इन्दुः।

⊕धारासंस्थापनं येन धारा स्पष्टमृद्वीव. क्रियते—इन्दुः।

इस प्रकार निर्माण के पश्चात् शस्त्र को 'पायना', 'निशाण' और 'धारासंस्थापन' नामक तीन संस्कारों में से क्रमशः गुजरना पड़ता है। उसके अनन्तर ही उसको प्रयोग में लाने का निर्देश है।

उपरोक्त विधियों द्वारा भली प्रकार सुसंस्कृत शस्त्र को विशेष प्रकार से निर्मित 'केस' में रखे रखना चाहिये जो 'शस्त्रकोष' कहलाता है। वाग्भट ने शस्त्रकोश का वर्णन विस्तार से किया है और यह बताया है कि इसे क्षौम, पत्र, ऊर्ण, कौशेय, दुकूल अथवा मृदुचर्म से तैयार करना चाहिये। इसका विस्तार नवांगुल और दैर्घ्य बारह अंगुल बताया है (स्यान्नवांगुल विस्तार सुघनो द्वादशांगुलः—वा. सू. २६) इसके अन्दर ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये जिससे शस्त्रों को भली प्रकार टिकाकर अलग २ रखा जा सके तथा यह भली प्रकार सिला हुआ भी होना चाहिये (विन्यस्तपाशः सुस्यूतः सान्तरोर्णास्थ शस्त्रकः—वा. सू. २६; सान्तरेति अन्तरान्तरा रोमभिः सह संसीव्य तस्मिन्पुञ्जे शस्त्रस्थितिः कार्येति—इन्दुः) शस्त्रकोश के मुख को बन्द करने के लिये शलाका का उपयोग बताया है। (शलाका पिहितास्यश्च—वा.) इस प्रकार विविध प्रकार के शस्त्रों से परिपूर्ण शस्त्रकोष (शस्त्रकोषः सुसंचयः—अ. सं. सू. ३४) हर समय तैयार रहना चाहिये।

आवश्यकतानुसार इन शस्त्रादिक को जीवित मानव शरीर पर प्रयुक्त करने के पूर्व चिकित्सक को अन्य योग्य वस्तुओं पर इनका कार्याभ्यास कर कौशल प्राप्त कर लेना चाहिये जिससे वह शस्त्रकर्म में निष्णात हो सके। इस प्रकार का कर्माभ्यास "योग्या" कहलाता है जिसे आज कल Operative Surgery. कहते हैं। सुश्रुत ने सुबहुश्रुत और अधिगत सर्वशास्त्रार्थ चिकित्सक को भी अयोग्य करार दिया है जिसने 'योग्या' न की हो (अधिगत सर्वशास्त्रार्थ मपि शिष्यं योग्यां कारयेत्; सुबहुश्रुतोऽपि अकृत योग्यः कर्मसु अयोग्यो भवति—सु.)

अतः 'छेदनयोग्या' अलाबू, त्रपुस (खीरा) आदि पर; 'भेदनयोग्या' दृति (मशक) वस्ति, प्रसेवक (चर्म निर्मित भाण्ड) आदि में जल या पंक (कीचड़) भरकर; 'लेखन योग्या' रोमयुक्त फैले हुये चर्म पर; 'वेधन योग्या' मृतपशुओं की सिराओं या उत्पल नालों पर; 'एषण योग्या' घुणोपहत काष्ठ, कमलनाल आदि पर; 'आहार्य योग्या' पनसफल मज्जा, बिल्वफल मज्जा, मृत पशुदन्त आदि पर; 'विस्रावण योग्या' मोम लगे शाल्मली फलक पर; 'सीवन योग्या' सूक्ष्मवस्त्रान्त, मृदुचर्मान्त, घनवस्त्रान्त आदि पर; 'बन्धन योग्या' पुस्तमय पुरुष (Dummy.) के अंगों पर; 'अग्नि तथा क्षार

योग्या' मृदुमांस खण्ड पर; नेत्र प्रणिधान एवं बस्तिपीडन की योग्या जलपूर्ण-घट के पार्श्वस्रोत या अलाबूमुख में करनी चाहिये।

उपरोक्त वर्णन दिग्दर्शनमात्र है। चिकित्सक अपनी वृद्धि के अनुसार भिन्न २ द्रव्यों पर योग्या प्राप्त करे (तस्मात्कौशल मन्विच्छन् शस्त्रक्षाराग्नि-कर्मसु। यत्रयत्रेह साधर्म्यं तत्र योग्यां समाचरेत्—सु. सू.) सुलभ होने से आज कल योग्या मृतमानव शरीर पर की जाती है।

इस प्रकार निष्णात चिकित्सक को ही "विशिखानु प्रवेश⊙" (वैद्यक व्यवसाय में प्रविष्ट होना) का अधिकार होता है।

संहिता ग्रन्थों में वर्णित शस्त्रों के नाम, आकार आदि का वर्णन इस प्रकार है:—

शस्त्रसंख्या तथा नाम—सुश्रुत ने चौबीस और वाग्भट तथा अष्टांग संग्रहकार ने छब्बीस शस्त्रों का वर्णन किया है जो इस प्रकार है:—

(१) मण्डलाग्र, (२) करपत्र (३) वृद्धिपत्र (४) नखशस्त्र (५) मुद्रिका (६) उत्पल पत्रक (७) अर्धधार (८) सूची (९) कुशपत्र (१०) आटीमुख (११) शरारिमुख (१२) अन्तर्मुख (१३) त्रिकूर्चक (१४) कुठारिका (१५) व्रीहिमुख (१६) आरा (१७) वेतस पत्रक (१८) बडिश (१९) दन्तशंकु (२०) एषणी (२१) सर्पमुख (२२) लिंगनाश शलाका (२३) खज (२४) कर्तरी (२५) कूर्च और (२६) कर्ण व्यधन।

इन शस्त्रों की आकृति 'आदि का वर्णन भी उपलब्ध होता है जो इस प्रकार है:—

(१) मण्डलाग्र—

> द्वे मण्डलाग्रे ये प्रोक्ते एकं वृत्तमुखं तयोः।
> तीक्ष्णधारं दृढं कार्य मेकं तच्चक्षुराकृतिः—भोजः
> मण्डलमिवाग्रं यस्यतत् मण्डलाग्रम्—डल्लणः॥

अर्थात्—मण्डलाग्र नामक शस्त्र दो प्रकार का होता है; एक वह जिसका अग्रभाग गोल होता है और दूसरे को क्षुराकृति बताया है। वाग्भट के अनुसार मण्डलाग्र का फल तर्जनी के अन्तर्नख की तरह होता है (मण्डलाग्रं फले तेषां तर्जन्यन्तर्नखाकृतिः—वा. सू. २६)

यह वर्णन अधिक स्पष्ट नहीं है अतः इसकी किसी आधुनिक शस्त्र से समता करना सरल नहीं है तथापि गोल अग्रभाग वाले को Circular knife.

⊙ Medical professional practice = विशिखानुप्रवेशः।

और क्षुराकृति को Razorlike knife. कहा जा सकता है। इस शस्त्र की लम्बाई छः अंगुल बतायी गयी है (मण्डलाग्रस्य जानीयात् प्रमाणंतुषडंगुलम्—ड.)

मण्डलाग्र का उपयोग पोथकी (Trachoma.) शुण्डिका (Tonsils.), उत्सन्न दन्त मांस, दुर्निविष्ट व्रण आदि में छेदन (Excision.) लेखन (Curettage.) आदि कर्म करने के लिये करते हैं (छेदने भेदने योग्यं पोथकी शुण्डिकादिषु—वा. सू. २६) मण्डलाग्र शस्त्र से पोथकी आदि में लेखन कर्म करने तथा आगे से गोलाकार होने से यह आज कल प्रयुक्त Chalazion Scoop. सदृश उपकरण भी प्रतीत होता है। मृतगर्भा के शस्त्रकर्म में भी इसका प्रयोग बताया है (मण्डलाग्रेण कर्तव्यं छेद्य मन्तर्विजानता—सु. चि. १५) किन्तु यह अधिकार 'अन्तर्विजानन्' को ही है।

(२) करपत्र⊕—

छेदेऽस्थ्नां 'करपत्रं' तु खरधारं दशांगुलम्।
विस्तारे द्व्यंगुलं सूक्ष्मदन्तं सुत्सरुबन्धनम् ॥ वा. सू. २६ ॥

अर्थात्—करपत्र दो अंगुल चौड़ा किन्तु दस अंगुल लम्बा खरधार वाला शस्त्र है जिसमें⊙ हाथ में अंगुलियों की तरह सूक्ष्मदन्त होते हैं। इसकी त्सरू अर्थात्—पकड़ने की मुट्ठी अच्छी होनी चाहिये (त्सरुर्मुष्टिबन्धनं ग्रहणम्—अ. द.)

करपत्र का उपयोग अस्थिच्छेदन बताया है (अस्थिच्छेदनार्थम्—अ. सं. सू. ३४) इसकी आकृति और कर्म के आधार पर यह Bone Saw. (बोन सा) कहलाता है। आज कल अनेक प्रकार के करपत्रों का प्रयोग होता है, जैसे—Nasal Saw, Hey's Saw, Adam's Saw, Butcher's Saw. आदि। मुख्य रूप से इनका उपयोग अस्थि आदि कठोर धातुओं को काटने में होता है।

(३) वृद्धिपत्र—

वृद्धिपत्रं क्षुराकारं छेद भेदन पाटने।
ऋज्वग्र मुन्नते शोफे गम्भीरे च तदन्यथा ॥
नताग्रं पृष्ठतः—वा. सू. २६ ॥

⊕क्रकचोऽस्त्री करपत्रम्—अमरकोषः।

⊙यथा करोऽगुलिभिराचितो भवति तद्वत् यत् कण्टकै राचितं स्यात् तत्करपत्रमुच्यते—ड.।

अर्थात्—वृद्धिपत्र नामक शस्त्र क्षुराकार होता है। अग्रभाग की आकृति के अनुसार यह दो प्रकार का होता है (i) ऋज्वग्र या प्रयताग्र और (ii) नताग्र या अञ्चिताग्र (वृद्धेः पत्रमिव वृद्धिपत्रम्, तच्च द्विविधम्, एकमञ्चिताग्रं द्वितीयं प्रयताग्रम्—ड.)

वृद्धिपत्र शस्त्र

चित्र संख्या—६
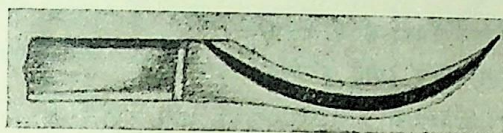
चित्र संख्या—७

"वृद्धेः पत्रमिव वृद्धिपत्रम्, तच्च द्विविधम्, एकमञ्चिताग्रम् (चि. सं. ६) द्वितीयं प्रयताग्रम् (चि. सं. ७)"—ड.।

इन दो प्रकार के वृद्धिपत्रों का उपयोग भी अलग २ होता है। ऋज्वग्र वृद्धिपत्र ऊपर को उठे हुए व्रणशोथ के भेदन में तथा नताग्र गम्भीर धातुओं के पाटन आदि में प्रयुक्त होता है। सामान्यतः वृद्धिपत्र का कर्म छेदन तथा भेदन हैं। सम्प्रति ऋज्वग्र को Scalpel. और नताग्र को Curved Bistoury. कहते हैं। वृद्धिपत्र तीक्ष्णाग्र शस्त्र है अतः मृतगर्भा में इसके प्रयोग का निषेध किया है (वृद्धिपत्रंहि तीक्ष्णाग्रं नारीं हिंस्यात्कदाचन– सु. चि. १५)

(४) नखशस्त्र––

"नखशस्त्र मष्टांगुलमे कतोऽश्वकर्ण मुखमन्यतो वत्स दन्तमुखं-
सूक्ष्मशल्योद्धृतौ–– अ. सं. सू. ३४"

अर्थात्— नखशस्त्र आठ अंगुल लंबा होता है जिसका एक किनारा अश्वकर्ण की तरह का और दूसरा वत्सदन्त सदृश होता है।

चक्रपाणि द्वारा दिये गये भोज के उद्धरण से केवल इतना ही बोध होता है कि नखशस्त्र अर्धांगुल मुख और तीक्ष्ण धार वाला होता है। डल्लण ने नखशस्त्र उसे कहा है जो नाखूनों को काटने के काम आता है (नखानां छेद-

नाय शस्त्रं नखशस्त्रम्— ड.) इसका फल एक अंगुल विस्तृत और दो अंगुल लंबा होता है। वाग्भट में वर्णित नखशस्त्र वक्रधार और ऋजुधार भेद से दो प्रकार का होता है (वक्रर्जुधारं द्विमुखं 'नखशस्त्रं' नवांगुलम्— वा. सू. २६)।

नखशस्त्र का कार्य छेदन, भेदन, प्रच्छान, लेखन और सूक्ष्म शल्य का निकालना है (सूक्ष्म शल्योद्धृतिच्छेद भेद प्रच्छन्नलेखने— वा. सू. २६) यह मुख्य रूप से नखच्छेदन में प्रयुक्त होता है (नखानां छेदने कार्यम् – भोजः) कार्य को देखते हुए नखशस्त्र Nail Cutter. है।

(५) मुद्रिका शस्त्र अथवा अंगुली शस्त्र—

मुद्रिकया विबद्धं स्याद् वृद्धिपत्र सलक्षणम् ।
द्व्यंगुलं मुद्रिका शस्त्रं क्षुरसंस्थानमेव च ।। भालुकिः ।।

अर्थात्— यह शस्त्र अंगूठी की तरह का होता है जिसे अंगुली में पहर कर शस्त्र कर्म किया जाता है। इसमें वृद्धिपत्र, मण्डलाग्र, अर्धधार आदि में से कोई एक शस्त्र लगा होता है (वृद्धिपत्र मण्डलाग्राध्यर्ध धारान्यतम तुल्यार्धांगुलायत धारम्— अ. सं.) इस शस्त्र को तर्जनी अंगुली के अग्रपर्व में स्थिर कर लिया जाता है (तत्प्रदेशिन्यग्र पर्व प्रमाणार्पण मुद्रिकम् — वा.) कार्यकाल में यह सरक न जाय इस दृष्टि से शस्त्र सूत्र से दृढता पूर्वक बंधा होता है (दृष्टसूत्र प्रतिबद्धम्— अ. सं.) तथा सूत्र को मणिबन्ध में लपेट देते हैं।

मुद्रिका शस्त्र का उपयोग कण्ठ रोगों की शस्त्रसाध्य व्याधियों में होता है (गलस्रोतो रोगच्छेदन भेदने—वा.) इसको अंगुली की सहायता से प्रयुक्त करते हैं अतः यह अंगुली शस्त्र (Finger Knife.) भी कहलाता है।

(६) उत्पलपत्र —

तुल्य मुत्पल पत्रेण तीक्ष्णधारं समाहितम् ।
षडंगुलं प्रमाणेण शस्त्रमुत्पल पत्रकम् ।। भोजः ।।
उत्पलपत्रमिव पत्र मस्येत्युत्पल पत्रकम्— ड.

अर्थात्— उत्पल पत्र नामक शस्त्र तीक्ष्णधार छः अंगुल प्रमाण का तथा फल का आकार कमलपत्र सदृश होता है। इसके फल की लम्बाई तीन अंगुल और चौड़ाई एक अंगुल होती है।

उत्पलपत्र नामक शस्त्र का उपयोग छेदन और भेदन में होता है। इस प्रकार के शस्त्र को आज कल Lancet. कहते हैं ।

(७) अर्धधार —

अर्धधारा यस्य तदर्धधारं चक्रधारमिति प्रसिद्धम्; अन्ये अध्यर्ध धारमिति पठन्ति, अधिकमर्धधारा यस्य तदध्यर्धधारम्— डल्लणः ।

अर्थात्— अर्धधार को 'चक्रधार' अथवा 'अध्यर्धधार' भी कहते हैं। वग्भट ने 'अध्यर्धधार' का वर्णन किया है (उत्पलाध्यर्ध धाराख्ये— वा. सू. २६) यह शस्त्र आठ अंगुल लंबा, फल दो अंगुल और मध्य से एक अंगुल विस्तृत होता है।

उत्पलपत्र की तरह अर्धधार का उपयोग भी छेदन और भेदन में होता है। यह भी एक प्रकार का Knife. है।

(८) सूची—

इनका विस्तार से वर्णन (९३ पृष्ठ पर) व्रणचिकित्सा के सीवन नामक उपक्रम में किया गया है।

(९) कुशपत्र—

"वृन्तं स्यात् त्र्यंगुलं चाग्रे कुशपत्र सलक्षणम्— वा."

अर्थात्— इसका वृन्तभाग तीन अंगुल और आगे से यह कुशा के पत्र के सदृश तीक्ष्ण होता है।

कुशपत्र का उपयोग विस्रावण कर्म के लिये होता है। यह भी एक प्रकार का Knife. है।

(१०) आटी मुख—

"आटी जलवर्धनी नाम पक्षिविशेषः, तन्मुख वन्मुखं यस्य तदाटी-मुखम्"—डल्लणः।

अर्थात्—आटी नामक पक्षी के मुख की आकृति वाला शस्त्र आटी-मुख कहलाता है। इसका वृन्त भाग सात अंगुल और फल आठ अंगुल लम्बा होता है।

इसका उपयोग रक्तविस्रावण में किया जाता है। यह भी एक प्रकार का Knife. है।

(११) शरारि मुख—

"शरारिर्दीर्घ चञ्चुः पक्षिविशेषः, तन्मुख वन्मुखं तस्य तत् शरारि-मुखम्"—डल्लणः।

अर्थात्—लम्बी चोंच वाले शरारि नामक पक्षी के मुखसदृश मुख वाला शस्त्र 'शरारि मुख' कहलाता है। धवल स्कन्ध और रक्तशीर्ष भेद से यह पक्षी दो प्रकार का होता है। इनमें से धवल स्कन्ध को शरारि कहते हैं। डल्लण काल में शरारि मुख शस्त्र 'कर्तरी' कहलाता था। चक्रपाणि के अनुसार 'कर्तरी' का लक्षण इस प्रकार है:—

आनु पूर्व्यायतां तीक्ष्णां प्रमाणेन दशांगुलम् ।
त्रिभागे कीलयोगं हि जानीयात् कर्तरीं भिषक् ।।

अर्थात् – कर्तरी नामक शस्त्र आगे से उत्तरोत्तर अधिक विस्तृत तथा तीक्ष्ण होता है । यह मध्य में कील द्वारा जुड़ा होता है ।

चक्रपाणि के अनुसार यह शस्त्र पाशयुक्त बन्धनकीलवती और पाशयुक्त बन्धनरहितकीलवती भेद से (जैसाकि अश्वनापितों के पास होता है) दो प्रकार का है ।

वाग्भट ने 'शरारि मुख' और 'कर्तरी' दोनों शस्त्रों का अलग २ वर्णन किया है और शरारि मुख का विस्रावण (स्राव्ये शरार्यास्यम्—वा.) तथा कर्तरी का छेदन (स्नायु सूत्रकच्छेदे 'कर्तरी' कर्तरीनिभा—वा.) कार्य बताया है । आज कल शरारि मुख या कर्तरी को 'सीज़र्स' (Scissors.) कहते हैं ।

(१२) अन्तर्मुख—

सप्तांगुलं प्रमाणेन जिह्मधारेण चाप्लुतम् ।
शस्त्रमन्तर्मुखं नाम चन्द्रार्धमिव चोद्गतम् ।।

अर्थात्—अन्तर्मुख नामक सात अंगुल प्रमाण का टेढी धार वाला तथा अर्धचन्द्र की तरह अन्दर की ओर को मुख वाला होता है (अन्तर्मुखं मध्यमुखम्—डल्लणः)

अन्तर्मुख शस्त्र का उपयोग रुधिर विस्रावण है। यह सम्प्रति Curved Bistoury. कहलाता है ।

(१३) त्रिकूर्चक—

त्रयः कूर्चाः क्षुद्रच्छुरिका यत्र तत्त्रिकूर्चकम्—हाराणचन्द्रः ।

अर्थात्—त्रिकूर्चक वह शस्त्र है जिसमें छोटी छुरी के आकार के सूक्ष्म शस्त्र लगे रहते हैं । डल्लण आदि टीकाकारों ने 'त्रिकूर्चक' की आकृति आदि को अधिक स्पष्ट करने के लिये तन्त्रान्तर के उद्धरण दिये हैं जिनसे इस शस्त्र की उपरोक्त आकृति अधिक स्पष्ट हो जाती है । इन उद्धरणों के अनुसार एक पीठ पर लगे अन्दर की ओर को मुख वाले सूक्ष्म तीक्ष्ण शस्त्र व्रीहिधान्य के अन्तर से दृढता पूर्वक टिके होते हैं । वृन्त पर दृढता तथा सौन्दर्य के लिये बलय लगा होता है ।

वाग्भट ने 'कूर्च' नाम से इसी से मिलते जुलते शस्त्र का उल्लेख किया है जिसमें सात या आठ सूक्ष्म शलाकाकार शस्त्र होते हैं । अर्श की चिकित्सा के प्रसंग में 'कूर्च' को 'सूची कूर्च' भी कहा है (अर्शोभ्यो जलजा शस्त्र सूचीकूर्चैः)

सुश्रुत ने त्रिकूर्चक का विस्रावणार्थ उपयोग बताया है। वाग्भट के अनुसार कूर्च का उपयोग 'कुट्टन' है (संयोज्यो नीलिकाव्यङ्गकेशशातन कुट्टने— वा. सू. २६)

आकार के अनुसार इसे Brush. कह सकते हैं।

(१४) कुठारिका—

कुठारिकाया वृन्तं स्या त्सार्धपंचांगुलायतम् ।
फलमर्धांगुलायामं गोदन्त सदृशं मतम् ॥

अर्थात्—कुठारिका नामक शस्त्र का वृन्त साढे पांच अंगुल और फल गोदन्ताकार तथा आधा अंगुल होता है।

सिरावेधन के लिये कुठारिका का उपयोग बताया है (यवार्धमस्थ्नामुपरि सिरां विध्यन् कुठारिकाम्—वा. सू. २७) सुश्रुत ने भी कुठारिका को व्यधन कार्य में प्रयुक्त करने का निर्देश किया है।

यह एक प्रकार का Lancet. है।

(१५) व्रीहिमुख—

व्रीहिमुखमिव मुखंयस्य तद् व्रीहिमुखम्—डल्लणः

अर्थात्—व्रीहिमुख शस्त्र का अग्रभाग व्रीहिधान्य सदृश होता है। भोज के उद्धरण के अनुसार व्रीहिमुख शस्त्र का वृन्त दो अंगुल और फल चार अंगुल होता है।

व्रीहिमुखशस्त्र

चित्र संख्या- ८
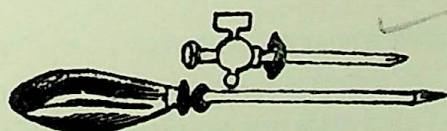
"व्रीहिमुखमिव मुखं यस्य तद् व्रीहिमुखम्"—ड.

व्रीहिमुख का उपयोग जलोदर, मूत्रवृद्धि आदि में वेधन करने के लिये होता है। तत्पश्चात् तरलनिर्हरण के लिये नाडी यन्त्र का उपयोग किया जाता है। कभी २ सिराव्यधन के लिये भी व्रीहिमुख का उपयोग होता है (व्रीहिवक्त्रं प्रयोज्यं च तच्छिरोदरयो र्व्यधे—वा. सू. २६)

आज कल व्रीहिमुख को Trocar. और नाड़ी को Cannula. कहते हैं। चित्र सं. ८ में ऊपर वाला नाड़ी यंत्र और दूसरा व्रीहिमुख शस्त्र है।

(१६) आरा⊕—

दूर्वांकुर परीणाहं वृन्तं गोपुच्छ संदृशम्—भोजः

अर्थात्—आरा नामक शस्त्र का अग्रभाग दूर्वांकुर की तरह का होता है तथा उसका वृन्त गोपुच्छ के आकार का। वाग्भट ने आरा का मुख आधा अंगुल और गोल तथा चतुरस्र बताया है (आराऽर्धांगुलवृत्तास्या—वा.) सम्पूर्ण शस्त्र की लम्बाई आठ अंगुल होती है।

आरा का उपयोग मुख्य रूप से कर्णपाली में वेधन करना है (कर्णपालीं च बहुलाम्—वा.) वाग्भट के अनुसार इसके द्वारा शोथ का पक्वापक्व निर्णय भी किया जाता है (विध्येद् शोफं पक्वामसंशये – वा.)

इसे अंग्रेजी में Awl कहते हैं। चर्मकारों के पास चमड़े में छेद करने में प्रयुक्त आरा का वर्तमान रूप देखा जा सकता है।

(१७) वेतस पत्रक—

तीक्ष्णमंगुल विस्तारं चतुरंगुल मायतम्।
अंगुलानि च चत्वारि वृन्तं कार्यं विजानता॥ भोजः॥

अर्थात्—वेतस पत्र (वेतस पत्रमिव वेतस पत्रम्—ड.) नामक शस्त्र का अग्रभाग तीक्ष्ण, एक अंगुल विस्तृत तथा चार अंगुल लम्बा होता है। इसका वृन्त भाग चार अंगुल का होता है। वाग्भटार्थ कौमुदी के अनुसार यह दन्तुर धार वाला शस्त्र प्रतीत होता है (वेतस पत्रवत् दन्तुरत्वादस्य वेतसपत्र मिति संज्ञा—वाग्भटार्थ कौमुदी)

इस प्रकार के शस्त्र को आज कल Scalpel. कह सकते हैं। सुश्रुत के अनुसार वेतस पत्र का उपयोग वेधन कर्म में होता है।

(१८) बडिश⊙—

बडिशं सुनताननम्—वा. सू. २६
सुनत मंकुशवदानतमाननं मुखे यस्य तदेवम्—अ. द.

अर्थात्—बडिश नामक शस्त्र का मुखभाग अंकुश की तरह मुड़ा हुआ होता है।

भोज के वर्णन के अनुसार बडिश का वृन्त चार अंगुल तथा अग्रभाग तीक्ष्ण, अंगुली विस्तार और चार अंगुल लम्बा होता है। तन्त्रान्तर में बडिश दो प्रकार का बताया है (i) स्वानत और (ii) नात्यानत, नात्यानत की आकृति अर्ध चन्द्रकार और स्वानत और भी अधिक मुड़ा हुआ होता है।

⊕आरा चर्मप्रभेदिका—अमरकोषः।
⊙बडिशं मत्स्यवेधनम्—अ. को,।

बडिश का उपयोग शुण्डिका, अर्म आदि को पकड़ने के लिये होता है (ग्रहणे शुण्डिकार्मादि:—वा.; आदिशब्देन प्रतिजिह्वादेर्ग्रहणम्--अ. द.)

बडिश को आंग्ल भाषा में Hook. कहते हैं। आज कल ग्रहण करने के लिये नाना प्रकार के संदंशों का प्रयोग होता है।

(१९) दन्तशंकु—

दन्तशंकु रिति कपालिका शर्करादि दन्तदोष हरणाय शंकुर्दन्तशंकुः—डल्लणः।

अर्थात्—दन्तशोधन में प्रयुक्त कीलक सदृश शस्त्र दन्तशंकु कहलाता है। तन्त्रान्तर के उद्धरण के अनुसार इसका आयाम छः अंगुल तथा मुख का अर्धांगुल होता है। यह चतुरस्र, तीक्ष्णाग्र और सम होता है इसका वृन्ताग्रभाग व्रीहिमुख शस्त्र की तरह होता है।

इसका उपयोग आहरण बताया है (बडिशं दन्तशंकुश्चाहरणे - सु.)

वाग्भट ने इस शस्त्र का दन्त लेखन नाम दिया है और कार्य दन्त-शर्करा (Tartar) को हटाना बताया है (एकधारं चतुष्कोणं प्रबद्धाकृति चैकतः। दन्तलेखनकं तेन शोधयेद्दन्त शर्कराम्—वा. सू. २६)

इसके कार्य को देखते हुये इसे Tooth Scaler. कहा जा सकता है।

(२०) एषणी—

व्रणैस्तासां परीणाह मुखं गण्डूपदाकृति—तन्त्रान्तरे।

अर्थात्—एषणी का अर्थ होता है ढूंढना (एष्यत अनया इति एषणी—ड.) और जिसके द्वारा व्रणादि का परिणाह आदि जाना जाये तथा जिसकी आकृति गण्डूपद सदृश हो वह एषणी नामक शस्त्र होता है।

एषणी का यन्त्र (शलाका) और शस्त्र दोनों में वर्णन है। इनमें भेद यह है कि एषणी शलाका द्वारा शरीर की हिंसा नहीं होती है किन्तु शस्त्रों में पठित एषणी एषण पूर्वक शस्त्र कर्म भी करती है (यन्त्रकर्माहरण मेषणं च शरीर हिंसा व्यतिरेकेण क्रियमाणं ज्ञेयम्, शस्त्रकर्माहरण मेषणं च शरीर हिंसायुक्तम्—च. पा.) अष्टांग संग्रहकार ने एषणी के इसी तरह के दो कार्य बताये हैं, एषण और भेदन (एषण्येषणे भेदने च—अ. सं.)

वाग्भट ने दो प्रकार की एषणियों का वर्णन किया है, एक 'गण्डूपद मुखी एषणी' कहलाती है जो स्पर्श में श्लक्ष्ण होती है तथा नाडी व्रण के मार्गों को जानने के लिये प्रयुक्त होती है, दूसरी एषणी 'सूची मुखा' कहलाती है। इसके मूल में छिद्र होता है तथा इसका भेदनार्थ प्रयोग किया जाता है (भेद-

नार्थेऽपरा 'सूचीमुखा' मूलनिविष्टखा—वा. सू. २६)

इस प्रकार एषणी के तीन कार्य होते हैं:—(i) केवल पूय मार्ग आदि का एषण करना। यह यन्त्र कर्म है और इस प्रकार की एषणी शलाका यन्त्रों में गिनी जाती हैं (ii) भेदन करना, ऐसी आवश्यकता भगंदरादि के शस्त्र-कर्म में होती है जहां भेदन पूर्वक अन्वेषण अथवा अन्वेषण पूर्वक भेदन करना होता है। (iii) एषणी का तीसरा कार्य है अनुलोमन, अनुलोमन विस्रावण कहलाता है (आनुलोम्यं च विस्रावण मुच्यते—च. पा.) किन्तु यहां अनु-लोमन से अभिप्राय शस्त्रादि को उपयुक्त दिशा में ले जाकर उपयुक्त शस्त्रकर्म आदि में सहायता करना है। ये तीनों एषणियां एषणी (Probe.), भेदन-एषणी (Sharp Probe.) और अनुलोमन एषणी (Probe Director.) कही जा सकती है (गतिमन्वेष्य शस्त्रेण—सु. चि. ८)

(२१) सर्पमुख—

सर्पास्यं घ्राणकर्णार्श श्छेदनेऽर्धांगुलं फले—वा.

अर्थात्—सर्पास्य नामक शस्त्र सर्पमुख के आकार का होता है तथा इसका फल अर्धांगुल परिमाण है। शलाका यन्त्रों में सर्पफण मुखी शलाका का वर्णन भी है।

इस शस्त्र का उपयोग नासार्श तथा कर्णार्श के छेदन एवं भेदन में किया जाता है।

(२२) लिंगनाश शलाका—

ताम्री शलाका द्विमुखी मुखे कुरवकाकृतिः।
लिङ्गनाशं तया विध्येत्—वा. सू. २६॥

अर्थात्—ताम्र निर्मित दो मुख वाली शलाका जिसकी आकृति कुर-वक⊕ (रक्तसहचर पुष्प मुकुलाकारा—अ. द.) की तरह होती है और लिंग नाश (Cataract) के वेधन में प्रयुक्त होती है।

सुश्रुत ने लिंगनाश की चिकित्सा में विशेष प्रकार की यववक्त्रा शलाका से वेधन का वर्णन किया है (शलाकया प्रयत्नेन विश्वस्तं यववक्त्र-या—सु. चि. उ. १७) यद्यपि शस्त्र वर्णन काल में ऐसे किसी शस्त्र का उल्लेख नहीं है। एतदर्थ प्रयुक्त वह शलाका उपयुक्त होती है जो आठ अंगुल लम्बी, मध्य में सूत्र से लिपटी हुई जिससे कार्यकाल में फिसले नहीं, और मुकुलाकृति मुख वाली तथा अंगुष्ठ पर्व सदृश स्थूल हो। यह शलाका ताम्र, लोह या स्वर्ण निर्मित होती है।

⊕सैरेयकस्तु झिण्टी स्यात्तस्मिन्कुरवकोऽरुणे—अमर कोषः।

लिंग नाश शलाका सम्प्रति Cataract Needle. कहलाती है।

(२३) खज —

अर्धांगुल मुखै र्वृत्तैरष्टाभिः कण्टकैः खजः।
पाणिभ्यां मथ्यमानेन घ्राणात्तेन हरेदसृक्—वा. सू. २६॥

अर्थात्—खज नामक शस्त्र आधा अंगुल परिमाण वाले आठ लोह निर्मित कण्टकों से युक्त होता है।

नासा से रुधिर निकालने के लिये खज का हाथों से मथन करते हैं। त्रिकूर्च या कूर्च इससे मिलते जुलते शस्त्र हैं।

(२४) कर्तरी—

इसका वर्णन 'शरारिमुख' (११वां शस्त्र) के वर्णनकाल में किया गया है।

(२५) कूर्च—

इसका वर्णन त्रिकूर्चक (१३वां शस्त्र) के वर्णन के समय किया गया है। वस्तुतः त्रिकूर्चक, कूर्च और खज में बहुत अल्प अन्तर है।

(२६) कर्ण व्यधन—

सूची त्रिभाग सुषिरा त्र्यंगुला कर्ण वेधनी —वा.।

अर्थात् – कर्णपाली के वेधन के लिये तीन अंगुल लम्बी और प्रान्त भाग से सुषिर सूची का प्रयोग किया जाता है।

वाग्भट ने मांसल और अति मांसल कर्णपाली के वेधन के लिये क्रमशः 'आरा' और 'त्रिभाग सुषिरा सूची का निर्देश' किया है।

शस्त्रों का यह वर्णन केवल उपलक्षण मात्र है। चिकित्सक का कर्तव्य है कि आवश्यकतानुसार विभिन्न प्रकार के शस्त्रों की कल्पना कर उन्हें प्रयोग में लावें। इस आधार पर पाश्चात्य वैद्यक में प्रयुक्त सभी शस्त्र आयुर्वेदिक दृष्टि से ग्राह्य, प्रयोज्य और व्यवहार्य हैं।

शस्त्र ग्रहण विधि—

संहिताकारों ने 'शस्त्र ग्रहण विधि' का वर्णन भी किया है जिसमें यह बताया गया है कि अमुक शस्त्र अमुक स्थान पर से पकड़ने पर अधिक कार्यकर होता है, जैसे—वृद्धिपत्र शस्त्र को वृन्त और फल के मध्य भाग से पकड़ना चाहिये, आदि २।

अनुशस्त्र

अशस्त्राण्येव शस्त्रकार्यं कुर्वन्तीत्यनुशस्त्राणि—इन्दुः।

अनुशस्त्रं हीनशस्त्रम्––चक्रपाणिः ।

अनुशस्त्राणि शस्त्र सदृशानि––डल्लणः ।

अर्थात्—जो शस्त्र न होते हुये भी शस्त्र की तरह कार्य करते हैं अथवा जो हीन शस्त्र (अल्प शस्त्र सम्पत् वाले) **हों या जो आकृति, गुण, कर्म आदि में शस्त्र सदृश हों वे अनुशस्त्र कहलाते हैं। वाग्भट के अनुसार ये लोह निर्मित नहीं होते हैं** (अलौहान्यनु शस्त्राणि—वा. सू. २८)

अनुशस्त्रों का प्रयोग दो अवस्थाओं⊙ में किया जाता है; (i) शस्त्रानर्ह व्यक्तियों में अर्थात् जिनमें शस्त्र पातन असम्भव होता है, जैसे—बालक भीरु आदि में और (ii) शस्त्र के अभाव में (सम्प्रति बालादीनां शस्त्रानर्हाणां शस्त्रालाभे वा प्रयोगार्थ मनुशस्त्राण्याह––चक्रपाणिः) **यात्रा, दुर्घटना आदि में हजामत करने के ब्लेड से ही बृहत्शल्य कर्म करने के उदाहरण भी हैं।**

अनुशस्त्र संख्या—

सुश्रुत ने यद्यपि चौदह प्रकार के और वाग्भट ने इससे भी कम अनुशस्त्रों का वर्णन किया है तथापि यह परिगणन उपलक्षण मात्र है और चिकित्सकों को आवश्यकतानुसार अन्य अनुशस्त्रों की कल्पना करने का निर्देश है (तान्येव च विकल्पयेत् । अपराण्यपि यन्त्रादी न्युपयोगं च योगिकम्––वा. सू. २६)

सुश्रुत ने निम्नलिखित अनुशस्त्रों का वर्णन किया है:—

"तत्रानुशस्त्राणि तु त्वक्सार स्फटिकाकाच कुरुविन्द जलौकसोऽग्नि क्षार नख गोजी शेफालिका शाकपत्र करीर बालांगुलय इति"––सु. सू. ८ ।

अर्थात्—(१) त्वक्सार (वंश–बांस की छाल) **(२) स्फाटिका (३) काच (४) कुरुविंद** (कुरुविन्दो लोहिताश्म विशेषोरत्नभेदः––च. पा.) **(५) जलौका (६) अग्नि (७) क्षार (८) नख (९) गोजी पत्र** (गोजिह्वा) **(१०) शेफालिका पत्र** (रक्तवृन्ता शारदकुसुमा––ड.) **(११) शाक पत्र** (शाकोमहावृक्षः कर्कश पत्रः––ड.) **(१२) करीरांकुर (१३) बाल और (१४) अंगुली।**

ये अनुशस्त्र भिन्न २ प्रकार के शस्त्र कर्म करने के लिये प्रयुक्त होते हैं; जैसे—

⊙शिशूनां शस्त्रभीरूणां शस्त्राभावे च योजयेत्—सु. सू. ८ ।

त्वक्सार (वंश) स्फटिक, काच और कुरुविंद का प्रयोग शस्त्रभीरुओं के शस्त्रकर्म में अथवा शस्त्र के अभाव में छेदन (Excision.) और भेदन (Incision.) कर्म करने के लिये तथा नख का प्रयोग आहरण, छेदन और भेदन में होता है। गोजीपत्र, शेफालिका पत्र और शाकपत्र से मुखरोग और वर्त्म (Lids.) रोगों में विस्रावण किया जाता है। करीरांकुर, बाल अंगुली आदि एषण कर्म में प्रयुक्त होते हैं। जलौका, क्षार और अग्नि का वर्णन तत्तत् स्थलों में किया गया है।

अनुशस्त्रादि के प्रयोग में सफलता प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि चिकित्सक इनके प्रयोग को भली भान्ति जानता हो (प्रयोगज्ञस्य वैद्यस्य सिद्धि र्भवति नित्यशः— सु. सू. ८)

उपरोक्त अनुशस्त्रों में से जलौका, अग्नि और क्षार का वर्णन व्रण के षष्टि-उपक्रमों के प्रकरण में किया गया है। शेष "प्रमुख अनुशस्त्रों का वर्णन" इस प्रकार है :—

गोजी, शेफालिका और शाक नामक द्रव्यों के पत्र स्पर्श में खुरदरे होते हैं अतः लेखन कर्म करने के लिये इनका प्रयोग किया जाता है (कर्कशानि च पत्राणि लेखनार्थे प्रदापयेत् - सु. चि. १) नाड़ीव्रण, शल्यगर्भ व्रण, उन्मार्गी भगन्दर तथा उत्संग (कोटर) युक्त व्रणों के अन्दर की स्थिति, शल्यादि की उपस्थिति, व्रणमार्ग की गहराई, लम्बाई या चौड़ाई आदि जानने के लिये करीरांकुर, बाल या अंगुली का प्रयोग किया जाता है (करीर बालागुंलिभि-रेषण्या वैषयेद् भिषक्— सु. चि. १; एषयेद् करीरादिनिक्षेपणेन तत्र मध्यनिश्चयं कुर्यादित्यर्थः— ड.) बाल का प्रयोग मस्सों को बांध कर काटने के लिये भी होता है।

षष्टि-उपक्रमों के परिगणन (४९ पृष्ठ) में बीसवां उपक्रम "स्रावण*" है जिसका अभिप्राय व्यधन कर्म (Puncturing.) साध्य दकोदर, मूत्रवृद्धि आदि रोगों में शस्त्र से वेधन करने के उपरान्त दोषों के निकलते रहने की व्यवस्था से है (शस्त्रं निदध्यात् दोषञ्च स्रावयेत् कीर्तितं यथा—सु. चि. १) स्रावण (Drainage.) की व्यवस्था के लिये नाडीयन्त्र या रबर नलिकाओं को प्रयोग में लाया जाता है (निधाय तस्मिन्नाडीं तु स्रावयेत्—वा. चि. १५) आहरण का भी कभी २ विस्रावण (Drainage) के अर्थ में प्रयोग (५६ पृष्ठ पर) औपचारिक ही समझना चाहिये।

---

*विस्रावण = Blood letting; स्रावण = Drainage.

(२२⊕) सन्धान (Grafting.) उपक्रम—

"सन्धानं व्रणौष्ठादि संयोजनम्"—डल्लणः

सन्धान पद्धति (Plastic Surgery.) शल्य शास्त्र की वह शाखा है जिसका सर्व प्रथम आविष्कार महर्षि सुश्रुत ने किया था और जो मुख्य रूप से शरीर के मृदु तन्तुओं से सम्बन्धित है। इस क्षतिपूरक (Reparative.) पद्धति का प्रयोग वहां किया जाता है जहां दुर्घटनाओं, रोग या शल्य कर्म करते समय त्वगादि धातुओं का अतिमात्र नाश हो गया हो। जन्मजात विकृतियां, जैसे—खण्डौष्ठ (Hare. या Cleft lip.) खण्ड-तालु (Cleft Ialate.); नासा, बाह्यकर्ण आदि का अंग वैषम्य (Deformity.) त्वचा के अनावश्यक उत्सेध, जैसे—रञ्जित मशक (Nevi.) आदि; अंगों की अप्राकृतताएं (Abnormalities.), जैसे—अंगुली संसक्तता (Syndactyly.); प्रजननांगों (Genitalia.) की अप्राकृतताएं; जैसे—शिश्नाधः प्रसेकता (Hypospadias.), भगीय पिधान (Vaginal atresia.) आदि में भी यह उपक्रम किया जाता है।

सीवन–उपक्रम द्वारा केवल अल्पमात्रा में ही क्षति पूर्ति हो पाती है। अतः कभी २ शरीर के अन्य स्थानों में से स्वस्थ तन्तुओं को लाकर विकृत स्थान पर स्थिर कर सन्धान करना होता है। यह क्रिया दो प्रकार से की जाती है:—

(i) कुछ तन्तु रक्त संचार के अस्थायी रूप से कट जाने पर भी कुछ समय तक जीवित रह जाते हैं; यह 'स्वायत्त सन्धान'=(Free graft.) कहलाता है। (ii) दूसरी क्रिया में यह आवश्यक है कि सन्धान प्रक्रिया के सम्पन्न होने तक तन्तुओं में रक्तसंचार यथापूर्व बना रहे (गण्डादुत्पाट्य मांसेन सानुबन्धेन जीवता—सु. सू. १६; सानुबन्धेन गण्ड प्रदेश लग्नेन, जीवतेति सशोणितेन— ड.)। यह "सानुबन्ध सन्धान=(Flap Graft.)" कहलाता है।

(i) स्वायत्त सन्धान (Free Graft.) भी दो प्रकार का होता है:—

(क) वाहिनीमय तन्तु (Vascular Tissues.) सन्धान वह कहलाता है जिसमें सन्धानित (Transplanted.) किया जाने वाला

⊕आठ प्रकार का शस्त्रकर्म, शोथ प्रतिकार में प्रयुक्त अपतर्पण से विरेचन तक के बारह उपक्रम और स्रावण उपक्रम २१ हुये।

भाग जहां रखा जाता है वहीं से प्राप्त रक्त संचार पर जीवित रह सकता है। त्वक्, अस्थि, नाडी, कण्डरा (Tendon.) कला (Fascia.) और वसा (Fat.) वाहिनीमय तन्तु हैं और तभी जीवित रहते हैं यदि इन्हें रोगी के शरीर ही से लिया जाये (Autogenous = आत्मजन्य) या वह स्थान वाहिनीमय हो जहां इन्हें संधानित किया जाये।

(ख) अवाहिनीमय तन्तु (Avascular Tissues.) सन्धान वह कहलाता है जिसमें प्रत्यक्ष रक्त संचार की आवश्यकता नहीं होती है अपितु अन्य विधियों द्वारा पोषण प्राप्त होता है। अधिकतर तरुणास्थि (Cartilage.) और कनीनिका (Cornea.) संधानित किये जाने के उपरान्त इसी प्रकार पोषण प्राप्त करते हैं। यह माना गया है कि इन्हें रोगी ही से लेना आवश्यक नहीं है अपितु दूसरे मनुष्य से भी लिया जा सकता है (Homogenous = जातिजन्य) अथवा किसी भी प्राणी से लिया जा सकता है (Heterogenous = प्राणिजन्य) किन्तु यह देखा गया है कि आत्मजन्य सन्धान तन्तु ही स्थायी रूप से जीवित रह पाते हैं।

(क) वाहिनीमय तन्तुओं (Vascular Tissues.) सन्धान में त्वक् संधान के लिये, लिये गये सन्धानीय भाग (Graft.) को वाहिनीमय स्थान पर लगाकर उस पर इस प्रकार उपयुक्त दबाव डालना चाहिये कि सीरम या रुधिर एकत्रित होकर रक्तवाहिनी–निर्माण में बाधा उपस्थित न करे। यह (भाग) नग्न अस्थि, कण्डरा या सन्धिकोष (Joint capsule.) पर लगाये जाने से जीवित नहीं रहता है।

त्वक्–सन्धान (Skin–Graft.) का उपयोग अतिविस्तृत सद्यो व्रणों या शल्यकर्म में किये गये स्तनच्छेदन (Breast Excision.) में जहां आच्छादन के लिये अत्यल्प त्वचा ही शेष रहती है अथवा दग्ध (Burns.) और संक्रमण के उपरान्त हुई त्वचा की क्षति की पूर्ति के लिये किया जाता है।

त्वक्–सन्धान करना हो तो प्रायः ऊरु के बाह्य (Outer.) या आभ्यन्तर (Inner.) अथवा भुजा (Arm.) के आभ्यन्तर प्रदेश से त्वचा को लेते हैं। जहां से त्वगादि धातुएं काटी जाती हैं वह प्रदेश "दातृ–प्रदेश = (Doner Area.)"; जहां लगाई जाती हैं वह "ग्राहक–प्रदेश = (Recipient)" और काटकर लगाया जाने वाला खण्ड "सन्धानीय–भाग = (Graft.)" कहलाता है।

सन्धानीय भाग (Graft.) को ग्राहक प्रदेश पर लगाकर सीवनकर्म

द्वारा स्थिर कर देते हैं और कार्पास कवलिका (Cotton pad) तथा विकेशिका (Gauze.) की अनेक तह रखकर इलास्टो प्लास्ट या बन्धन द्वारा उपयुक्त दबाव डालकर बांध दिया जाता है। यह दबाव लगभग ३० मि० मी० पारद (30 M. M. Hg.) होना चाहिये जिससे सन्धानीय भाग पर उतना ही दबाव पड़े कि उसे केशिकाओं (Capillaries.) द्वारा रुधिर प्राप्त करने में वाधा उपस्थित न हो। यह दबाव दो से सात दिन तक निरन्तर रखा जाता है।

अस्थि सन्धान (Bone Grafting.) का वर्णन भग्न के प्रसंग में किया गया है।

कला (Fascia.) सन्धान का प्रयोग कण्डारा (Tendon.) सन्धिकोष (Joint Capsule.) या स्नायु रज्जु (Ligaments.) की पुना रचना के लिये किया जाता है। एतदर्थ औीर्वी पेशीकला (Fascia Lata.) प्रयुक्त होती हैं।

कण्डरा सन्धान हाथ की क्षतिग्रस्त कण्डराओं की क्षति पूर्ति के लिये किया जाता है। एतदर्थ करतल प्रसारणी (Palmaris Longus.) पेशी की कण्डरा प्रयुक्त होती है।

नाडी (Nerve.) सन्धान का प्रयोग अभिघात आदि से हुई नाडियों की क्षति पूर्ति के लिये होता है। एतदर्थ ऊरू की बाह्य त्वगीय (Lateral Cutaneous.) नाडी प्रयुक्त होती है।

वसा (Fat.) सन्धान उपत्वगीय तन्तुओं की क्षति पूर्ति के लिये होता है और इस कार्य के लिये अधोनाभि प्रदेश (Sub Umbilical Area.) से वसा ली जाती है।

(ख) अवाहिनीमय तन्तुओं (Avascular Tissues.) के सन्धान में विशेषता यह है कि ये ग्राहक प्रदेश (Recipient Area.) से प्रत्यक्ष रक्त संचार प्राप्त नहीं करते हैं। ये सन्धानीय भाग (Grafts.) आत्मजन्य, जातिजन्य या प्राणिजन्य होते हैं:—

(१) तरुणास्थि (Cartilage.)—

तरुणास्थि का प्रयोग नासा, कर्ण, नेत्रच्छद (Eyelid.) या कभी २ अंगुली आदि में संधि पृष्ठ (Joint Surface.) के पुनर्निर्माण में होता है। ये तरुणास्थियां रोगी या अन्य व्यक्ति के कर्ण या पर्शुका की तरुणास्थि से ली जाती हैं। सुरक्षित वृषभ (Ox.) तरुणास्थियां भी प्राप्य हैं। विसंक्रमण के लिये पूर्ण सावधानी अनिवार्य है। प्रायः आत्मजन्य (Autogenous.)

तरुणास्थियां ही जीवित रह पाती हैं, शेष संक्रमण के कारण विलीन हो जाती हैं।

(२) कनीनिका (Cornea.)—

यदि अक्षिगोलक और इसकी रचनाएं स्वस्थ हों तो क्षतिग्रस्त कनीनिका को सन्धान प्रक्रिया द्वारा स्थानापन्न किया जाता है। मृत व्यक्ति की (Cadaveric.) कनीनिका को हिमीकरण (Refrigeration.) द्वारा सुरक्षित रख कर आवश्यकता पड़ने पर प्रयुक्त किया जा सकता है। इन सन्धानीय पदार्थों में से कुछ में वाहिनीमयता (Vascularization.) होकर अपारदर्शक (Opaque.) हो जाने की प्रवृत्ति पायी जाती है जबकि कुछ पारदर्शक बने रहते हैं।

(ii) सानुबन्ध सन्धान (Flap graft.)—

स्वायत्त सन्धान के उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि उसकी उपयोगिता बहुत सीमित है और सन्धान कर्म की उत्तमता के लिये यह आवश्यक है कि सन्धानीय भाग सानुबन्ध हो जिससे सन्धान प्रक्रिया के सम्पन्न होने तक उसे पर्याप्त मात्रा में शोणित संचार प्राप्त होता रहे।

सुश्रुत द्वारा (सू. १६ में) वर्णित सन्धान पद्धति प्रायः सानुबन्ध प्रकार की है और मुख्य रूप से कर्ण सन्धान और नासा सन्धान से संबन्धित होने पर भी ओष्ठ सन्धान (नाड़ीयोगं विनौष्ठस्य नासा सन्धान वद्विधिम्— सु. १६) और अस्थि सन्धान (तथा चास्थिषु जानता— सु. सू. १८) के लिये भी विहित है*। अस्थिसंधान में सानुबन्धता नहीं होती है।

सन्धानीय भाग जिस स्थान पर लगाना हो उसी आकार का त्वक्खण्ड इस प्रकार काटा जाता है कि वह एक ओर से यथापूर्व जुड़ा रहता है। सुश्रुत ने नापने के लिये वृक्ष के पत्रों का प्रयोग करने के लिये लिखा है (नासाप्रमाणं पृथिवी रुहाणां पत्रं गृहीत्वा— सु. सू. १६) और नासा सन्धान के लिये गण्डपार्श्व से त्वचा को काट कर लगाना बताया है (तेन प्रमाणेन हि गण्डपार्श्वात् उत्कृत्य बद्धं त्वथ नासिकाग्रम्— सु. सू. १६) कर्णपाली (Lobule.) सन्धान के लिये भी ⊕गण्डप्रदेश से ही त्वचा ली जाती है और उसे मोडकर प्रयोज्य स्थल पर लगा देते हैं (परिवर्त्यो परित्वचम्–वा. उ. १८–६१)

*ओष्ठस्याप्येष सन्धाने यथोद्दिष्टोविधिः स्मृतः। बुद्ध्योत्प्रेक्ष्याभियुक्तेन तथा चास्थिषु जानता— सु. सू. १८ ॥

⊕गण्डादुत्पाट्य मांसेन सानुबन्धेन जीवता। कर्णपाली मपालेस्तु कुर्यान्निर्लिख्य शास्त्रवित्—सु. सू. १६ ॥

(२३) पीडन उपक्रम—

*मर्मस्थानों के पूययुक्त किन्तु अल्पमुख वाले तथा सोत्संग (वा.) व्रणों में जब दोषों को बाहर निकालने के लिये शस्त्र प्रयोग निषिद्ध होता है तो व्रण के चारों ओर इस प्रकार के निःस्नेह द्रव्यों का लेप किया जाता है जो सूखने पर सिकुड़ जाते हैं और इस प्रकार व्रण में स्थित दोषों को बाहर निकाल देते हैं। अष्टांग संग्रहकार ने दस प्रकार के आलेप भेदों में से एक पीडन आलेप का उल्लेख भी किया है जिसका यही उपयोग है (सूक्ष्मास्ये व्रणे रूक्षैः पिच्छिलैश्चपीडनः—— अ. सं. उ. ३०)

पीडनद्रव्यों का उल्लेख सुश्रुत ने सूत्र स्थान में 'मिश्रक' नामक अध्याय ३६ में किया है और पिच्छिल द्रव्यों को पीडन द्रव्य बताया है। इस प्रकार यव और गोधूम चूर्ण (आटा) भी पीडन द्रव्य हैं। शल्मली आदि की त्वक् पिच्छिल होने से पीडन करती है। वाग्भट ने हरेणु, मटर, मुद्ग, यव आदि के सूक्ष्म चूर्ण को भी पीडन करने वाला लिखा है (कलाय यवगोधूम माषमुद्ग हरेणवः। द्रव्याणां पिच्छिलानां च त्वङ्मूलानि प्रपीडनम्——वा. उ. २५)

पीडन द्रव्यों का लेप करने के उपरान्त उनके सूखने तक की प्रतीक्षा करनी चाहिये और लेप करते समय यह ध्यान रखना चाहिये कि व्रणमुख अवरुद्ध न हो जाय अन्यथा दोष स्राव में बाधा उपस्थित होती है (न चाभिमुखमालिम्पे त्तथा दोषः प्रसिच्यते—सु. चि. १)—पृष्ठ १० द्रष्टव्य—।

(२४) शोणित स्थापन (Hemostatic.) उपक्रम—

रोग की शान्ति के लिये चिकित्सक स्वयं रक्त मोक्षण करता है जिसका अतियोग होने पर तथा अभिघात आदि से भी रुधिर का अधिक मात्रा में स्राव होने लगता है। ऐसी अवस्था में शोणितस्थापन उपक्रम द्वारा चिकित्सा की जाती है। इस उपक्रम का विस्तृत वर्णन "शोणित स्राव"⊕ शीर्षक से सन्मुखीन पृष्ठ १२७ पर किया गया है।

---

*पूय गर्भानणु द्वारान् व्रणान्मर्मगतानपि। यथोक्तैः पीडनद्रव्यैः समन्तात्परिपीडयेत्-सु. चि. १)

⊕रोग मुक्ति के लिये रुधिर का निकालना "शोणित विस्रावण" (Blood Letting) या "विस्रावण" कहलाता है और जब दुर्घटनाओं आदि में रक्तवाहिनियों से रक्त निकलता है तो वह अवस्था "शोणितस्राव = Haemorrhage" कहलाती है। "स्रावण = Drainage" में पूयादि के निकलते रहने की व्यवस्था की जाती है।

शोणितस्राव

(Haemorrhage.)

देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते ।
तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इतिस्थितिः ॥ सु. सू. १४–४५ ॥

अर्थात्— शरीर का मूल आधार रुधिर है और इसके द्वारा ही शरीर की स्थिति बनी हुई है अतः सभी सम्भव उपायों द्वारा रुधिर की रक्षा का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि "रुधिर ही जीवन" कहलाता है⊙ ।

इस श्लोक में रुधिर के महत्व को प्राणों के समकक्ष घोषित किया है जिससे चिकित्सक शरीर में शोणित के वैशिष्टच को ध्यान में रख कर शोणित स्राव की चिकित्सा में सावधान रहे (न च क्षरण मप्युपेक्षेत–अ. सं. सू. ३६)

शोणित स्राव में रुधिर का शरीर से बाहर निकलना मात्र ही सम्मिलित नहीं है अपितु रक्तवाहिनियों के अपने स्वाभाविक मार्ग से रुधिर का बाहर निकल आना भी शोणितस्राव माना जाना आवश्यक है ।

रुधिर का अपने स्वाभाविक मार्ग–रक्तवाहिनियों–से बाहर निकल जाना ही "शोणितस्राव" कहलाता है चाहे वह अवस्था बाह्य हो या आभ्यन्तर । शोणित स्राव से होने वाले परिवर्तन निम्न अवस्थाओं पर निर्भर करते हैं: (i) शरीर का वह स्थान जहां से शोणितस्राव हो रहा हो, (ii) शोणितस्राव की गति और मात्रा, (iii) हीमोग्लोबीन का पूर्वकालीन स्तर, (iv) महत्वपूर्ण अंगों की ओर रुधिर के आकर्षण को बनाये रखने की वाहिनी संस्थान (Vascular System.) की क्षमता और (v) रक्त आयतन (Volume.) की क्षति पूर्ति के लिये तन्तुओं में से तरल को आकृष्ट कर सकने की तीव्रता (Rapidity.)

रुधिरस्राव को उसके स्थान के अनुसार दो भागों में विभक्त किया गया है; (१) बाह्य (External.) और (२) आभ्यन्तर (Internal.) या निगूढ (Conceal.) ।

(१) बाह्य शोणितस्राव से होने वाले रुधिर के ह्रास का कारण व्रण (Wound.), विदीर्ण वाहिनियां और नववृद्धि (Neoplastic.) जन्य व्रण होते हैं । इनके परिणाम स्वरूप रुधिर शरीर के बाहर निकलने वाले मार्गों; जैसे– श्वसन (Respiratory.) मार्ग (—Haemoptysis =

⊙प्राणः प्राणभृतां रक्तं तत्क्षयात् क्षीयतेऽनलः ।
वर्धते चानिलस्तस्मात् युक्त्या बृंहण माचरेत्—अ. सं. सू. ३६ ॥

रक्तनिष्ठीवन--); महास्रोतस (-Haematemesis.=शोणित वमन-), (-Melaena=मलास्रता-); मूत्रमार्ग (-Haematuria=सरुधिर-मूत्रता-) और प्रजनन मार्गों द्वारा शरीर से बाहर निकल जाता है।

(२) आभ्यन्तर शोणित स्राव का कारण अभिघात (Trauma.), जीर्ण या तीव्र वाहिनीविकृतियां (Vascular Disorders.) और शोथात्मक तथा नववृद्धिसम्बन्धी परिवर्तन होते हैं। इससे मस्तिष्क और केन्द्रीय नाड़ी संस्थान के मर्मीय (Vital.) तन्तु तथा विशिष्ट ज्ञानेन्द्रियां प्रभावित होती हैं। संहिताग्रन्थों में यह अवस्था 'अन्तर्लोहित' कही गयी है। इसमें रोगी के अवयव शीतल हो जाते हैं (तत्रान्तर्लोहितं शीतपादोच्छ्वास करराननम्। रक्ताक्षं पाण्डु वदनमानद्धं च विवर्जयत्—अ. सं. उ. २९)

साधारण (General.) शस्त्र कर्म की दृष्टि से बाह्य शोणितस्राव जो शरीर के बहिर्मार्गों से आता है, महत्वपूर्ण है।

वाहिनियों (Vessels.) से होने वाला शोणितस्राव धमिनीय (Arterial.) सिरीय (Venous.) और केशिका (Capillay.) संबन्धी भेद से तीन प्रकार का होता है। जो शोणितस्राव व्रण होते ही होने लगता है वह "प्राथमिक=Primary.", जो उसीदिन किन्तु कुछ समय बाद होता है वह "प्रतिक्रियात्मक=Reactionary", और इनके अतिरिक्त काल में होने वाला "द्वितीयक=Secondary.", कहलाता है। प्रतिक्रियात्मक शोणित स्राव के कारण वाहिनी-बन्धन (Ligature.) का शिथिल होना, रक्त भार का बढ़ना आदि होते हैं। द्वितीयक शोणित स्राव का कारण व्रण का संक्रमणग्रस्त होना है।

बाह्यशोणितस्राव बहुत स्पष्ट होता है किन्तु महास्रोतस में होने वाले शोणित स्राव का ज्ञान मलास्रता (Melaena.) के रूप में चौबीस घन्टे या इससे भी अधिक समय में होता है। यदि आभ्यन्तर शोणित स्राव भयानक हो तो शोणित ह्रास के शरीरव्यापी लक्षण तथा चिन्ह उपस्थित होते हैं और स्थानिक तन्तुओं पर होने वाले उसके प्रभाव से शरीर के अन्दर उसकी स्थिति का ज्ञान भी हो सकता है।

वाहिनियों से बाहर निकलने वाले रुधिर से रक्तसंचयार्बुद (Haematoma.) निर्मित हो सकता है जिसके दबाव से लक्षण उत्पन्न होते हैं। यदि रुधिर शरीर की गुहाओं (उरोऽस्रता=Haemothorax; औदर्याकलास्रता=Haemoperitoneum.) में एकत्रित हो जाय तो शोणित

ह्रास भयानक होता है। सन्धिशोणितता (Haemarthrosis.) से सूजन, वेदना और सन्धि के कार्य में वाधा उपस्थित होती है।

सुश्रुतानुसार तीव्र शोणितस्राव के लक्षण इस प्रकार है :--

"तदति प्रवृत्तं शिरोऽभिताप मान्ध्यमधिमन्थतिमिर प्रादुर्भावं धातुक्षय-माक्षेपकं दाहं पक्षाघात मेकांगविकारं हिक्कां श्वासकासौ पाण्डुरोगं मरण-ञ्चापादयति—सु. सू. १४-३०"।

अर्थात्—शोणित स्राव के अधिक हो जाने से शिरःशूल, *अन्धापन, अधिमंथ, तिमिर, धातुक्षय, आक्षेपक, दाह, पक्षाघात, एकांग विकार, हिक्का, श्वास, कास, पाण्डुरोग और (कभी २) मृत्यु भी हो जाती है।

शोणित को जीवन प्रदान करने वाला बताया है (रक्तं जीवयति—सु. सू. १५-४; जीवयति जीवं धारयति—च. पा.) यही कारण है कि जिन २ अंगों तक अधिक शोणित स्राव हो जाने से रुधिर नहीं पहुंच पाता है उनके कार्य में वाधा उपस्थित होने लगती है। शिर में शोणित की कमी से शिरःशूल, नेत्रों में कमी होने से आन्ध्य, अधिमंथ, तिमिर और शरीर व्यापी लक्षण, जैसे—पाण्डु, धातुक्षय, दाह आदि होने लगते हैं। जब रक्त की न्यूनता से मस्तिष्क का अर्धभाग प्रभावित होता है तो पक्षाघात, किसी एक केन्द्र के प्रभावित होने पर एकाङ्ग वध होता है। प्राणवायु को ले जाने वाले रक्त कणों की कार्य पूर्ति के लिये रोगी शीघ्र २ श्वास लेता है। जब यह लक्षण तीव्र हो जाता है तो वायुक्षुधा (Air Hunger.) कहलाता है। इसी प्रकार प्राणदा नाडी के प्रभावित होने पर हिक्का होती है।

धमनी (Pulse.) तीव्र और विषम हो जाती है, वाहिनियां मृदु और प्रत्येक हृत् विस्फार (Diastole.) में रिक्त प्रतीत होती है। शरीर में तरलांश की न्यूनता के कारण रोगी को प्यास लगती है। मूर्च्छित होने से पूर्व कर्णनाद, नेत्र दृष्टि न्यून और उदर में बेचैनी होती है। ऐसी अवस्था में रुधिर न्यूनता से होने वाली द्वितीयक स्तब्धता या मस्तिष्क में प्राणवायु युक्त रुधिर की न्यूनता (Anoxaemia.) से रोगी की मृत्यु हो जाती है अथवा प्राणवायु रहित रुधिर से वृक्कविकृति (Anoxaemic Renal Damage.) होकर विलम्ब से मृत्यु होती है।

स्वस्थ युवा व्यक्ति २५ से ३० औंस तक के शोणितह्रास को बिना

---

*.........While the sudden onset of blindness following a severe haemorrhage is well known—R. & C.

किसी विशेष कठिनाई के सहन कर लेता है किन्तु दुर्बल, रोगी, बालक और वृद्ध व्यक्ति इससे अल्प मात्रा में हुये शोणित स्राव को सहन करने में क्षम नहीं होते हैं–इलिग वर्थ । यही हेतु है कि सुश्रुत ने इन व्यक्तियों को शोणित विस्रावण के लिये अनुपयुक्त बताया है (बाल स्थविर ······ मूर्च्छा प्रपीडितानां सिरां न विध्येत्—सु. शा. ८–२)

पूर्णतया कटी हुई धमनी से शोणित स्राव कम होता है क्योंकि इसके आवरण (Sheath.) के अन्दर का स्तर (Coat.) संकुचित हो जाता है जिससे धमनी का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और रुधिर को जमने (Clotting.) का अवसर मिल जाता है किन्तु धमनी के अपूर्ण रूप से कटने पर ये परिवर्तन नहीं हो पाते और ऐसी अवस्था में शोणितस्राव अधिक होता है ।

शोणितस्राव से रक्त के आयतन में कमी होने के साथ २ तन्तुओं में स्थित तरल रक्त वाहिनियों की ओर आकृष्ट होने लगता है । इसका परिणाम यह होता है कि रुधिर पतला (Diluted.) हो जाता है । इस पतलेपन का निर्णय हिमोग्लोबीन के अनुमान से भी किया जाता है किन्तु इस प्रकार रुधिर का पतलापन शनैः २ होता है अतः यह पद्धति सन्तोषजनक नहीं मानी जाती है ।

शोणितस्राव से होने वाली हीमोग्लोबीन की कमी से प्राणवायु का वहन भी अपर्याप्त होता है जिससे प्राणवायु युक्त रुधिर की न्यूनता (Anoxaemia.) हो जाती है और तन्तुओं को पोषण प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार पेशियों तथा हृत्पेशी (Myocardium) में दौर्बल्य आ जाता है तथा हृदयातिपात (Heart Failure.) भी हो सकता है ।

चिकित्सा—आयुर्वेदिक संहिता ग्रन्थों में शोणित स्राव को रोकने के (i) स्थानिक और (ii) आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार के उपायों का उल्लेख उपलब्ध होता है जिनका वर्णन इस प्रकार है :—

(i) स्थानिक उपाय –

चतुर्विधं यदेतद्धि रुधिरस्य निवारणम् ॥
संधानं स्कन्दनं चैव पाचनं दहनं तथा ॥ सु. सू. १४–३९ ॥

अर्थात्—शोणित स्राव की स्थानिक चिकित्सा चार प्रकार की होती हैं (i) संधान (ii) स्कन्दन (iii) पाचन और (iv) दहन । लोध्र, न्यग्रोध हरीतकी आदि कषाय द्रव्यों का स्थानिक प्रयोग करने पर रुधिर की एल्ब्यू-

मीन आदि प्रोटीनें जम जाती हैं (व्रणं कषायः संधत्ते—सु. शा. १४) जिससे रुधिर का बहना रुक जाता है। हिम आदि शीतल पदार्थों से रक्त वाहिनियों की दीवारें संकुचित होती हैं जिससे रुधिर स्राव के रुकने में सहायता मिलती है (रक्तं स्कन्दयते हिमम्—सु. सू. १४)। क्षौम वस्त्र की राख, शंख–शुक्ति आदि की भस्म रूक्षता उत्पन्न कर रक्त को रोकते हैं (तथा सम्पाचयेत् भस्म—सु. सू. १४)। यदि इन उपायों से रुधिर स्राव न रुके तो दहन कर्म करना चाहिये। वस्तुतः दहन परम विश्वसनीय उपाय है किन्तु अन्य उपायों से सफलता न मिलने पर ही इसका प्रयोग करना चाहिये (असिद्धिमत्सु चैतेषु दाहः परम इष्यते—सु. सू. १४) धमनी से निकलने वाले रुधिर को रोकने के लिये शलाका का प्रयोग होता है और सूक्ष्म वाहिनियों (केशिकाओं) से शोणितप्रस्रवण (Oozing.) हो रहा हो तो १३०–१६० फ़ै० तक उष्ण जल का प्रयोग करना चाहिये। दहन वाहिनियों को संकुचित करता है (दाहः संकोचयेत् सिराः—सु. सू. १४–४१) और अल्ब्यूमिन आदि प्रोटीनों को भी जमाता है।

वास्तव में शोणित स्राव जिस प्रकार का होता है उसीके अनुसार उसकी चिकित्सा भी होती है। यह सम्भव है कि बाह्य शोणित स्राव को रोकने के लिये विसंक्रमित व्रण बन्धन ही पर्याप्त हो (व्रण बन्धन द्रव्यै र्गाढं बध्नीयात्—सु. सू. १४) अल्प शोणित स्राव में अंगुली से पीडन मात्र ही पर्याप्त होता है (शनैः शनैः व्रणमुख मवचूर्ण्यांगुल्यग्रेणावपीडयेत्—सु. सू. १४) शोणित स्कन्दन (Clotting.) को बढावा देने के लिये कभी २ विशुद्ध थ्रोंबीन (Thrombin.) का प्रयोग भी उपयोगी होता है विशेषकर जबकि रुधिर में विकृति उपस्थित हो। कभी २ पीड़ित अंग को ऊपर उठाये रखने से भी लाभ होता है। सिरीय शोणितस्राव को रोकने के लिये साधारण व्रण बन्धन पर्याप्त होता है।

धमनी से होने वाले शोणितस्राव को रोकना अपेक्षाकृत कठिन होता है किन्तु धमनी संदंश से धमनी को पकड़ कर उसको बांध देना सद्यः फलप्रद होता है। इस स्थानिक चिकित्सा को अधिक सुगम बनाने के लिये धमनी को व्रणस्थान से दूर किसी अस्थि के ऊपर दबाया जा सकता है अथवा एतदर्थ "टूर्निके" का प्रयोग किया जा सकता है।

रक्त को रोकने के लिये स्थानिक रूप से प्रयुक्त औषधियां भी भिन्न २ क्रियाओं द्वारा कार्यकर होती हैं, जैसे—एल्ब्यूमिन को जमाने वाली औष-

धियां—टैनिक एसिड, फिटकरी, लिकर फैरीपरक्लोराइड, सिलवर नाइट्रेट आदि; रक्त वाहिनी संकोचक औषधियां, जैसे—एड्रनलिन; रक्त की जमने की शक्ति को बढाने वाली औषधियां, जैसे—कैलशियम लैक्टेट; अज्ञात क्रिया वाली औषधियां, जैसे—तारपीन का तैल। रक्त को रोकने वाली औषधियां 'शोणित स्थापक' (Haemostatic) कहलाती हैं और र० वा० को संकुचित कर रक्त को रोकने वाली औषधियां "Styptic." कहलाती हैं, जैसे—फिटकरी (Alum.)।

आभ्यन्तर शोणित स्राव या शरीर के बहिर्मार्गों से आने वाले रुधिर को रोकने के लिये रोगी को पूर्ण विश्राम देना उपयोगी होता है। कभी २ पाटनकर्म द्वारा, जैसाकि आमाशयिक या ग्रहणी व्रण में होता है, शोणित स्राव के स्थानों का बन्धन आदि कर उपचार करना होता है।

यदि नासारन्ध्रों (Nostrils.) से रुधिर आ रहा हो तो बहिर्द्वारों (Nares. नेयरीज़) को दबाये रखना पर्याप्त लाभप्रद होता है। सफलता न मिलने पर 'डूश' द्वारा नासा गुहा को स्वच्छ कर रुधिर स्राव के स्थान पर एड्रनलिन का पिचु लगा देते हैं अथवा उस स्थान का विद्युद्दहन (Cautery.) कर देते हैं। इस प्रकार भी यदि शोणित स्राव बन्द न हो तो पश्चिमीय नासारन्ध्रों को विकेशिका (Gauze.) के प्लोत (Pack.) द्वारा बन्द कर दिया जाता है क्योंकि ऐसी अवस्था में वहीं से रक्त आ रहा होता है। एतदर्थ नासारन्ध्र से कैथीटर डालकर जब वह गले में तालु के पास निकल आवे तो उसमें विकेशिका प्लोत को बांध देते हैं, बांधने के लिये कैथिटर में सूत्र पिरो दिया जाता है। नासारन्ध्र को दो प्रतिशत प्रोकेन द्रव से संज्ञा-रहित कर लिया जाता है और विकेशिकाप्लोत को एड्रनलिन में भिगो लेते हैं।

दन्तनिष्कर्षण (Extraction of Teeth.) के उपरान्त भी कभी २ रुधिर का रोकना कठिन होता है। एतदर्थ एड्रनलिन पिचु से दन्त गुहा को बन्द कर देना पर्याप्त लाभप्रद होता है अन्यथा धमनी बन्धन किया जाता है।

ऊर्ध्व शाखा में स्कन्ध के समीप ही 'टूर्निके' के प्रयोग से भुजा या अग्र भुजा से होने वाले शोणित स्राव को रोका जा सकता है। यदि शोणित स्राव का स्थान स्कन्ध के समीप ही स्थित हो और 'टूर्निके' के प्रयोग से लाभ न हो तो अक्षकाधरा (Subclavian.) धमनी को प्रथम पर्शुका पर दबाते हैं,

जिससे आगे की ओर को शोणित संचार नहीं हो पाता।

अधःशाखासे होने वाले शोणित स्राव को रोकने के लिये पिचु आदि प्रयोगों द्वारा सफलता न मिलने पर ऊरू पर टूर्निके का प्रयोग किया जाता है। अथवा पुरोर्ध्व कूट और भगसंधि (Symphysis pubis.) के मध्य स्थान में वङ्क्षणीय बन्धन (Inguinal Ligament.) से ठीक ऊपर और्वी (Femoral.) धमनी को दबाते हैं। इसी प्रकार अन्य स्थानों के रक्तस्राव को रोकने के लिये भी उपयुक्त स्थान पर दबाव डाला जाता है।

(ii) आभ्यन्तर उपाय— शोणित स्राव को रोकने के लिये प्रयुक्त आभ्यन्तर उपायों के उद्देश्य शरीर के तरलांश की क्षतिपूर्ति करना, रक्त में स्कन्दन की क्षमता बढाना और रोगी की कृशता को दूर करना होते हैं।

तरलांश की क्षति पूर्ति के लिये रुधिरान्तः क्षेप (Blood Transfusion) परम विश्वसनीय पद्धति है। तीव्र शोणित स्राव को रोकने के साथ २ अथवा शीघ्रबाद ही यह निर्णय करना होता है कि रुधिरान्तःक्षेप आवश्यक है या नहीं। एतदर्थ रुधिरस्राव की गति और मात्रा विचारणीय होते हैं। 2000 Ml. (मि. लि.) रुधिर का सहसा शरीर से बाहर निकल जाना घातक (Fatal.) होता है जबकि इतनी ही मात्रा में रुधिर का कई दिनों में निकलना भयावह नहीं होता। यदि इतना रुधिर कई सप्ताहों में शरीर से बाहर निकल जाय तो रोगी में केवल अल्पमात्रा में रक्तन्यूनता (Anaemia.) ही होती है।

रुधिरान्तःक्षेप

(Blood Transfusion.)

तथा लोहितं लोहितेनैव आप्यायते— च. शा. ६-१०

अर्थात्— रक्त की क्षति पूर्ति के लिये रक्त का प्रयोग ही एकमात्र उपाय है*।

आयुर्वेद के "सामान्यं वृद्धिकारणम्" सिद्धान्त के अनुसार शोणित स्राव से हुई रक्तन्यूनता को दूर करने के लिये रक्त का ही प्रत्यक्ष प्रयोग किया जाता है। सुश्रुत ने लिखा है कि :-

"एणहरिणोरभ्र शशमहिष वराहाणां वा रुधिरं पाययेत्—सू. १४-३६"

अर्थात्— यदि किसी कारण से शरीर से अधिक रक्त निकल गया हो तो रोगी को एणहरिण, उरभ्र (मेढ़ा) शश, महिष जौर वराह का रुधिर

---

*मृगगोमहिषाजानां सद्यस्कं जीवितामसृक्।
पिवेत् जीवाभिसंधानं जीवंतद्धयाशु यच्छति— च. सि. ६-८२

पिलाना चाहिये। संहिता ग्रन्थों में ऐसी अवस्था में रुधिर की बस्ति देने का विधान भी है (तदेव दर्भमृदितं रक्तं बस्तिंप्रदापयेत्— च. सि. ६)

किन्तु आत्ययिक अवस्था में रुधिर का मुख द्वारा प्रयोग करने से रुधिर की क्षतिपूर्ति तत्काल ही होना संभव नहीं होता है। अतः मानव के उपयुक्त रक्त को रोगी में सिरा द्वारा प्रत्यक्ष अन्तःक्षेप करने की विधि का आविष्कार किया है। मानव में पशुओं के रुधिर को मुख द्वारा देने के सिद्धान्त की अपेक्षा रोगी के रक्त के समान गुण धर्म वाले अन्य व्यक्ति के रुधिर को सिरा द्वारा प्रत्यक्ष प्रयोग करने का सिद्धान्त "सामान्यं वृद्धिकारणम्" सिद्धान्त के अधिक समीप है। इस प्रकार के रुधिर का अन्तःक्षेप निम्न लिखित अवस्थाओं में अधिकतर किया जाता है :—

(क) शोणितस्राव; जब जीर्ण रोगियों में हीमोग्लोबीन की मात्रा ४० प्रतिशत से कम हो जाती है या आकुञ्चन (Systolic.) रक्तभार ९० मि. मी. पारद (90 m. m. Hg.) से न्यून हो जाता है।

(ख) स्तब्धता; जब 'सीरम' केशिकाओं में से होकर पार्श्वस्थ तन्तुओं में प्रविष्ट हो जाती है तो रुधिर का आयतन (Volume.) कम हो जाता है अतः उसको बढ़ाने के उद्देश्य से रुधिरान्तःक्षेप किया जाता है। ऐसे अधिकतर रोगियों में रुधिर की अपेक्षा रक्तवारि (Plasma.) का अन्तःक्षेप अधिक उपयोगी होता है क्योंकि रक्त का अन्तःक्षेप करने से अनपेक्षित रक्त कण रुधिर की प्रगाढता (Haemoconcentration.) को बढ़ा देते हैं जिससे हृदय का आयास (Strain.) बढ़ जाता है।

(ग) स्कन्दन शीलता (Coagulability.) बढ़ाने के लिये, विशेषकर हीमोफीलिया (Haemophilia.) आदि में।

(घ) एप्लास्टिक (Aplastic.) रक्तन्यूनता, श्वेतमयता (Leukaemia.) और कभी २ हाज़किन का रोग (Hogdkin's Disease.) आदि रक्तज विकारों में अल्पकालीन लाभ की दृष्टि से भी रुधिरान्तः क्षेप का प्रयोग होता है।

(ङ) तीव्र संक्रमण; विशेषकर जब हीमोग्लोबीन की मात्रा ६० प्रतिशत से कम हो जाती है। रुधिरान्तःक्षेप से रोगी की क्षमता (Resistance.) बढ़ती है और रक्तन्यूनता नियन्त्रित हो जाती है।

(च) कार्बन मोनोक्साइड की विषाक्तावस्था (Poisoning.) में; सिरावेधन (Venesection.) द्वारा दूषित रुधिर (Carboxyhaemoglobin.) को निकाल देते हैं और उसके स्थान पर विशुद्ध रुधिर

(Oxyhaemoglobin.) का अन्तःक्षेप किया जाता है।

रुधिरान्तःक्षेप प्रक्रिया में एक व्यक्ति के रुधिर को दूसरे व्यक्ति में सिरा द्वारा अन्तः प्रविष्ट किया जाता है। जिस व्यक्ति से रुधिर लिया जाता है वह "रक्तदाता = Donor." और जिसमें रक्त प्रविष्ट किया जाता है वह "रक्तग्राहक = Recipient." कहलाता है। यदि रक्तदाता और रक्त-ग्राहक दोनों व्यक्तियों के रुधिर में विशिष्ट समानता (Compatibility.) हो तभी रक्त का अन्तःक्षेप यथेष्ट फलप्रद होता है अन्यथा दोनों के रक्त में विशिष्ट समानना न होने पर रक्त के परस्पर मिलते ही 'रक्ताणुविघात' (Haemolysis.) होने लगता है जो घातक भी हो सकता है। रक्ताणु-विघात होने से पूर्व रक्ताणुओं की परस्परश्लिष्टता (Agglutination.) होना निश्चित है। विशिष्ट समानता जानने के लिये रुधिर का परीक्षण अनिवार्यतः करना होता है।

कौन से व्यक्ति का रुधिर किस व्यक्ति के रुधिर से विशिष्टसमानता रखता है यह जानने के लिये रुधिर को चार वर्गों में विभक्त किया गया है। ये वर्ग O. A. B. तथा A. B. हैं। जिस व्यक्ति का रुधिर O वर्ग का होता है उसे अन्य सभी वर्ग के रुधिर वाले व्यक्तियों में प्रविष्ट किया जा सकता है, अतः O वर्ग वाले व्यक्ति को "सर्व रुधिर दाता = Universal Donor." कहते हैं। इसी प्रकार A. B. वर्ग के रुधिर वाले व्यक्ति अन्य सभी वर्ग के व्यक्तियों के रुधिर को ग्रहण कर सकते हैं अतः ये "सर्व रुधिर ग्राहक = Universal Recipients." कहलाते हैं।

यदि आत्ययिक अवस्था में किसी व्यक्ति को रुधिरान्तःक्षेप की आवश्यकता हो तो उस समय विशिष्ट समानता वाले रुधिर की खोज में व्यर्थ ही समय नष्ट करना पड़ता है अतः बड़े २ चिकित्सालयों में ऐसे व्यक्तियों के नाम पते आदि लिखे रहते हैं जिन्हें आवश्यकता होने पर बुलाया जा सकता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये रुधिर को आजकल 'अस्रसरों' (Blood-Banks.) में सुरक्षित भी रखा जाता है।

रक्त किस वर्ग का है यह जानने के लिये वर्ग A. और वर्ग B. रक्त के सीरम के एक २ बिन्दु को स्लाइड के दोनों प्रान्तों पर रख कर उसमें व्यक्ति के रुधिर की एक २ बून्द मिला दी जाती है। पांच मिनट के उपरान्त इसका अणुवीक्षण परीक्षण करते हैं। यदि ये परस्पर मिल कर हलके लाल रंग के हो गये हों तो व्यक्ति वर्ग O का है और यदि दोनों सीरम बिन्दुओं में रक्तकण आपस में संसक्त होगये हैं तो व्यक्ति का वर्ग A.B. है; इसी प्रकार

केवल वर्ग A में संसक्त होने से व्यक्ति वर्ग B का और वर्ग B में रक्तकणों के संसक्त होने से व्यक्ति वर्ग A का होता है। परस्पर श्लिष्टता (Agglutination.) होने पर रक्तकण नीचे बैठ जाते हैं जिन्हें साधारण नेत्रों से देखना सम्भव होता है।

रुधिरवर्ग निर्णायक कोष्ठक

सीरम (Serum)	परस्पर श्लिष्टता (Agglutinaton)	वर्ग (Group)
A सीरम	+	B
B सीरम	+	A
दोनों (A और B) सीरम	+	AB
दोनों (A और B) सीरम	—	O

वर्गपरीक्षा की प्रत्यक्ष पद्धति (Direct Test.)

रक्तग्राहक (Recipient) की सिरा से ३ से ५ सी. सी तक रुधिर निकाल कर एक ट्यूब में उसके जमने तक रखते हैं। तदनन्तर उसकी सीरम को अलग कर लेते हैं। इस सीरम के दो बिन्दु स्लाइड पर रखें और रक्तदाता (Donor) की अंगुली से रुधिर का एक लघु बिन्दु लेकर उसे साधारण लवण द्रव (Saline) की दो बूंद मिलाकर हल करलें; फिर इसे सीरम बिन्दु में डालकर खूब मिला दें। यदि अस्त्रसर (Blood Bank) से रुधिर लेकर अन्तःक्षेप करना हो तो भी रक्तग्राहक की सीरम मिलाकर इस प्रकार परीक्षा की जा सकती है। यदि मिथः श्लेषण (Agglutination.) उपस्थित हो तो ऐसा रुधिर अन्तःक्षेप के अयोग्य समझा जाता है।

ह्रीसस तथ्य (Rhesus Factor.):—

उपरोक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त ८५ प्रतिशत व्यक्तियों के रक्त कणों में ह्रीसस मिथःश्लिष्टता (Rhesus Agglutination.) की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। Rh शब्द ह्रीसस वानर के लिये आता है जिसके रुधिर को शशकों में (Rabbits.) में प्रयुक्त कर उनकी Antisera से मानव रुधिर को दो भागों में विभक्त किया गया है। इस सीरम को

(अस्त्यात्मक + नास्त्यात्मक —)

मानव रुधिर से मिला कर यदि मिथः श्लिष्टता हो जाती है तो उसे "आर एच अस्त्यात्मक = Rh positive" और मिथः श्लिष्टता न होने पर "आर एच नास्त्यात्मक = Rh negative" कहते हैं। जब 'आर एच अस्त्यात्मक' रक्त कणों का 'आर एच नास्त्यात्मक' रक्त कण वाले व्यक्ति में अन्तःक्षेप किया जाता है तो उसमें प्रतिरोधी (Antibodies) उत्पन्न हो जाते हैं।

रक्त लेना—रक्तदाता को उत्तम स्वास्थ्य युक्त, दृढांग (Robust) और विषम ज्वर, फिरंग तथा किसी भी संक्रामक व्याधि से रहित होना चाहिये।

रुधिर को निकालते समय स्वच्छता की पूर्ण सावधानी रखनी आवश्यक है और रुधिर को बाह्य वायु के सम्पर्क में कम से कम आने देना चाहिये। साधारणतः रुधिर निकालने के यन्त्र में सूची (Needle) और ट्यूब होते हैं जो निवात (Vacuum) बोतल से सम्बन्धित होते हैं। बोतल में स्कन्दन निरोधी (Anticoagulant) पदार्थ होता है।

रक्तदाता ऊर्ध्वमुखशयनमुद्रा (Recumbent) में लेटता है और अपनी भुजा को शरीर से कुछ हटाकर रखता है। तदनन्तर यन्त्रण शाटक के द्वारा सिरा का उत्थान कर कूर्पर के सन्मुखीन भाग को संज्ञा रहित कर लिया जाता है और इस स्थान की किसी उपयुक्त सिरा का वेधन कर देते हैं। उसके पश्चात् सूची से लगी हुई रबर ट्यूब को बोतल से सम्बन्धित कर दिया जाता है। रुधिर जमने न पावे, एतदर्थ बोतल को हिलाते रहते हैं।

इस प्रकार एकत्रित किये गये रुधिर को स्कन्दन बिन्दु (Freezing Point) से कुछ अधिक ताप में रखते हैं और अन्तःक्षेप करने से पूर्व इसे कमरे के ताप (Room Temperature) तक उष्ण कर लेते हैं। अधिक उष्णता और बोतल को अधिक हिलाने से क्रमशः प्रतिक्रियाएं और रक्तकणों के नाश का भय रहता है।

जब रुधिरग्राहक में सिरा द्वारा रुधिर का अन्तःक्षेप करना होता है तो रक्त पूर्ण बोतल को इस कार्य के लिये उपयुक्त यन्त्र से सम्बन्धित कर दिया जाता है। इसमें रुधिर की गति को नियन्त्रित करने की भी व्यवस्था होती है। शोणितस्राव में रुधिर को तीव्रता से शरीर में प्रविष्ट करना होता है किन्तु आभ्यन्तर शोणित स्राव में रक्त भार बढकर अधिक शोणित स्राव

न होने लगे इस दृष्टि से ४० बिन्दु प्रति मिनट की गति से रुधिर को अन्तः प्रविष्ट किया जाता है। यद्यपि अन्तः प्रविष्ट किये जाने वाले रुधिर की मात्रा रोगी की आवश्यकता पर निर्भर करती है तथापि सामान्यतः एक पिंट (२० औंस) रुधिर दिया जाता है और स्तब्धता तथा अति शोणितस्राव में इससे अधिक मात्रा की भी आवश्यकता हो सकती है।

प्रतिक्रियाएं (Reactions)—रुधिर अन्तःक्षेप के उपरान्त सर्व साधारण प्रतिक्रिया ज्वर है जो कुछ घन्टे बना रहता है, कभी २ इसके साथ शैत्य, शिरःशूल और हृल्लास भी होते हैं। लवण द्रव (Saline) के अन्तर्नि क्षेप (Infusion) में भी ये लक्षण साधारणतः उपस्थित होते हैं। इसका कारण स्वच्छता में न्यूनता रह जाने से मृत जीवाणुओं का भी रुधिर में मिल जाना समझा जाता है।

भीषण प्रतिक्रियाएं अनुपयुक्त (Mis-matched) रुधिर के अन्तः क्षेप या "Rhesus Agglutination=हीसस मिथः श्लिष्टता" के परिणाम स्वरूप होती हैं। ऐसी अवस्था में रुधिर अन्तःक्षेप के शीघ्र बाद ही रोगी बेचैनी और छाती में भी भारीपन आदि अनुभव करने लगता है। यदि ऐसी स्थिति में रक्त देना बन्द न किया जाये तो रोगी को शैत्य तथा ज्वर हो सकते हैं।

अनुपयुक्त रुधिर के अन्तःक्षेप से कटिशूल, अंग शूल, कृच्छ् श्वास, धमनी तीव्र और दुर्बल तथा मृत्यु भी शीघ्र हो जाती है। कटिशूल आदि लक्षणों के आरम्भ में ही यदि अन्तःक्षेप को रोक दिया जाये तो रोगी की दशा में सुधार होने लगता है तथा कुछ समय बाद Haemoglobinuria और कामला–अन्तःक्षिप्त रक्त कणों के नष्ट होने से–हो जाते हैं।

अमूत्रता (Anuria) उपद्रव भी कभी २ देखा जाता है।

रुधिर वारि (Plasma) का अन्तःक्षेप भी इसी प्रकार किया जाता है किन्तु इसके लिये रुधिर के वर्गों को जानना अनावश्यक होता है। प्रायः इसका उपयोग अभिघातजन्यस्तब्धता आदि उन अवस्थाओं में होता है जहां रक्त भ्रमण में तरल के आयतन (Volume) को पुनः स्थापित करना होता है (क्षीणाः वर्धयितव्याः—चरकः)

शोणितस्राव का प्रमुख लक्षण होने के कारण "स्तब्धता" का वर्णन किया जाता है—

स्तब्धता
(Shock.)

"क्षीणरक्तस्य हि वायु र्मर्माण्युपसंगृह्य मूर्च्छादीन् करोति मरणं वा"—अष्टांग संग्रहः।

"स्तब्धाङ्ग दृष्टिस्त्वसृजा गूढोच्छ्वासश्चमूर्च्छितः"—सु. उ. ४६–१०

"शोणित संचार के निपात की अवस्था⊕" स्तब्धता कहलाती है। स्तब्धता अधिकतर कारखानों, सड़कों और लड़ाई के मैदानों में होने वाली दुर्घटनाओं में लगे तीव्र अभिघातों के परिणाम स्वरूप होती है। जो व्यक्ति तीव्र स्वेद, वमन, अतिसार आदि से दुर्बल हुये होते हैं उनमें स्तब्धता भी तीव्र होती है। शोणित स्राव के कारण भी तीव्र स्तब्धता पायी जाती है।

यद्यपि स्तब्धता से शोणित स्राव का निकट सम्बन्ध है तथापि यह अवस्था अन्य भी कई कारणों से हो सकती है, जैसे—तीव्र अभिघात, शल्य-कर्म, दग्ध, हिमघात (Freezing) श्वासावरोध (Asphyxia), अंशु-घात; तीव्र संक्रमण, जैसे—रोहिणी (Diphtheria) श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया), अग्न्याशय शोथ, उदर्याकिला शोथ, वात निर्जीवांगता (Gas Gangrene) बिषैले पदार्थों के सेवन से, अनुपयुक्त अन्तर्निक्षेप (Mismatched Transfusion) की प्रति क्रिया से; प्राणि–रसायन सम्बन्धी विकृतियां (Biochemical Upsets) जैसे—मधुमेह मूर्च्छा (Diabetic Coma)। विजातीय (Foreign) प्रोटीन का सूचीवेध करने से भी स्तब्धता देखी जाती है, जैसाकि कभी २ पैनिसिलीन के सूचीवेध के बाद देखा गया है। यह Anaphylactic Shock कहलाता है। स्तब्धता के इन भिन्न २ कारणों के होते हुये भी इस दशा का आधार तान्तविक संवर्तन (Tissue Metabolism) का तीव्र अवसादन (Severe Depression) होता है।

स्तब्धता के दो प्रकार होते हैं—प्राथमिक स्तब्धता (Primary Shock) और द्वितीयक स्तब्धता (Secondary Shock)। इन दोनों प्रकारों में निम्नलिखित लक्षण उपस्थित होते हैं:—

(१) हृत्स्पन्द (Heart Beat) की शक्ति न्यून हुई होती है। यदि संकोचक रक्तभार (Systolic Blood Pressure) ६० मि० मी०

⊕A stage of collapse of the circulation.=शोणित संचार के निपात की अवस्था।

पारद (60 M. M. Hg.) तक गिर जाये तो तात्कालिक सद्यः फलप्रद उपचारों के बिना जीवन संकटमय समझा जाता है।

(२) केशिकाओं की परिस्रुतता (Permeability) बढ़ जाती है जिससे तन्तुओं में रक्तवारि (Plasma) संचित हो जाता है।

(३) रुधिर का आयतन (Volume) न्यून हो जाता है जिसका कारण रुधिरस्राव, वमन, स्वेद और रक्तवारि का तन्तुओं में एकत्रित (विशेषकर दग्ध में) होना है। सम्पूर्ण रुधिर का १५-२०% आयतन कम होने से स्तब्धता अल्प और ४०% आयतन कम हो जाने से तीव्र होती है।

(४) रुधिर की श्लक्ष्णता (Viscosity) बढ़ी हुई होती है जिस का कारण रुधिरसंचार में से तरल का ह्रास होना है। इससे रक्त में प्रगाढ़ता (Haemoconcentration) बढ जाती है, विशेषकर दग्ध से पीड़ित व्यक्तियों में क्योंकि इसमें रक्तवारि का अधिक मात्रा में ह्रास हुआ होता है। यदि हीमोग्लोबीन की रुधिरप्रगाढता १५० प्रतिशत से अधिक हो गयी हो तो रोगी का ठीक होना लगभग असम्भव होता है।

प्राथमिक स्तब्धता अभिघात के तत्काल बाद ही उत्पन्न हो जाती है जिसका कारण सौषुम्न केन्द्रों (Medullary Centres) का मानसिक (Psychogenic) या नाडीय (Neurogenic) अथवा दोनों की प्रेरणा (Impulse) से अत्यधिक क्षुब्ध होना है।

मानसिक स्तब्धता (Psychogenic Shock) का कारण भय, संत्रास (Terror) और मानसिक उद्वेग होता है। वातिक Nervous) प्रकृति वाले व्यक्तियों में दार्शनिक (Philosophical) विचार धारा वाले व्यक्तियों की अपेक्षा पश्चात्-शल्यकर्मीय (Post-Operative) स्तब्धता अधिक पायी जाती है। इस प्रकार यदि मस्तिष्क किसी अन्य कार्य में व्यस्त हो, जैसे—लड़ाई के मैदान में, तो व्यक्ति कभी २ भयानक अभिघात के होने पर भी उससे अप्रभावित रहता है। एक सैनिक का ऐसा उदाहरण भी है कि बन्दूक की गोली उसकी छाती के आर पार निकल गयी थी किन्तु उसके साथी के द्वारा यह बताये जाने पर कि उसकी कमीज रुधिर से भीगी हुई है, उसका ध्यान चोट की ओर गया। वातिक प्रकृति वाले व्यक्तियों में अल्प आघात भी तीव्र स्तब्धता उत्पन्न करता है। ऐसे व्यक्तियों द्वारा यह कहना कि "मैं भय से मरा जा रहा हूं" आवश्यक नहीं कि अतिशयोक्ति पूर्ण हो। सुश्रुत ने "भीरु" व्यक्तियों के लिये शल्य कर्म के समय विशेष व्यवस्था आवश्यक बतायी है और सत्ववान् व्यक्तियों को 'सर्वसह' कहा है

(सत्ववान् सहते सर्वं संस्तभ्यात्मान मात्मना । राजसः स्तभ्यमानोऽन्यैः सहतेनैव तामसः— सु. सू. ३५–३८; सत्ववतां दारूणैरपि क्रियाविशेषैर्न व्यथा भवति —सु. सू. २३–३) सुश्रुत ने ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख भी किया है जो रुधिर की गन्ध या दर्शनमात्र से मूर्च्छित हो जाते हैं (केचिद् रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुविमानवाः— सु. ६–४६)

नाडीय (Neurogenic) स्तब्धता सौषुम्न केन्द्रों की अत्यधिक उत्तेजना के परिणामस्वरूप होती है । इस प्रकार की उत्तेजना मध्यदेहीय (Somatic) या स्वतन्त्र (Autonomic) नाडियों की प्रेरणाओं (Impulses) से होती है, जैसे— वृषण (Testicle) या औदरिक नाडीजाल (Solar plexus) पर का आघात मारक हो सकता है । नाडीय स्तब्धता तीव्रदग्ध और अनेक अभिघातता (Multiple injury) में प्रायः उपस्थित होती है । औदरिक शस्त्रकर्म में, विशेषकर औदरिक अंगों (Viscera) को यदि मार्दव के साथ स्पर्श न किया गया हो, तो भी नाडीय स्तब्धता पायी जाती है ।

द्वितीयक स्तब्धता (Secondary shock)— यह अभिघात लगने से दो या कुछ घन्टों में पायी जाती है । रोगी को नग्न रखने (Exposure), वेदना, निराहार (Starvation), तरल की न्यूनता, विशेषकर रुधिर की, नष्ट हुए तन्तुओं से उत्पन्न पदार्थों के शोषण तथा विषसंचार से यह अवस्था उत्पन्न होती है । द्वितीयक स्तब्धता के प्रति मनोवैज्ञानिक तथ्य (Psychogenic factor) भी, किन्तु अपेक्षाकृत कम, उत्तरदायी होते हैं ।

द्वितीयक स्तब्धता के स्पष्ट लक्षण शरीर का पीला होना (Pallor =पीतता), स्वेदागम, चिन्ताग्रस्त आकृति और प्रायः वमन होना हैं, रोगी पिपासाकुल होता है और लक्षणों के बढ़ जाने पर निश्चेष्ट (Apathetic) हो जाता है किन्तु साधारणतः होश (Conscious) में होता है । श्वास-क्रिया मन्द हो जाती है; धमनी स्पन्दन (Rate) बढ़ जाता है और रक्त भार न्यून हो जाता है तथा ताप अधः प्राकृत होता है ।

चिकित्सा— शल्यचिकित्सा में शस्त्र कर्म के उपरान्त होने वाली स्तब्धता को न होने देने के सर्वोत्तम उपाय संज्ञाहरण का विधिवत् प्रयोग, अंगो को यथासंभव कम से कम हानि पहुंचाना, रक्तक्षति की उपयुक्त ढंग से पूर्ति करना और रक्तभार को कम होने से 'रुधिर–अन्तःक्षेप' द्वारा रोकना है ।

तीव्र अभिघात, रक्तस्राव, दग्ध, तीव्र तरलाल्पता (Dehydration) और दीर्घकालीन (Prolonged) शस्त्रकर्म में स्तब्धता का

होना निश्चित होता है अतः एतदर्थ व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में पहिले ही से यथासंभव सतर्क रहना चाहिये।

प्राथमिक सहायता (First aid)-- रोगी को लिटाकर उसके अंगों (शाखाओं) को ऊपर उठाना (Elevation) स्तब्धता का सुलभ उपचार है। अधः शाखाओं को ऊर्ध्वाधर रेखा में ऊपर उठाने के साथ श्रोणि-भाग को भी ऊपर उठा देते हैं। इस प्रकार गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त के अनुसार इन अंगों का रुधिर मध्यदेह और मस्तिष्क में आजाता है*। इस पद्धति को अधिक उपयोगी बनाने के लिये दूसरे व्यक्ति द्वारा रोगी की ऊर्ध्वशाखाओं को भी इसी प्रकार ऊपर उठाया जा सकता है। रोगी के शिर के नीचे तकिया नहीं होना चाहिये तथा रोगी की शय्या के पैरों की ओर के भाग को ऊंचा उठाकर रखना चाहिये।

ऐसे समय रोगी के साथ सहानुभूतिपूर्ण और धैर्य बंधाने वाला व्यवहार परम उपकारक होता है। ⊕लव और बैली ने मौखिक परीक्षा का उद्धरण दिया है जिसमें यह पूछा गया था कि "क्या स्तब्धता की प्राथमिक चिकित्सा का सेवन कर्णेन्द्रिय द्वारा किया जाता है?" और इस प्रश्न का अपेक्षित उत्तर भी दिया है कि "धैर्य बंधाने वाले शब्द स्तब्धता के प्राथमिक उपचार में नितान्त महत्वपूर्ण होते हैं"। सुश्रुत ने व्रणवेदना की शान्ति के लिये प्रियंवद और सुहृदय व्यक्तियों द्वारा परिचर्या का निर्देशन किया है (सुहृदो विक्षपन्त्याशु कथाभिर्व्रण वेदनाः ।। आश्वासयन्तो बहुशः स्वानुदुकूलाः प्रियंवदाः– सु. सू. १९–८)

उष्णता (Warmth)– स्तब्धता से पीडित व्यक्ति को उष्ण रखना चाहिये या शीतल इस सम्बन्ध में पाश्चात्य शल्यशास्त्रियों की एक सम्मति नहीं है। स्तब्धता में उष्ण जल की बोतलों, विद्युत् उष्णक (Electric-heater) आदि के अधिक प्रयोग से वाहिनियां विस्तृत हो जाती हैं और इस प्रकार रुधिर का अधिक अंश शरीर के बाह्य भाग में आ जाता है जिससे मस्तिष्क आदि महत्वपूर्ण अंगों में रुधिर की और भी न्यूनता हो जाती है।

---

*चरकानुसार भी गर्भावस्था में रुधिरस्राव हो रहा हो तो रुग्णा की शैय्या का सिरहाना नीचा होना चाहिये (पुष्पदर्शनादेवैनां बूयात्–शयनं तावन्मृदु सुखशिशिरास्तरण संस्तीर्ण मीषदवनतशिरस्कं प्रतिपद्यस्वेति––चरक –शा. ८–२५)

⊕What first-aid treatment is administered by the ear ? was a question in oral examination. The answer required was "words of comfort !"–L & B.

दूसरी ओर रोगी को शीतल रखने में यह बताया जाता है कि वाहिनीसंकोचन (Vasoconstriction) स्तब्धता में उपयोगी होता है तथा हिमगात्रता (Hypothermia) में तन्तु अभिघात को सहन करने में अधिक क्षम होते हैं और त्वचा की लघुधमनियों के संकोचन के कारण तन्तुओं को प्राण-वायु (Oxygen) की आवश्यकता भी अल्प होती है। इसी आधार पर हिमगात्रता की अवस्था में बड़े २ शल्यकर्म किये जाने लगे हैं। इस प्रकार पश्चात्–शस्त्र कर्मीय स्तब्धता भी अल्प होती है।

वास्तव में रोगी को साधारणतः उष्ण रखना उपयोगी होता है जिससे उसका शारीरताप प्राकृत बना रहे । अधिक उष्णता और अधिक शीतता व्यावहारिक दृष्टि से हानिकर हैं। सुश्रुत ने रुधिर के अतिस्रवण से उत्पन्न लक्षणों से पीड़ित व्यक्ति की चिकित्सा में शीतल उपचार को ही प्राधानता दी है (अथातिप्रवृते......... शीताच्छादन भोजनागारैः शीतैः परिषेकप्रदेहै-श्चोपाचरेत्— सु. सू. १४–३६)

अहिफेन सत्व (Morphine)— इसके प्रयोग से स्तब्धता निरोधी किसी प्रकार का लाभ नहीं होता है, अतः यदि विशेष आवश्यकता न हो तो इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि इससे श्वसन संस्थान का अवसादन (Respiratory depression) होता है, विशेषकर शिरोऽभिघात की अवस्था में। यदि रोगी को असह्य वेदना हो रही हो तो अहिफेन सत्व का $\frac{1}{6}$ से $\frac{1}{4}$ ग्रेन की मात्रा को एक सी. सी. परिस्त्रुत जल में घोलकर "अन्तः-सिरीय" सूचीवेध करना चाहिये क्योंकि न्यून (Low) रक्त भार में अध-स्त्वगीय या अन्तःपेशीय सूचीवेध द्वारा प्रविष्ट औषध का आचूषण भलीभान्ति नहीं होता है। इस सूचीवेध को अत्यन्त शनैः २ (एक मिनट में) देना चाहिये।

शरीर के तरल को उपयुक्त मात्रा में बनाये रखना भी नितान्त आवश्यक है। यदि रोगी होश में है और मुख द्वारा तरल ले सकता है तो ऐसी अवस्था में उष्ण तथा मधुर चाय सर्वोत्तम पेय है। इस प्रकार तरलांश की क्षति पूर्ति न्यूनाधिक मात्रा में हो जाती है और रोगी की पिपासा भी शान्त हो जाती है। यदि स्तब्धता का कारण शोणित स्राव हो तो रुधिरान्तः क्षेप आव-श्यक हो सकता है । रुधिर स्राव से असम्बन्धित स्तब्धता में रक्तवारि (Plasma) या प्रतिनिधि तरलों का सिरा द्वारा प्रयोग करना चाहिये ।

भयानक अवस्थाओं में हीमोग्लोबीन की प्रतिशत मात्रा जानने के लिये

रुधिर परीक्षण बार २ करना चाहिये जिससे रुधिर प्रगाढता (Blood Concentration) को हानिकर स्तर तक पहुंचने से पूर्व ही "तरल-अन्तर्निक्षेप (Infusion)" द्वारा रोका जा सके।

प्राणवायु का प्रयोग (Oxygen Therapy)—यदि स्तब्धता उपद्रव रहित है तो प्राणवायु के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती है। किन्तु जिन व्यक्तियों में अहिफेन सत्व का अधिक मात्रा में प्रयोग किया गया हो, जिनमें फुफ्फुस सम्बन्धी (Pulmonary) उपद्रव हों तथा जो कोयलों की गैस से मूच्छित हों उनमें आक्सीजन का प्रयोग लाभकर होता है।

रक्तभार वर्धक औषधियां जैसे—मैथिड्रीन (Methedrine) १५–३० मि० ग्रा० की मात्रा में अन्तः पेशीय या १०–२० मि० ग्रा० की मात्रा में अन्तः सिरीय देने से, विशेषकर स्तब्धता के आरम्भ में, सन्तोष जनक लाभ होता है। आवश्यकता होने पर चार घन्टे के उपरान्त इस सूचीवेध का अन्तः पेशीय प्रयोग पुनः किया जा सकता है। आयुर्वेदिक चिकित्सा में कस्तूरी ½ रत्ती से १ रत्ती तक या इसके बृहत् कस्तूरी भैरव आदि योग तथा मकर-ध्वज आदि महौषधों का स्तब्धता में रक्तभार और शारीरिक अधः प्राकृत (Subnormal) ताप की वृद्धि के लिये सफलता से प्रयोग होता है। कारटीसोन (Cortisone) का १०० मि० ग्रा० मात्रा में प्रति छः घन्टे के उपरान्त अन्तः पेशीय सूचीवेध भी स्तब्धता की अवस्था में सफलता से दिया जाता है यदि इसका कारण एड्रेनल (Adrenal) का अभाव हो। यह सूची-वेध दग्ध (Burns) से उत्पन्न स्तब्धता में भी उपयोगी है।

(२५) निर्वापण उपक्रम--

निर्वापणं नाम पित्तरक्तव्रणस्य पच्यमानस्य
ज्वरेणाभिभूतस्य औषधादिभि र्वेदनोपशमः—डल्लणः।

अर्थात्—पित्त और रुधिर की विकृति के कारण ज्वरयुक्त और पच्यमान व्रण में उपस्थित दाह, पाक, वेदना आदि की शान्ति के लिये निर्वापण* उपक्रम किया जाता है।

निर्वापण के लिये दूर्वा, नलमूल, मधुक, चन्दन तथा शीतल गणों के द्रव्यों को दूध में पीसकर तथा घृत मिलाकर शीतल ही पतला २ लेप करना चाहिये अथवा इन द्रव्यों के द्वारा सिंचन (सेक) करना चाहिये (दिह्यात्-लिम्पेत्—ड; अवहलान् सेकान्—सु. चि. १)

*दाहपाक ज्वरवतां व्रणानां पित्तकोपतः। रक्तेन चाभिभूतानां कार्यं निर्वापणं भवेत्—सु. चि. १।

(२६) उत्कारिका उपक्रम——

नातिघना नातिसान्द्रा पेयानुकारिणी उत्कारिका—डल्लरण:।

उत्कारिका उपक्रम का प्रयोग उन व्रणों में किया जाता है जो वात प्रकोप के कारण क्षीणमांस, तनु (पतले) स्राव वाले, पाक रहित, तोदयुक्त, कठोर, रूक्ष और शूल तथा कम्पयुक्त होते हैं*।

उत्कारिका न अधिक गाढी और न अधिक पतली ही होती है अपितु पेया के सदृश होती है। इसे बनाने के लिये भद्रदार्वादि वातघ्न गण के द्रव्य, सौवीर तुषोदकादि अम्लगण के द्रव्य, काकोल्यादि गण के द्रव्य और तिल–अतसी–सर्षप–एरण्डादि स्नैहिक बीजों को उपयुक्त प्रमाण में लिया जाता है। साधारणत: वातघ्न, काकोल्यादि, स्नैहिक बीज समान भाग और अम्ल पदार्थ चतुर्गुण लिये जाते हैं – ड.।

पाचन उपक्रम में भी उत्कारिका बनाई जाती है (पचेदुत्कारिकां शुभाम्—सु. चि. १) किन्तु उसका मुख्यत: उद्देश्य विम्लापन आदि से शान्त न होने वाले व्रणशोथ का पाचन करना होता है।

(२७) कषाय उपक्रम——

कषाय उपक्रम (i) शोधन और (ii) रोपण भेद से दो प्रकार का होता है। शोधन कषाय व्रण की निम्नलिखित अवस्थाओं में प्रयुक्त किया जाता है—

दुर्गन्धयुक्त, क्लेदवान् और पिच्छिल व्रणों को शुद्ध करने के लिये (i) शोधन–कषाय प्रयुक्त किया जाता है (दुर्गन्धानां क्लेदवतां पिच्छलानां विशेषत:। कषायै: शोधनं कार्यम्—सु. चि. १)

शोधन–कषाय आरग्वधादि गण की औषधियों, शंखिनी, अंकोठ, जाती, सुवर्चला (सूर्यावर्त) आदि से तैयार किये जाते हैं⊕।

उपरोक्त द्रव्यों से तैयार किये शोधन कषाय के प्रयोग से शुद्ध किये गये व्रण में निम्नलिखित द्रव्यों के (ii) रोपण–कषाय का प्रयोग किया जाता है (शुद्धलक्षरणयुक्तानां कषायं रोपणं हितम्—सु. चि. १)

कषाय (रस) और अनुष्ण वृक्षों (न्यग्रोध, उदुम्बर आदि) की त्वचासे

---

*व्रणेषु क्षीणमांसेषु तनुस्राविष्वपाकिषु। तोदपारुष्य काठिन्य शूल-वेपथुमत्सु च – सु. चि. १।

⊕शंखन्यंकोठ सुमन: करवीर सुवर्चला:। शोधनानि कषायाणि वर्ग-श्चारग्वधादिक:—सु. सू. ३६।

साधित शीत कषाय व्रण के रोपणार्थ प्रयुक्त किये जाते हैं (कषायाणामनुष्णानां वृक्षाणां त्वक्षु साधितः। शृतः शीतकषायो वा रोपणार्थं प्रशस्यते— सु. सू. ३६)

डल्लणानुसार शोधन और रोपण में प्रयुक्त कषाय शृत, शीत, फाण्ट और स्वरस भेद से चार प्रकार का ही ग्रहण करना चाहिये (कषायस्तु शृत-शीत फाण्टस्वरस भेदेन चतुर्विधोग्राह्यः—ड.)

वाग्भट ने शोधन-कषाय को 'क्षालन-क्वाथ' कहा है तथा पटोल और निम्बपत्रों से तैयार करने के लिये लिखा है—उ. २५।

(२८) वर्ति उपक्रम--

वर्ति-उपक्रम दो प्रकार का होता है; (i) व्रण को शुद्ध करने वाला 'शोधन-वर्ति' और (ii) शुद्ध व्रण का रोपण करने वाला 'रोपण वर्ति' उपक्रम कहलाता है।

(i) शोधन वर्तियां उन व्रणों में प्रयुक्त की जाती हैं जो अन्तःशल्य (जिनके अन्दर शल्य हो), अणुमुख वाले, गम्भीर धातुओं में स्थित, सन्धि-मर्मग (वा.) और मांसाश्रित हों (अन्तः शल्यानणुमुखान् गम्भीरान्मांस-संश्रितान्—सु. चि. १) इस प्रकार के व्रणों में वर्ति प्रविष्ट कर चिकित्सा करने का प्रमुख लाभ यह है कि व्रण के अन्दर जो दूषित स्राव एकत्रित होकर स्वस्थ धातुओं को हानि पहुंचाता है उसका आचूषण होता रहता है। दूसरा लाभ यह है कि इससे व्रणमुख विस्तृत हो जाता है और इस प्रकार व्रण में औषध प्रयोग सरल हो जाता है (शोधनद्रव्ययुक्ताभिर्वर्तिभिस्तान्यथा-क्रमम्—सु. चि. १; यथाक्रममिति प्रथमं सूक्ष्माभि स्ततः स्थूलस्थूलतराभि-रित्यर्थः-- डल्लणः)

ये शोधन वर्तियां उन द्रव्यों से तैयार की जाती हैं जिनका उल्लेख शोधन-उपक्रम में किया गया है अथवा त्रिवृत्त, दन्ती, लांगली, मधु और सैंधव लवण से वर्ति बनाई जाती है—वा. उ. २५। मिश्रकोक्त अजगन्धादि द्रव्य भी एतदर्थ प्रयुक्त होते हैं।

(ii) इस प्रकार शुद्ध हुए वेदनारहित और गम्भीर स्थित व्रणों में रोपणवर्तियां प्रयुक्त की जाती हैं। इन वर्तियों को तैयार करने के लिये क्षीरिप्ररोह (वटादि के अंकुर) सोम, अमृता (गुडूची) अश्वगन्धा तथा काकोल्यादि गण की औषधियों को प्रयुक्त किया जाता है⊙।

⊙सोमामृताश्व गन्धासु काकोल्यादौ गणे तथा। क्षीरिप्ररोहेष्वपि च वर्तयो रोपणाः स्मृताः—सु. सू. ३६॥

(२९) कल्क उपक्रम––

यह उपक्रम भी (i) शोधन और (ii) रोपण भेद से दो प्रकार का होता है और (i) शोधनार्थ उन व्रणों में प्रयुक्त किया जाता है जो वात और कफ के कारण पूतिमांस से ढके हुये (प्रतिच्छन्न) तथा दोषों (पूयादि) की अधिकता से अतिदुष्ट होते हैं (पूतिमांस प्रतिच्छन्नान्महादोषांश्च शोधयेत् । कल्कीकृतैः—सु. चि. १)

वस्तुतः औषध को वर्ति के रूप में व्रण स्थान पर लगाने की अपेक्षा कल्क का ही स्थानिक प्रयोग अधिक दोषहर होता है।

इस प्रकार शोधन–कल्क द्वारा व्रणदोष (पूतिमांसादि) के दूर हो जाने पर (अपेतपूतिमांसानाम निर्गतशाठितमांसानाम्—ड.) मांसस्थ तथा रोहित न होने वाले व्रण में (ii) रोपण कल्कों का प्रयोग करना चाहिये।

रोपणार्थ कल्क मिश्रकाध्यायोक्त (सू. ३६) द्रव्यों समंगा (वराह-क्रान्ता) सोमलता, सरल, सोमवल्क (कट्फल), रक्तचन्दन और काकोल्यादि गण आदि से तैयार कर प्रयुक्त किया जाता है।

शोधन तथा रोपणार्थ प्रयुक्त कल्कद्रव्यों में मधुयुक्त तिलकल्क अति-श्रेष्ठ होता है। यह मधुर, उष्ण और स्निग्ध होने से वातनाशन; कषाय, मधुर और तिक्त होने से पित्त नाशन तथा उष्ण, कषाय और तिक्त होने से श्लेष्म-नाशक होता है⊕। इसे शोधनार्थ प्रयुक्त करना हो तो निम्बपत्र और मधु मिलाकर तैयार करते हैं तथा रोपण के लिये इन दोनों में घृत मिला लिया जाता है।

तिलकल्क की तरह अथवा तिलकल्क युक्त यवकल्क भी व्रण चिकित्सा में अपना वैशिष्ट्य रखता है (तिलवद्यव कल्कोऽपि—सु. चि. १) तथा त्रिदोषहर है। यह व्रण की सभी अवस्थाओं में उपयोगी होता है तथा विम्लापन, पाचन, पाटन, शोधन और रोपण नामक पांचों उपक्रमों को करता है। यह अविदग्ध व्रणशोथ का शमन, विदग्ध का पाचन, पक्व विद्रधि का भेदन, भिन्न का शोधन और शुद्ध व्रण का रोपण करता है (शमयेदविदग्धं तु विदग्धमपि पाचयेत्। पक्वं भिनत्ति भिन्नं च शोधयेद्रोपयेच्चतम्—सु. चि. १–८४)

(३०) सर्पिः उपक्रम––

सर्पिः–उपक्रम भी दो प्रकार का होता है (i) शोधन–सर्पिः और

⊕स्निग्धोष्णतिक्त मधुर कषायत्वैः स सर्वजित्—वा. उ. २५–५४।

(ii) रोपण–सर्पिः। (i) शोधन सर्पिः का उपयोग उन व्रणों में किया जाता है जो पित्त दुष्टि के कारण गम्भीर और दाह तथा पाक से पीडित होते हैं (पित्तदुष्टान् सुगम्भीरान् दाह पाक प्रपीडितान्—सु. चि. १)

व्रण शोधनार्थं प्रयुक्त सर्पि (घृत) कार्पासी फल (विनौला) और शोधन द्रव्यों के संयोग से तैयार किया जाता है (कार्पासीफल मिश्रेण जयेच्छोधन सर्पिषा—सु. चि. १) अर्क, त्रिफला, सुहीक्षीर, जातीमूल, उत्तम क्षार, हरिद्राद्वय और कसीसादि से भी शोधन घृत तैयार किये जाते हैं—सु. सू. ३६।

पित्तदुष्ट व्रणों की सिद्धघृतों से शुद्धि करने के उपरान्त उनके (ii) रोहण के लिये भी वृत का प्रयोग किया जाता है जो विविध द्रव्यों से सिद्ध किये जाते हैं। रक्त तथा विष दूषित और आगन्तुज व्रण एवं गम्भीर धातुओं में स्थित व्रणों के रोहण के लिये भी रोहण घृत प्रयुक्त होते हैं।

साधारणतः क्षीरसिद्ध घृत रोपण होते हैं (क्षीरसिद्धेन सर्पिषा—सु.) पृथक्पर्णी, आत्मगुप्ता (कौंच) हरिद्राद्वय, सिता और काकोल्यादिगण से सिद्ध घृत भी उत्तम रोपण होते हैं—सु. सू. ३६*। घृत को सिद्ध करने के लिये पृथक्पर्ण्यादि द्रव्यों के कल्क से चतुर्गुण घृत और घृत से चतुर्गुण जल लेकर पाक किया जाता है।

(३१) तैल उपक्रम—

तैल–उपक्रम (i) शोधन और (ii) रोपण भेद से दो प्रकार का होता है। (i) कफ और बातदोष की अधिकता से जो व्रण उत्सेध युक्त (कफ से) तथा रूक्ष और अल्पस्राव वाले (वायु से) हाते हैं उनका शोधन सिद्ध तैलों से किया जाता है।

शोधन तैल मयूरक (अपामार्ग) राजवृक्ष, निम्ब, कोशातकी, तिल, बृहती, कण्टकारी, हरिताल, मनःशिला आदि से तैयार किये जाते हैं।

तैल उपक्रम द्वारा शुद्ध हुये व्रणों में (ii) रोपणार्थ सिद्ध तैलों का प्रयोग किया जाता है। ये तैल तगर, अगर, हरिद्राद्वय, देवदारु, प्रियंगु और लोध्र से सिद्ध किये जाते हैं। (कारयेद् रोपणं तैलं भेषजै स्तद्यथोदितैः—सु. चि. १)

---

*पृथक्पर्ण्यात्मगुप्ता च हरिद्रे मालती सिता ॥
काकोल्यादिश्च योज्यः स्याद् भिषजा रोपणे घृते—सु. सू. ३६ ॥

(३२) रसक्रिया उपक्रम––

जो व्रण उपरोक्त शोधन तैलों से भी शुद्ध नहीं होते हैं उनमें रसक्रिया नामक उपक्रम किया जाता है । यह उपक्रम (i) शोधन और (ii) रोपण भेद से दो प्रकार का होता है और स्थिरमांस वाले व्रणों में भी प्रयुक्त होता है (तैलेनाशुध्यमानानां शोधनीयां रसक्रियाम् । व्रणानां स्थिरमांसानाम्–– सु. चि. १)

(i) शोधन–रसक्रिया सालसारादिगण के द्रव्यों तथा पटोल, त्रिफलादि से तैय्यार की जाती है । इन द्रव्यों के विधिपूर्वक बनाये गये कषाय में सुराष्ट्रजा (फिटकरी) कसीस, मनःशिला और हरिताल मिलाकर उसमें मस्तुलुंग स्वरस तथा मधु भी मिलावें और उसका खूब मर्दन करें । इस प्रकार तैय्यार की गयी रसक्रिया से व्रण को भरकर प्रत्येक तीसरे दिन बदलना चाहिये (तिष्ठेत् त्रींस्त्रीश्च दिवसान् परम्— सु. चि. १) इससे अधिक समय तक नहीं लगाना चाहिये अन्यथा व्रण में अवदरण हो सकता है ।

(ii) शोधन रसक्रिया से शुद्ध उन व्रणों में रोपण–रसक्रिया का प्रयोग किया जाता है जो अबन्ध्य (पित्त, रक्त, विष, अभिघातज) और चेष्टावान् सन्धियों में उत्पन्न हों । यह दूषित व्रणों में भी किया जा सकता है (शुद्धानांच प्रदुष्यताम्— सु. चि. १) रोपणरसक्रिया न्यग्रोध, उदुम्बर आदि की त्वचा त्रिफला और हरिद्राद्वय से बनायी जाती है ।

(३३) अवचूर्णन–उपक्रम

यह उपक्रम भी (i) शोधन और (ii) रोपण भेद से दो प्रकार का है । (i) शोधन–अवचूर्णनों का प्रयोग उन व्रणों में किया जाता है जो उत्तान (अगंभीर), दूषित मेद से युक्त और दुर्गन्धित हों (मेदो जुष्टानगम्भीरान् दुर्गन्धांश्चूर्ण शोधनैः— सु. चि. १) इन लक्षणों से युक्त व्रण में निम्नलिखित शोधन–अवचूर्णन द्रव्यों का प्रयोग किया जाता हैः— कासीस, सैन्धव, किण्व, वचा और हरिद्राद्वय । शोधनवर्तियों के लिये जो अजगन्धादि द्रव्य बताये गये हैं अवचूर्णन के लिये उनका प्रयोग भी किया जाता है (श्लक्ष्णैः शोधन वर्जितैः– सु. चि. १)

(ii) मेदोदुष्ट व्रणों के इस प्रकार शोधन–अवचूर्णनों से शुद्ध हो जाने के उपरान्त रोपण–अवचूर्णनों का प्रयोग किया जाता है । रोपण–अवचूर्णन उन व्रणों में भी किया जाता है जो सम, स्थिरमांसयुक्त और त्वचा में स्थित (त्वक्स्थ) हों (समानां स्थिरमांसानां त्वक्स्थानां रोपणं भिषक् – सु. चि.

१) रोपण-अवचूर्णन निम्नलिखित द्रव्यों से तैयार किया जाता है: कंगुका (धान्य-विशेष), त्रिफला, लोध्र, कसीस, श्रवणा (अलंबुषा या गोरख मुण्डी) धव और अश्वकर्ण (रालवृक्ष) की छाल आदि* ।

कषाय, वर्ति, कल्क, सर्पि, तैल, रसक्रिया और अवचूर्णन ये सात उपक्रम जो शोधन और रोपण के लिये बताये गये हैं वे सभी प्रकार के व्रणों में दोष विचार किये बिना ही लाभप्रद होते हैं (सर्वव्रणानां सामान्येनोक्तो दोषाविशेषत: - सु. चि. १) इनके प्रयोग से व्रणरोपण निश्चित है इसमें किसी भी प्रकार के सन्देह के लिये स्थान नहीं है अतः मन्त्र की तरह इनका प्रयोग करना चाहिये (मन्त्रवत् सम्प्रयोक्तव्यो न मीमांस्य: कथञ्चन:— सु. चि. १) अथवा चिकित्सक अपनी बुद्धि के अनुसार कषाय आदि उपरोक्त सात उपक्रमों में द्रव्यों की कल्पना कर सकता है (स्वबुद्धया चापि विभजेत् कषायादिषु सप्तसु — सु. चि. १)

कषायादि को दोषानुसार प्रयुक्त करना हो तो वातिकव्रण में दोनों पञ्चमूल, पैत्तिक व्रण में न्यग्रोधादि और काकोल्यादि गण तथा श्लैष्मिक व्रण में आरग्वधादि गण और उष्ण (कफनाशक) द्रव्यों को व्यवहृत किया जाता है; सान्निपतिक व्रण में इन सब द्रव्यों को सम्मिलित कर प्रयुक्त करते हैं (संसृष्टे संयुता गणा:— सु. चि. १)

चिकित्सक को चाहिये कि वह अशुद्ध व्रण के रोपण की जल्दी न करे अन्यथा अन्तःस्थित अल्पदोष भी कालान्तर में कुपित होकर विकार उत्पन्न कर देता है। अतः शुद्ध व्रण के ही रोपण की व्यवस्था करनी चाहिये (न चैनं त्वरमाणः सान्तर्दोषमुपसंरोहयेत् । सहि अल्पेनाप्यव चारेणान्तरुत्संगं कृत्वा भूयो विकुरुते । तस्मात्सुशुद्धं रोपयेत्— अ. सं. सू. ३८)

चरक ने मधुयष्टि को रोपण द्रव्यों में श्रेष्ठ बताया है (मधुकं चक्षुष्य वृष्य केश्यकण्ठ्य वर्ण्य विरजनीय रोपणीयानाम्— च. सू. २५) और उनके अनुसार सारिवामूल अकेला ही सर्व व्रण शोधन है (एकं वा सारिवामूलं सर्वव्रण विशोधनम् — च. व्रण चि.)

(३४) व्रणधूपन उपक्रम-

जब व्रण में वात प्रकोप के कारण तीव्र वेदना और स्राव उपस्थित होते हैं तो उनकी शान्ति के लिये व्रण का धूपन किया जाता है (धूपनाद् वेदनोप-

---

*प्रिमंगुका सर्जरसः पुष्पकासीसमेव चा त्वक्चूर्णं धवजं चैव रोपणार्थं प्रशस्यते — सु. सू. ३६-२९ ।

शमो व्रणवैशद्यमास्रावोपशमश्च भवति—सु. चि. ४०) सुश्रुत ने व्रण धूपन में प्रयुक्त एक विशेष प्रकार के यन्त्र का उल्लेख भी किया है। यह यन्त्र दो शरावों (कसोरों) को परस्पर मिलाकर बनाया जाता है जिसमें लगी हुई नाली (नेत्र) के द्वारा धूम को व्रण तक लाया जाता है (व्रणधूमं शराव सम्पुटोपनीतेन नेत्रेण व्रणमानयेत्— सु. चि. ४०)

व्रण को जिन द्रव्यों से धूपित किया जाता है वे 'धूपनाङ्ग' कहलाते हैं; ये द्रव्य इस प्रकार हैं:—

क्षौम वस्त्र, यव तथा घृत मिला कर श्रीवेष्टक (गुग्गुलु) सर्जरस (राल) सरल वृक्ष की छाल, देवदारु और सालसादिगण की औषधियों से धूपन करना चाहिये। शार्ङ्गधर व्रण में निंब वचादि से धूपन करने को उत्तम मानते हैं (व्रणे निम्व वचाद्यं च धूपनं सम्प्रशस्यते— शार्ङ्गधरः)

धूमन-उपक्रम द्वारा व्रण को कठोर बनाना और उसमें आवश्यकतानुसार मार्दव लाना भी सम्भव होता है। यदि अतिशैथिल्य के कारण व्रण में रोपण न हो रहा हो तो उसे सालसारादि द्रव्य और गन्धक से धूपित करने से वह कठोर हो जाता है। इसी प्रकार अत्यन्त कठोर व्रण को घृत, वसा और मज्जा से धूपित किया जाय तो वह मृदु हो जाता है*। चरक के अनुसार धूपन उपक्रम से व्रण की वेदना, स्राव, गन्ध, कृमि, शैथिल्य और मार्दव नष्ट होते हैं (रुजः स्रावाश्च गन्धाश्च कृमयश्च व्रणाश्रिताः शैथिल्यं मार्दवं वापि धूपनेनोपशाम्यति— च. चि. [illegible]-१०६)

डल्लणानुसार केवल व्रण धूपन ही पर्याप्त नहीं होता है अपितु रोगी के शयन (बिस्तर, स्थान, वस्त्र) आदि का भी धूपन करना चाहिये। इससे हानिकर नीलमक्षिका आदि का भी परिहार हो जाता है (न केवलं व्रणं धूपयेत् शयनाद्यपि व्रण दौर्गन्ध्यापगमनार्थं नील मक्षिका परिहारार्थं च— डल्लणः) वाग्भट ने व्रण बन्धन में प्रयुक्त उस पट्ट, विकेशिका, और कवलिका को हितकर बताया है जो धूपित की गयी हों (शुचि सूक्ष्म दृढाः पट्टाः कवल्यः सविकेशिकाः। धूपिता मृदवः श्लक्ष्णा निर्वलीका व्रणे हिताः— वा. सू. १९-२६) ⊕

(३५) उत्सादन उपक्रम—

"उत्सादनं निम्नव्रणस्योन्नतिकरणम्"— डल्लणः

उत्सादन उपक्रम की ऐसे व्यक्तियों में आवश्यकता होती है जिनके

---

*कठिनत्वं व्रणा यान्ति गन्धैः सारैश्च धूपिताः। सर्पिर्मज्जवसाधूपैः शैथिल्यं यान्ति हि व्रणाः— च. चि. २५-१०८॥

⊕संग्रहे चोक्तम्— गुग्गुल्वादिभिरेवं शयनासनादि द्विरह्नो धूपयेदिति।

व्रणों में शोषादि के कारण रोहणांकुर उत्पन्न नहीं होते हैं। ऐसे व्रण परिशुष्क और अल्पमांस वाले होते हैं। गम्भीर धातुओं में स्थित व्रणों के शीघ्र रोहण के लिये भी उत्सादन किया जाता है (शुष्काल्पमांसे गम्भीरे व्रण उत्सादनं हितम्— वा. उ. २५-४६) व्रण के शुष्क होने तथा अल्पमांस का कारण वायु और गाम्भीर्य का कारण रक्त-पित्त होते हैं।

उत्सादन उपक्रम में प्रयुक्त की जाने वाली औषध बाह्य तथा आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार की होती है। स्थानिक प्रयोग के लिये अपामार्ग, अश्वगन्धा आदि उत्सादन कर्म करने वाले द्रव्यों से सिद्ध घृत तथा आलेप का ग्रहण किया जाता है। यह बाह्य उत्सादन भी कहलाता है। रोगी के साधारण स्वास्थ्य को उत्तम बनाने के लिये जिन द्रव्यों का मुख द्वारा प्रयोग किया जाता है वह आभ्यन्तर उत्सादन कहलाता है। एतदर्थ रोगी को विधिपूर्वक तैयार किया गया मांसाहारी व्याघ्रादि प्राणियों का मांस खिलाना चाहिये (मासाशिनां च मांसानि भक्षयेद् विधिवन्नरः— सु. चि. १) ऐसे व्रण से पीडित रोगी की मानसिक स्थिति भी उत्तम होनी चाहिये (मांसं मासादमांसेन वर्धते शुद्धचेतसः— वा. उ. २५)

(३६) अवसादन उपक्रम-

"अवसादनम् उन्नतव्रणस्य निम्नत्वकरणम्"—डल्लणः

कभी २ ऐसा भी होता है कि वृण में रोहणांकुर इतने अधिक बन जाते हैं कि वे त्वचा के स्वाभाविक स्तर से भी बढ़ जाते हैं। इन्हें कम करने के लिये अवसादन उपक्रम किया जाता है। (उत्सन्न मृदुमांसानां व्रणानामवसादनम्— सु. चि. १)

अवसादन करने वाले द्रव्य इस प्रकार हैं:— कसीस, सैन्धव, किण्व, कुरुविन्द (लोहित मणि) मनःशिला, कुक्कुटाण्ड त्वक्, मालती की कलियां, शिरीषफल, करंजफल, धातुचूर्ण, कसीस, गुग्गुलु, अग्निक आदि*। चरक ने कलविंक, कपोत आदि की विष्ठा को भी अवसादन करने वाला बताया है (व्रणावसादनं तद्वत् कलविंक कपोतविट्— च. चि. २५-१००)

(३७) मृदुकर्म उपक्रम-

वृण में कठोरता की अधिकता से भी वृणरोहण में वाधा उपस्थित होती है जिसका कारण केवल वायु, रक्त या पित्तगतवायु अथवा कफानुगत वायु होता है। इन्हीं कारणों से वृण अल्पमांस तथा दुष्ट वृण के लक्षणों से

*व्रणेषून्नतमांसेषु प्रशस्तान्यवसादने— सु. सू. ३६

युक्त होता है (कठिनानाममांसानां दुष्टानां मातरिश्वना—सु. चि. १) इस प्रकार के लक्षणों से युक्त व्रण में मृदुकर्म नामक उपक्रम किया जाता है।

व्रण की कठोरता में जब केवल वायु का ही बाहुल्य होता है तो उसके शमन के लिये मधुर, स्निग्ध, कोष्ण, लवण आदि गुणों वाले लेपादि का बाह्य या आन्तरिक प्रयोग बार २ करना चाहिये। यदि रक्त या पित्तानुगत वायु का प्राबल्य हो तो रक्तमोक्षण करना चाहिये और कफानुगत वायु प्रकोप में स्नेहन तथा सेक किये जाते हैं*।

(३८) दारुणकर्म उपक्रम--

जिस प्रकार अति कठोर व्रण में रोहणानुकुल मृदुकर्म किया जाता है उसी प्रकार अतिमृदु व्रण में रोहण सम्भव न होने से उसमें दारुणकर्म (दारुणी करणं कठिनीकरणम्—ड.) करना अनिवार्य होता है (व्रणेषु मृदुमांसेषु दारुणीकरणंहितम्—सु. चि १)

दारुणकर्म करने के लिये मृदुमांस वाले व्रण पर निम्ननिखित द्रव्यों का सूक्ष्म चूर्ण डाला जाता है—

धव, प्रियंगु, अशोक और रोहिणी की त्वचा, त्रिफला, धातकी पुष्प, लोध्र, सर्जरस इनको समान मात्रा में लेकर सूक्ष्म चूर्ण करलें और उसे व्रण पर अवचूर्णित करें (कृत्वा सूक्ष्माणि चूर्णानि व्रणं तैरवचूर्णयेत्—सू. चि. १)

(३९) क्षारकर्म उपक्रम--

क्षरण स्वभाव वाला (क्षरणाद् क्षणनाद् वाक्षारः—सु.) होने के कारण क्षार का प्रयोग उन व्रणों में किया जाता है जिनका मांस उठा हुआ (उत्सन्न) हो, जो कठोर हों, कण्डूयुक्त हों, चिरकालज तथा दुःशोध्य हों (उत्सन्न मांसान्कठिनान्कण्डूयुक्तांश्चिरोत्थितान्—सु. चि. १) ऐसे व्रण क्षार-कर्म से शुद्ध हो जाते हैं क्योंकि उनका रोहण में वाधा उपस्थित करने वाला भाग नष्ट हो जाता है (शोधयेत्क्षार कर्मणा—सु. चि. १)

क्षार के निर्माण आदि का विस्तार से वर्णन पृष्ठ १५४ पर किया गया है।

---

*मृद्वीक्रिया विधातव्या शोणितं चापि मोक्षयेत्।
वातघ्नौषधसंयुक्तान् स्नेहान् सेकांश्च कारयेत्॥ सु. चि. १॥

क्षार

तत्र क्षरणात् क्षणनात् वा क्षारः - सुश्रुत सू. ११.

छित्वा छित्वाऽऽशयात्क्षारः क्षरत्वात्क्षारयत्यधः—च. चि. ५.

(i) क्षार का परिगणन यद्यपि अनुशस्त्रों में किया गया है किन्तु अपने क्षरण अथवा क्षणन (क्षरणात् दुष्टत्वक् मांसादिचालनात् शातनादित्यर्थः, क्षणनात् त्वङ्मांसादि हिंसनात्—डल्लणः) स्वभाव के कारण क्षार शस्त्र और अनुशस्त्र दोनों से उत्कृष्ट वर्णित किया गया है (सर्व शस्त्रानुशस्त्राणां क्षारः श्रेष्ठः—वा. सू. ३०); (ii) उत्कृष्टता का दूसरा कारण यह है कि यह शस्त्र न होने पर भी उन स्थानों में छेदन, भेदन, लेखन आदि शस्त्रकर्म में प्रयुक्त होता है जहां शस्त्र प्रयोग कठिन होता है, जैसे - नासार्श, नासार्बुद आदि (छेद्य भेद्यादि कर्माणि कुरुते विषमेष्वपि वा. सू. ३०; विषमेष्वपि देहदेशेषु। दुःखावचार्य शस्त्रेषु नासार्शोऽर्बुदादिषु—अरुणदत्तः), (iii) श्रेष्ठता का तृतीय हेतु यह है कि क्षार का निर्माण नाना प्रकार की औषधियों के संयोग से होने के कारण यह तीनों दोषों को नष्ट करता है (नानौषधिसमवायात् त्रिदोषघ्नः—डल्लणः) इसी कारण से क्षार को पित्तार्श में भी प्रयुक्त करते हैं (विशेषक्रियावचारणाच्च—सु., तथा पित्तार्शः सु विशेषावचारणम्—डल्लणः), (iv) मर्मज व्रणशोथ में जहां शस्त्र प्रयोग नहीं किया जाता है वहां क्षार कार्यकर होता है (अतिकृच्छ्रेषुरोगेषु—वाग्भटः), (v) बाह्य प्रयोग द्वारा उपरोक्त कार्य करने के अतिरिक्त क्षार की सर्वाधिक उपयोगिता यह है कि यह पान द्वारा आभ्यन्तर रोगों को दूर करने के लिये भी सफलता से प्रयुक्त होता है (यच्चपानेऽपि शस्यते—वा. सू. ३०)

क्षार की उपरोक्त विशेषताएं साधारणतः इसको उत्तम प्रमाणित करने की दृष्टि से वर्णित की गयी हैं। वस्तुतः क्षार अनेकों रोगों से छुटकारा पाने के लिये आयुर्वेद चिकित्सा शस्त्र की महान् देन है। यह वर्ण में शुक्ल होता है (शुक्लः श्लक्ष्णोऽथ पिच्छिलः—सु. सू. ११) अतः स्वभावतः सौम्य है किन्तु इसके सौम्य होने पर भी यह दहन, पचन, दारण आदि कार्य भी करता है क्योंकि इसमें आग्नेय गुण वाली औषधियों की प्रचुरता भी होती है। इस प्रकार यह सौम्य और आग्नेय गुणों से युक्त होने के कारण तीनों दोषों को दूर करने की क्षमता रखता है तथा व्रणशोथ और अजीर्ण में पाचन, गुल्मादि में विलयन, दुष्ट व्रणादि में शोधन और रोपण भी करता है⊕। यह

⊕रोपणार्थं हि क्षारो न प्रयुज्यते; अपितु शोधनादेव रोपयति—हाराणचन्द्रः।

व्रणक्लेद का शोषण, सिरा आदि कटने से निकलने वाले रुधिर को रोकने के कारण स्तम्भन, कठिन और उन्नत मांस वाले व्रण का लेखन तथा कृमि, आम, कफ, कुष्ठ, विष और मेद आदि को नष्ट करता है। ये उपरोक्त गुण आगे वर्णित किये जाने वाले क्षार के दोनों भेदों (पानीय और प्रतिसारणीय) के हैं।

पक्वव्रण शोथ में जब भीरुता आदि के कारण भेदनार्थ शस्त्र प्रयोग सम्भव नहीं होता है तो ऐसे द्रव्यों का स्थानीय प्रयोग किया जाता है कि जो उसका दारण कर दोषों को बाहर निकाल देते हैं, जैसे—कपोत, गृध्र आदि के पुरीष। क्षार को इस सबमें श्रेष्ठ बताया है (क्षार द्रव्याणि वा यानि क्षारो वा दारणं परम्––सु. सू. ३६) पाचन द्रव्यों में भी क्षार श्रेष्ठ है (क्षारः पाचयति––च. सू. २७) यहां पाचन से अभिप्राय व्रणशोथ पाचन और अजीर्ण पाचन से भी है।

रोगों में क्षार के अति उपयोगी होने पर भी इसका अधिक सेवन हानिकर होता है। संहिताकारों के अनुसार क्षार पुंस्त्व को नष्ट करने वालों में सर्वाधिक शक्तिशाली है (क्षारः पुंस्त्वोपघातिनाम्—अ. सं. सू. १३) चरक ने जिन तीन द्रव्यों के अतिसेवन का निषेध किया है उनमें एक क्षार भी है (अथ खलु त्रीणि द्रव्याणि नात्युपयुञ्जीताधिक मन्येभ्यो द्रव्येभ्यः, तद्यथा पिप्पली, क्षारं, लवणमिति––च. वि. १) जिस ग्राम, नगर, निगम और जनपद के लोग इसका अधिक सेवन करते हैं उनमें आन्ध्य, षाण्ढ्य, खालित्य, पालित्य और हृदयापकर्ति (हृदय में कर्तन सदृश वेदना) नामक विकार प्रायः पाये जाते हैं (ये ह्येनं ग्राम नगर निगम जनपदाः सततमुपयुञ्जते, तेऽप्यान्ध्य षाण्ढ्य खालित्य पालित्य भाजो हृदयापकर्तिनश्च भवन्ति––च. वि. १) चरककाल में प्राच्य (सुदूरपूर्व) और चीन के निवासियों में क्षार के निरन्तर सेवन करने की प्रथा थी (तद्यथा प्राच्या श्चीनाश्च। तस्मात्क्षारं नात्युपयुञ्जीत––च. वि. १–२०)

चरक के क्षार–सम्बन्धी वर्णन से यह भी प्रतीत होता है कि उस काल में जिस प्रकार कायचिकित्सा, धान्वन्तरीय चिकित्सा और अग्निकर्म चिकित्सा करने वाले चिकित्सक अलग २ होते थे उसी प्रकार क्षार द्वारा चिकित्सा करने वाले चिकित्सकों का भी पृथक् ही सम्प्रदाय था। यह उस काल की क्षार चिकित्सा की चरमसीमा का सूचक है (दाहे धान्वन्तरीयांणामत्रापि भिषजां बलम्। क्षारप्रयोगे भिषजां क्षारतन्त्रविदां बलम्––च. चि. ५)

जो रोग क्षार प्रयोग से ठीक हो जाते हैं वे "क्षारकृत्य" कहलाते हैं।

क्षारकृत्य व्याधियों में भी जो शूनगात्र, अस्थिशूली, अन्नद्वेषी, हृदय और सन्धि पीड़ा से पीड़ित हों उनमें क्षार का प्रयोग नहीं करना चाहिये। क्षार का प्रयोग रोग, दोष, बल, मात्रा, काल और अग्नि की भली प्रकार परीक्षा करने वाले चिकित्सक की देख-रेख में करना चाहिये (रोग दोष बलापेक्षी मात्राकालाग्निकोविदः। शस्त्रकर्माग्निकृत्येषु क्षारमप्यव चारयेत्--च. चि. २४-१०७)

जिन रोगों तथा अवस्थाओं में प्रतिसारणीय या पानीय क्षार का प्रयोग निषिद्ध है वे इस प्रकार हैं—

दुर्बल, बाल, स्थविर, भीरु, सर्वाङ्गशोथी, उदर रोग पीडित, रक्तपित्ती, गर्भिणी, ऋतुमती, तीव्र ज्वरयुक्त, प्रमेही, रूक्ष, क्षतयुक्त, क्षीण, तृष्णा तथा मूर्च्छा पीडित, क्लीव, अपवृत्त फल तथा योनिवाले (जिनका अण्ड या योनि नीचे को चली गयी हो) उद्वृत्त फल तथा योनि वाले (जिनके अण्ड या योनि ऊपर को चले गये हों (अत्र फल मण्डम्, योनिर्गर्भाशयः--ड.*) एवं मर्म, सिरा, स्नायु, सन्धि, तरुणास्थि, सेवनी⊕ (Frenum) धमनी, गल, नाभि, नखान्तः, शेफस्रोतः (उपस्थमार्ग) जानु ललाटादि अल्पमांसयुक्त स्थान और वर्त्मरोगों के अतिरिक्त नेत्र रोगों में भी क्षार प्रयोग वर्जित है। इनके अतिरिक्त अतिसार, शिरोरोग, पाण्डु, अरुचि, वमन-विरेचन आदि के द्वारा जिसका संशोधन किया गया हो (कृतसंशुद्धिः) उनमें भी क्षारप्रयोग निषिद्ध है। अतिशीत, अतिउष्ण, वर्षा और दुर्दिन में भी क्षार का प्रयोग नहीं करना चाहिये (शीतवर्षोष्णदुर्दिने--वा. सू. ३०; शीतवर्षोष्णाहानि हेमन्तशिशिर प्रावृड् ग्रीष्माः--अरुणदत्तः)

क्षारभेद-प्रयोग भेद के आधार पर क्षार को दो भागों में विभक्त किया है, (i) प्रतिसारणीय क्षार—जिसका स्थानीय प्रयोग किया जाता है (ii) पानीय क्षार—जिसका पीने के रूप में आभ्यन्तर रोगों को दूर करने के लिये प्रयोग होता है (स द्विविधः प्रतिसारणीयः पानीयश्च--सु.)

---

*किसी ने रज को फल बताया है और उद्वृत्तफलयोनि का लक्षण इस प्रकार दिया है:—"वेगोदवर्तनाद्योनिं प्रपीडयतिमारुतः। स फेनिलं रजः कृच्छ्रात् उदावृत्तं विमुञ्चति। इयं व्यापदुदावृत्ता:—अरुणदत्तः, वा. सू. ३०"।

⊕सेवन्यः पञ्चशिरसि जिह्वाशेफसोरेकैका इति सप्त—चक्रपाणि, सु. सू. १२-२४।

(i) प्रतिसारणीयक्षार

प्रतिसारणीय क्षार का स्थानिक प्रयोग किया जाता है और विकार ग्रस्त अनावश्यक तन्तुओं को नष्ट करने के लिये लगाते हैं।

प्रतिसारणीय क्षार के निर्माणार्थ ऐसे कृष्ण मुष्कक (कालामोखा) नामक पौधे को लिया जाता है जो पर्वत पर उत्पन्न हुआ हो तथा जो कृमि आदि द्वारा खाया हुआ न हो (अनुपहत) कृष्ण-मुष्कक प्रशस्त भूमि का, मध्यम आयु का और बड़े आकार का उत्तम होता है। इसे क्षार निर्माणार्थ शुभ दिन में लेना चाहिये, तदनन्तर इसको छोटे २ टुकड़ों में विभक्त कर और निवात स्थान में ढेर लगा कर तिल-नाल की सहायता से जला देना चाहिये। डल्लण के अनुसार तिलनाल से जलाने से अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली क्षार तैय्यार होता है (तिलनाल दीपनात् शक्त्यतिशयो भवति ड.)

चक्रपाणि द्वारा दिये विश्वामित्र के उद्धरण के अनुसार असितमुष्कक (पर्वतों पर होने वाला पलाश सदृश वृक्ष) पुष्प रंग भेद से चार प्रकार का होता है; श्वेतपुष्प, कालपुष्प, रक्तपष्प और पीतपुष्प। इनमें से कृष्णपुष्प वाला गुणों की दृष्टि से श्रेष्ठ होता है। कृष्ण मुष्कक को जलाते समय उसके साथ सुधाशर्करा (चूने का पत्थर) भी डाल देनी चाहिये। निघण्टुकार ने सुधा-शर्करा से उस कठोर हुई भस्म को लिया है जो कृष्ण मुष्कक को जलाते समय निकलने वाले रस के मिलने से निर्मित होती है (मुष्ककाददह्यमानात्तु रसः प्रच्यवते यदा। भस्मना सह संयुक्तः काठिन्यमुपगच्छति। तं भस्म शर्करामाहुः– –निघण्टुः) कृष्णमुष्कक की भस्म और सुधाशर्करा को अलग २ निकाल कर रख लिया जाता है।

कृष्ण मुष्कक की भस्म की तरह ही कुटज, पलाश, अश्वकर्ण* (शाल) पारिभद्र (देवदारु) विभीतक, इन्द्रवृक्ष (कुटजभेद) आरग्वध, तिल्वक (लोध्र) अर्क, स्नुही, अपामार्ग, पाटला, नक्तमाल (करंज) वृष (अडूसा) कदली, चित्रक, पूतीक, आस्फोता (शारिवा) अश्वमारक (कनेर) सप्तपर्ण, अग्निमन्थ गुञ्जा और चार प्रकार की (बृहत्फला, अल्पफला, श्वेतपुष्पा, पीतपुष्पा) कोशातकी, इनकी शाखा, पत्र, मूल, फल आदि सबको जला दें।

इस सम्पूर्ण भस्म में से एक द्रोण⊕ भस्म लेकर उसको छः द्रोण जल

*पूर्वदेशे गन्धमुण्डः पिप्पल सदृशः— ड.

⊕मुष्ककभस्मनो द्वौ भागौ कुटजादि भस्मन एको भाग इति मिश्रीकृतं क्षार द्रोण मुच्यते— ड.)

में अथवा गोमूत्र में भली-भान्ति आलोड़ित करे और इसे इक्कीस वार कपड़े में छान लें। इस छने हुए पानी को बड़े आकार की कड़ाई में डालकर दर्वी (कडछी) से धीरे २ आग पर रख कर जलावे। पकते २ जब क्षारोदक अच्छ (स्वच्छ) रक्तवर्ण, तीक्ष्ण और पिच्छिल हो जाय तो उसे पुनः वस्त्र से छान लें और पुनः आग पर चढ़ा दें। इस दुबारा छने हुए क्षारोदक में से एक कुडव (आठफल) अथवा डेढ कुडव (बारह पल) क्षारोदक निकाल कर अलग लोह-पात्र में रख लिया जाता है जो कटशर्करा आदि के बुझाने के काम आता है।

इस अलग रखे हुए क्षारोदक में कटशर्करा (गाँगेष्ठी अथवा चूने का पदार्थ विशेष) भस्म शर्करा, क्षीरपाक (जलशुक्ति) और शंखनाभि को आग में लाल कर बुझावें और इसी में पीस कर छः द्रोण जल के दो तिहाई अर्थात् दो द्रोण बचे हुए क्षारोदक में मिला देना चाहिये। कटशर्करा आदि को सम्मिलितरूप में आठ पल लेना चाहिये। कटशर्करा आदि का क्षारोदक में इस प्रकार मिलाना "प्रतिवाप" कहलाता है (द्रवद्रव्ये द्रव्यान्तरं श्लक्ष्णपिष्टं दीयते स प्रतिवापः— अरुणदत्त, वा. सू. ३०) तदनन्तर इसको इतना पकाना चाहिये कि यह न अधिक पतला और न अधिक गाढ़ा ही हो (स यथा नातिसान्द्रो नातिद्रवश्च भवति तथा प्रयतेत्— सु. सू. ११) ठीक प्रकार का पाक होने के उपरान्त इसे उतार कर संवृत (अल्प) मुख वाले लोहपात्र में भर कर रखें कि यह वायु आदि से सुरक्षित रहे। वाग्भट के अनुसार इसे शीत होने के उपरान्त लोहपात्र में रखकर यवराशि से ढक देना चाहिये (अवतार्य ततः शीतो यवराशावयोमये— वा. सू. ३०)

इस उपरोक्त विधि द्वारा तैय्यार किया गया क्षार "प्रतिसारणीय-मध्यम क्षार" कहलाता है। यदि इसमें कटशर्करा आदि का 'प्रतिवाप' न मिलाया जाय तो यही "प्रतिसारणीय मृदु क्षार" कहलाता है, इसे "संव्यूहिम" भी कहते हैं। यदि क्षार को मध्यम क्षार से भी अधिक तेज बनाना हो तो कट-शर्करादि प्रतिवाप द्रव्यों के साथ दन्ती, द्रवन्ती, चित्रक, लांगली, पूतिकप्रवाल (कंटकी करंज पल्लव) तालपत्री (मुषली) विडनमक, सुवर्चिका (सज्जीखार) स्वर्ण क्षीरी, हिंगु, वचा और अतिविषा इनमें से प्रत्येक का शुक्ति प्रमाण श्लक्ष्ण चूर्ण मिला कर पाक करना चाहिये। इस प्रकार तैय्यार किया गया क्षार "प्रतिसारणीय तीक्ष्णक्षार" या "पाक्य" कहलाता है।

इस प्रकार तैय्यार किये गये तीन–मृदु–मध्य–तीक्ष्ण–प्रकार के प्रतिसारणीय क्षार का प्रयोग रोग, बल आदि का निर्णय कर किया जाता है। यदि क्षार की क्षरण शक्ति में न्यूनता आजाय तो उसमें क्षारोदक मिला देना

चाहिये (क्षीणबले तु क्षारोदकमावपेत् बलकरणार्थम्—सु. सू. ११)

क्षार के गुण*

उत्तम क्षार में निम्नलिखित गुण होते हैं—

(१) न अधिक तीक्ष्ण (२) न अधिक मृदु (३) न अधिक शुक्ल-वर्ण (४) पिच्छिल (५) अविष्यन्दी (अप्रसरणशील) (६) शिव (सौम्य) (७) शीघ्रकारी (८) श्लक्ष्ण (अकर्कश) (९) शिखरी (उपरिष्टात्पिडकोत्थानं तद्वान्— अ. द.) (१०) सुख निर्वाप्य (सुखेन काञ्जिकादिना-निर्वाप्यते शीतीक्रियते— अ. द.)

क्षार के दोष⊙

क्षार का भली प्रकार पाक, संरक्षण आदि न होने पर निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं:—

(१) अतिमार्दव (२) अतिश्वेत (३) अत्युष्ण (४) अति तीक्ष्ण (५) अति पिच्छिल (६) अधिक प्रसरणशील (७) अधिक सान्द्र (गाढा) (८) अतिपक्व (९) हीन द्रव्यों द्वारा निर्मित (१०) अतिशीत (११) अति तनु।

क्षार निर्माण हो जाने के उपरान्त उसका सात दिन के पश्चात् रोग निवारणार्थ प्रयोग करना चाहिये (सप्तरात्रात्परं तु सः। योज्यः— वा. सू. ३०) इस प्रकार यह अधिक क्रियाशील होता है।

सामान्यतः मृदुक्षार पित्त एवं रक्त जन्य अर्श में, मध्यक्षार वायु, कफ और मेदोज विकारों में और तीक्ष्ण क्षार वायु, कफ और मेद के तीव्र विकारों में प्रयुक्त किया जाता है - वा. सू. ३०।

प्रतिसारणीय क्षार को विकारग्रस्त स्थान पर लगाया जाता है। वे रोग जो क्षार के इस प्रकार के प्रयोग से ठीक हो जाते हैं इस प्रकार हैं —

अर्श (दाहं क्षारेण चाप्येके— च. चि. १४) किटिभ, दद्रुमण्डल और किलास (त्वक्गतश्वित्र कुष्ठम्—ड.) आदि कुष्ठ भेद (येषु न शस्त्रं-क्रमते स्पर्शेन्द्रिय नाशनानि यानिस्युः। तेषु निपात्यः क्षारः— च. चि. ७) भगन्दर (क्षारेण वा स्रावगतिं दहेत्— सु. चि. ८) अर्बुद (क्षाराग्नि-शस्त्राण्यसकृद् विदध्यात्— सु. चि. १८) दुष्ट व्रण (उत्सन्न मांस कठिना-

---

*नाति तीक्ष्णो मृदुःश्लक्ष्णः पिच्छिलः शीघ्रगः सितः। शिखरी सुख-निर्वाप्यो न विष्यन्दी न चातिरुक्॥ क्षारो दशगुणः— वा. सू. ३०॥

⊙"अत्युष्णोऽति तीक्ष्णोऽति शीतोऽति मृदुरति तन्तुरति घनोऽति पिच्छिलो विसर्पी हीनौषधो हीनपाकश्चेति"— अ. सं.

न्कण्डूयुक्तांश्चिरोत्थिताम्। तथैव खलु दुःशोढ्यान् शोधयेत् क्षारकर्मणा—सु. चि. १–१०२) नाडीव्रण (कृशदुर्बलभीरूणां नाडी मर्माश्रिता च या। क्षारसूत्रेण तां छिन्द्यान्नतु शस्त्रेण बुद्धिमान्—सु. चि. १७) चर्मकील (मृदु. प्रसृताव गाढान्युच्छ्रितानि क्षारेण—सु. चि. ६) तिल–कालक (तिलकालकम्। क्षारेण प्रदहेद्युक्त्या—सु. चि. २०) न्यच्छ, व्यङ्ग और मशक (मशकं तिलकालकम्—सु. चि. २०) बाह्यक्रिमि, बाह्यविष और बाह्य-विद्रधि, सात प्रकार के मुखरोग, उपजिह्विका*, अधिजिह्विका, उपकुश, दन्तवैदर्भ, तीन प्रकार की रोहिणी आदि। वल्मीक (शस्त्रेणोत्कृत्यवल्मीकं क्षाराग्निभ्यां प्रसाधयेत्—सु. चि. २०) भी क्षार साध्य है।

प्रतिसारणीय क्षार की प्रयोग विधि—

क्षारसाध्य व्याधि का निर्णय कर उससे पीडित व्यक्ति को वातातप रहित पर्याप्त खुले स्थान में बिठाया जाता है। क्षार प्रयोग के लिये उपयुक्त उपकरण तथा तिथि, करण, मुहूर्त आदि का निर्णय अग्रोपहरणीय प्रसंग में वर्णित विधि से किया जाता है। तत्पश्चात् जिस पीडित स्थान पर क्षार का प्रयोग करना होता है उसका पित्तदुष्टि में घर्षण, वातदुष्टि में लेखन और श्लेष्मदुष्टि में पछने लगाकर (प्रच्छयित्वा) वहां पर शलाका की सहायता से क्षार पातन किया जाता है।

प्रतिसारणीय क्षार विशेष रूप से क्षरणस्वभाव वाला होने से यह आवश्यक है कि उसको निश्चितकाल तक ही लगाना चाहिये। यदि इसे अल्पकाल में ही हटा दिया जाये तो दग्ध हीन तथा अधिक समय तक लगा रहने दिया जाये तो दग्ध का आवश्यकता से अधिक होना निश्चित है। अतः क्षार पातन में काल की सीमा जानना नितान्त आवश्यक है। प्राचीनकाल में समय की सीमा का निर्णय अक्षरों के उच्चारण द्वारा किया जाता था। शलाका द्वारा क्षार पातन करने के पश्चात् सुश्रुत ने एक सौ अक्षरों के उच्चारणकाल तक प्रतीक्षा करने का निर्देश किया है (वाक्शतमात्रमुपेक्षेत—सु. सू. ११; वाक्च्छतं शतगुर्वक्षरोच्चारण पर्य्याप्तं कालम्—डल्लनः; वाक् लघ्वक्षरोच्चारणम्—चक्रपाणिः) क्षार लगे स्थान को प्लोत (चैलखण्ड—अ. द., वस्त्र के टुकड़े) से लपेटकर ढक देना चाहिये (क्षारं शलाकया दत्वा प्लोतप्रावृत देहया—वा. सू. ३०)। प्रयोज्य स्थल की सुकुमारतादि के अनुसार समय की सीमा अलग २ होती है। नासार्बुदादि में पञ्चाशत् मात्रा का समय पर्याप्त होता है (मात्रा विधार्याः पञ्चाशत्—वा. सू. ३०)

*उपजिह्वां तु संलिख्य क्षारेण प्रतिसारयेत्—सु. चि. २२।

जिस स्थान पर क्षार का प्रयोग किया जाता है वहां क्षोभ के कारण आचूषण तथा निपीडन की सी प्रतीति होती है। इस प्रकार क्षार रोगोन्मूलन क्रिया को सम्पन्न करने के उपरान्त स्वतः शान्त हो जाता है*।

वाक्च्छत मात्र प्रतीक्षा करने के उपरान्त क्षार को वस्त्र आदि से पोंछ कर दग्ध स्थान का अम्ल वर्ग के द्रव्यों से प्रच्छालन किया जाता है और वहां पर घृत मधु प्रलेप लगा देते हैं। घृत मधुयष्टियुक्त तिलकल्क का लेप भी व्रण-रोपण होता है (तिलकल्कः समधुको घृताक्तो व्रणरोपणः—वा. सू. ३०)

अनावश्यक तन्तुओं को नष्ट करने के लिये जिस स्थान पर प्रतिसारणीय क्षार का सफल प्रयोग किया जाता है वह स्थान 'क्षारदग्ध' कहलाता है। जब प्रतिसारणीय क्षार से उतना ही भाग नष्ट होता है जितना कि रोग से छुटकारा पाने के लिये आवश्यक होता है तो उसे 'सम्यक् दग्ध' कहते हैं। सुश्रुत के अनुसार क्षार द्वारा सम्यक्–दग्ध का लक्षण इस प्रकार है—

"तत्र सम्यग्दग्धे विकारोपशमो लाघवमनास्रावश्च"—सु. सू. ११।

अर्थात्—यदि प्रतिसारणीय क्षार की प्रतिक्रिया अनुकूल हुई हो तो रोगी का विकार दूर हो जाता है, वह अंगों में लघुता का अनुभव करता है तथा विकार ग्रस्त स्थल से होने वाला स्राव सूख जाता है। क्षार की क्रिया अल्प होने की अवस्था 'हीनदग्ध' कहलाती है और उसमें रोगी पीडित भाग पर तोद, कण्डू और जड़ता का अनुभव करता है तथा उसका रोग बढ़ जाता है (हीनदग्धे तोदकण्डूजाड्यानि व्याधिवृद्धिश्च—सु.) "अतिदग्ध" वह अवस्था है जिसमें क्षार द्वारा स्वस्थ धातुएं भी जल जाती हैं। इस अवस्था के लक्षण दाह, पाक (पित्त प्रकोप से), राग (लालिमा), स्राव, अंगमर्द, क्लम (ग्लानि), पियासा, मूर्च्छा तथा मृत्यु तक भी हो सकती है।

वाग्भट ने सम्यग्दग्ध, दुर्दग्ध (हीनदग्ध) और अतिदग्ध के लक्षणों में कुछ अन्य विशेषताओं का वर्णन भी किया है। उन्होंने सम्यग्दग्ध का रंग पके हुये जामुन की तरह ⊕कृष्ण तथा दग्ध–स्थल के सन्न (निम्न) हो जाने का उल्लेख किया है (पक्व जम्ब्वसितं सन्नं सम्यग्दग्धम् -- वा. सू. ३०) दुर्दग्ध का रंग ताम्रवर्ण होता है (ताम्रतातोद कण्ड्वाद्यं दुर्दग्धम्—वा.)

---

*आचूषन्निव संरम्भात् गात्रमापीड यन्निव।
सर्वतोऽनुसरन् दोषानुन्मूलयति मूलतः॥
कर्मकृत्वा गतरुजः स्वयमेवोप शाम्यति—वा. सू. ३०।

⊕तस्मिन्निपतिते व्याधौ कृष्णता दग्धलक्षणम्—सु. सू. ११।

और अतिदग्ध में रुधिर स्राव, मूर्च्छा तथा ज्वर होते हैं (अतिदग्धेस्रवेत् रक्तं मूर्च्छा दाह ज्वरादय:—वा. सू. ३०)

हीनदग्ध या दुर्दग्ध होने की अवस्था में जो तन्तु दग्ध होने से शेष रह जाते हैं उनको पुनः दग्ध करने के लिये क्षार को दुबारा लगाया जाता है (तं पुनर्दहेत्—वा. सू. ३०)

कभी २ ऐसा भी होता है कि यदि विकार ग्रस्त भाग दृढमूल वाला है तो वह क्षार प्रयोग के द्वारा शीर्ण नहीं होता है। ऐसे स्थान पर निम्न-लिखित द्रव्यों का आलेपन करना चाहिये—

अम्लकाञ्जिक के अधः स्थित द्रव्य, तिल और मधुयष्टि इनको सम-भाग लेकर तथा पीसकर लेप करें (यदिच स्थिरमूलत्वात् क्षार दग्धं न शीर्यते। धान्याम्ल बीज यष्ट्याह्व तिलैरालेपयेत्ततः—वा. उ. ३०)

जिस व्यक्ति में क्षार का प्रयोग किया गया हो उसे खाने के लिये अभिष्यन्दि पदार्थों को देना चाहिये। इसका लाभ यह है कि दधिमाषादि अभिष्यन्दि पदार्थों के सेवन से क्षारदग्ध स्थान में क्लेद उत्पन्न होता है जिससे वह स्थान गलकर अलग हो जाता है (अभिष्यन्दीनि भोज्यानि भोज्यानि क्लेदनायच—वा. सू. ३०; क्षारदग्धं क्लिन्नं सच्छीर्यते—अ. द.)

क्षार और अम्ल

क्षार प्रयोग के पश्चात् होने वाले दाह की शान्ति तथा क्षार के सम्यग्दग्ध के व्रणोपचार में भी काञ्जिक आदि अम्लवर्ग के द्रव्यों द्वारा प्रक्षा-लन, लेपन आदि किये जाते हैं। अम्ल पदार्थ आग्नेय और उष्णवीर्य हैं इनसे आग्नेय और उष्णवीर्य वाला भी क्षार शान्त (निष्क्रिय) हो जाता है। चरक में भी मदात्यय प्रसंग में जब अतिमात्र तीक्ष्ण मद्य के सेवन से अन्नरस विदग्ध होकर क्षारता को प्राप्त हो जाता है तब क्षारता को शान्त करने के लिये मद्य का ही सेवन बताया है और यह उल्लेख किया है कि क्षारता को शान्त करने के लिये अम्ल प्रयोग लाभ इस प्रकार पहुंचाता है कि दोनों (क्षार और अम्ल) परस्पर मिलाकर माधुर्य भाव को प्राप्त हो जाते हैं (क्षारोहि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः—च. चि. २४)

संहिता ग्रन्थों में क्षार को निष्क्रिय करने के लिये अम्लपदार्थों के प्रयोग को लेकर जो सूक्ष्म विचार विनिमय हुआ है उससे इनके सम्बन्ध में नितान्त वैज्ञानिक तथ्य सामने आये हैं। आजकल क्षार को 'वेसिक' पदार्थ माना जाता है और इसमें हाईड्रोक्सिल (Hydroxyl) नामक ऋणभाग होता है तथा

अम्ल 'एसिड' पदार्थ है जिसमें हाईड्रोजन नामक घनभाग होता है। दोनों का संयोग होने पर भिन्न ही पदार्थ (जल या लवण) निर्मित हो जाता है जो क्षार और लवण से नितान्त भिन्न होता है। सुश्रुत द्वारा इन तथ्यों का उल्लेख इस प्रकार है—

"अम्लवर्जान् रसान् क्षारे सर्वानेव विभावयेत्।
कटुकस्तत्र भूयिष्ठो लवणोऽनु रसस्तथा"
अम्लेनसहसंयुक्तः सतीक्ष्ण लवणोरसः।
माधुर्यं भजतेऽत्यर्थं तीक्ष्णभावं विमुञ्चति॥ सु. सू. ११॥

अर्थात्— क्षार में अम्लरस को छोड़कर सभी रस होते हैं किन्तु इसमें कटु अनुरस और लवण भूयिष्ठ (अति) है। जब तीक्ष्ण लवण रस वाला क्षार अम्ल के साथ सम्मिलित होता है तो वह अपनी तीक्ष्णता को छोड़कर मधुरता को प्राप्त हो जाता है और जल छिडकने पर अग्नि की तरह शान्त (निष्क्रिय) हो जाता है (माधुर्याच्छममाप्नोति वह्निरद्भिरिवाप्लुतः— सु.)

वाग्भट ने अम्ल को शीतस्पर्श वाला होने से क्षारशामक बताया है (अम्लोहि शीतः स्पर्शेन क्षारस्तेनोपसंहितः। यात्याशु स्वादुतां तस्मात् अम्लैर्निवापयेत्तराम्— वा. सू. ३०)

प्रतिसारणीय क्षार के एतावत् वर्णन को देखते हुए यह आजकल की परिभाषा के अनुसार "कास्टिक = Caustic" है। 'कास्टिक' या प्रतिसारणीय क्षार क्षरण स्वभाव वाला (Corrosive) एवं जला देने वाला होता है। यह जिस जीवित भाग के सम्पर्क में आता है उसे नष्ट कर देता है। 'कास्टिक पोटाश' कास्टिक सोडा, रजत क्षार (Lunar caustic) आदि इसी श्रेणी के पदार्थ हैं। इनके संतृप्त घोलों आदि को त्वचा पर लगाने से ये क्षोभक (Irritant) और दाहक (Caustic) होते हैं। रजतक्षार दुष्टव्रण (Indolent) कर्णिका (Callous) भगन्दर (Fistulae) आदि में अनावश्यक भागों को नष्ट करने के लिये प्रयुक्त होता है, इसे जलौकापातन के पश्चात् होने वाले शोणित स्राव को रोकने के लिये भी लगाते हैं। (स्तम्भनः शोणितातिप्रवृत्तेः —ड. ; It arrests bleeding from leech-bites— R. Ghosh.)

प्रतिसारणीय क्षार का प्रयोग अनेकों रोगों में बताया गया है किन्तु वाग्भट ने नासार्श आदि में इसके प्रयोग का विशेषरूप से वर्णन किया है। नासार्बुद को नष्ट करने के लिये रोगी को प्रकाश की ओर बिठाकर तथा उसकी नासा को ऊपर की ओर को (प्रत्यादित्यं निषण्णस्य समुन्नम्याग्र नासिकाम्—

वा. सू. ३०) 'क्षारप्रलेप पचासमात्रा गिनने तक' लगाना चाहिये (अल्पतरामात्रा स्थानस्य सुकुमारत्वात्–– अरुणदत्तः)

क्षारसाध्य वर्त्म रोगों में पलकों को पलट कर (वर्त्मनी निर्भुज्य, कुटली कृत्य— अ. द.) तथा कृष्ण भाग और तारक प्रदेश को कार्पास पिचु से ढककर क्षार प्रयोग करना चाहिये (क्षारस्पर्श परिहाराय पिचुना कार्पासादिमयेन कृष्ण भाग तारक प्रदेशमाच्छाद्य क्षारं विनिक्षिपेत्–– अ. द. सू ३०)

नासार्बुद तथा वर्त्म रोग में किया जाने वाला क्षारप्रलेप पद्मपत्र की तरह पतला होता है, अर्श आदि की तरह गाढा नहीं (पद्मपत्र तनुः क्षारलेपो घ्राणार्बुदेषुच–– वा. सू. ३०)

यदि गुद–स्थान में क्षार प्रयोग से दग्ध अधिक हो जाय तो रक्तस्रावादि के अतिरिक्त मल–सूत्र का अवरोध या इनका अधिक आना, पुंस्त्वोपघात और गुद विदरण से निश्चित रूप से मृत्यु हो जाती है (मृत्युर्वा गुदस्यशातनाद् ध्रुवम्–– वा. सू ३०) अतः इस स्थान में अधिक दहन करना हो तो क्षारपातन कई बार करना चाहिये (अतश्च दाह्यमति प्रमाणं न सकृदेव दहेदिति–– अ. सं. सू. ३९)

नासा में अधिक क्षारदग्ध से नासा वंश का दरण या आकुञ्चन हो जाता है और रोगी को गंध ज्ञान भी नहीं होता है। श्रोत्रादि में अतिदग्ध होने पर भी ऐसे ही लक्षण होते हैं। भगन्दर, कुष्ठ, दुष्टव्रण, चर्मकील, बाह्यकृमि, उपजिह्वा, अधिजिह्वा आदि में भी क्षार प्रयोग विहित है।

इन सबकी वेदनादि अवस्थाओं में मधु, घृत, तिल या अम्ललेप किये जाते हैं तथा वात पित्तहर शिशिर (शीत) क्रिया करनी चाहिये*।

(ii) पानीय क्षार

"तञ्चेतर क्षारवद् दग्ध्वा परिस्रावयेत्"–– सु. सू. ११

अर्थात्— पानीयक्षार के लिये भी प्रतिसारणीय क्षार की तरह ही क्षार द्रव्यों की भस्म लेकर उसे छान लिया जाता है, किन्तु इसे दुबारा पका कर तथा 'प्रतिवाप' द्रव्य मिला कर गाढा नहीं किया जाता है (द्वितीयपाकवर्ज्जम्–– ड.)

पानीयक्षार के लिये क्षार द्रव्यों की भस्म को एक पल की मात्रा में लेना उत्तम, तीन कर्ष लेना मध्यम और आधा पल लेना अधम होता है।

*संग्रहे चोक्तम्ः–– पाययेताति योगेऽतस्तं शीघ्रं सघृतं दधि ।
सगुड़ं वा दधिक्षीरं तैलं वा ससितोपलम् ॥

तदनन्तर इस भस्म को छः गुने जल में घोलकर इक्कीस बार छान लिया जाता है और इस क्षारोदक को आग पर रख कर इतना पकाया जाता है कि तृतीयांश जल शेष रहता है । इसे पुनः छान कर पानार्थ प्रयुक्त करते हैं। यही पानीय क्षार कहलाता है ।

सुश्रुत ने गुल्म (उत्तरतन्त्र – अ. ४२) की चिकित्सा के वर्णन–काल में 'लेह्य क्षार' की निर्माण पद्धति का वर्णन किया है। एतदर्थ तिल, क्षुरक (तालमखाना) पलाशादि द्रव्यों की भस्म को गौ, अजा (बकरी) आदि प्राणियों के चतुर्गुण मूत्र में घोलकर छानलें और फ़िर इसमें कुष्ठ, सैन्धव, मधुयष्टि बिडंग आदि का एक २ पल चूर्ण लेकर तथा समुद्र नमक दस पल की मात्रा में मिलादें। इसे लोहपात्र में डालकर गाढा होने तक पाक करें। जब यह पककर 'लेह्य' हो जाये तो उतारलें (पक्त्वालेह्यमथोद्धरेत् – सु. उ. ४२)

इस प्रकार तैयार किये गये क्षार को उपयुक्त मात्रा में लेकर दधि, सुरा, घृत, धान्याम्ल, उष्णजल अथवा कुलत्थरस से पान कराया जाता है। क्षार का दधि आदि भिन्न २ द्रव्यों के साथ जो पान करना बताया गया है वह रोगी के दोष, अग्नि, काल आदि का निर्णय कर किया जाता है।

यह पानीयक्षार निम्नलिखित विकारों में विशेष रूप से लाभकर है --

गुल्म (गुल्मं वातविकारांश्च क्षारोऽयं हन्त्यसंशयम्—सु. उ. ४२) उदर (दद्यादरिष्टान् क्षारांश्च कफ स्त्यान स्थिरोदरे—वा. चि. १५) गरविष, अग्निषङ्ग (जैसाकि वातश्लैष्मिक ग्रहणी, विसूचिका, अलसक, विलम्बिकादि में होता है—ड.) अजीर्ण, अरोचक, आनाह, शर्करा, अश्मरी, आभ्यन्तर विद्रधि, क्रिमि, विष, अर्श आदि (सपेयोऽर्शोऽग्निसादाश्म गुल्मोदर-गरादिषु—वा. सू. ३०)

पानीय क्षार का प्रतिसारणीय क्षार की तरह पुनः पाक नहीं किया जाता है (द्वितीयपाकवर्ज्जम् - ड.) और नहीं इसको तीक्ष्ण करने के लिये इसमें अन्य पदार्थों की भस्म ही मिलाई जाती है। वैज्ञानिक शब्दों में पानीय क्षार तीक्ष्णता (हाइड्रोक्साइड) रहित होता है जिससे यह वांच्छित क्रिया तो कर सकता है किन्तु प्रतिसारणीय क्षार की तरह सम्पर्क में आने वाली धातुओं का क्षरण या क्षणन करने की शक्ति से रहित होता है।

पानीयक्षार, जिसे आधुनिक परिभाषा के अनुसार "एलकली= Alkali" कहा जा सकता है, (i) उत्तम, (ii) मध्यम और (iii) अधम

भेद से तीन प्रकार का होता है। (i) 'उत्तम' और (ii) मध्यम प्रकार के पानीयक्षार के आभ्यन्तर प्रयोग से मुख की श्लैष्मिक कला का वाह्यस्तर लीन (Dissolve) हो जाता है तथा (iii) 'अधम' (Dilute) प्रकार के क्षार के प्रयोग से लाला स्रवण बढ़ता है। यह आमाशय में संचित अम्लता (Acidity) को निष्क्रिय कर देता है। इससे आमाशय में हलका सा क्षोभ होता है जिसके परिणाम स्वरूप रुधिर संचार में वृद्धि होती है, गैस के निकलने में सुविधा होती है, वेदना तथा आध्मान को कम करता है। इस प्रकार पानीय क्षार अग्निषङ्ग में लाभ पहुंचाता है।

श्वसनसंस्थान की प्रणालियों पर इसका उत्तेजक प्रभाव होता है तथा इस प्रकार यह गाढ़े श्लेष्मा को तरल कर देता है और श्लेष्म निःसारक (Expectorant) होता है।

मूत्र संस्थान पर इसकी क्रिया मूत्र की अम्लीय प्रतिक्रिया को क्षारीय कर देने के रूप में होती है जिससे आम वात (Gout) पैत्तिक (Uric Acid) अश्मरी आदि में लाभ करता है।

पानीयक्षार का अतियोग होने पर रोगी को सघृतदधि, सगुड दधिसर, अथवा धात्रीफलादि से सिद्धघृत का पान कराना चाहिये (अ. सं. सू. ३६)।

इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर विकारों को नष्ट करने वाले ये दोनों प्रकार के (पानीय और प्रतिसारणीय) क्षार रोग समूह को शीघ्र ही नष्ट करने में परम उपकारक हैं किन्तु इनकी इस प्रकार की क्रियाशीलता बुद्धिमान् चिकित्सक द्वारा सम्यक् प्रयोग पर निर्भर करती है; अन्यथा क्षार विष की तरह सर्वाङ्ग में वेदनादि विकार उत्पन्न कर, अग्नि की तरह विस्फोटकादि का कारण बन, शस्त्र की तरह सिरादिका छेदन कर और बज्र की तरह शीघ्र ही रोगी के प्राण हर लेता है (विषाग्निशस्त्राशनिमृत्युकल्पः क्षारो भवत्यल्पमति प्रयुक्तः। स धीमता सम्यगनुप्रयुक्तो रोगान् निहन्यादचिरेण घोरान्—सु. सू. ११)

(४०) अग्निकर्म उपक्रम-

इसका वर्णन सन्मुखीन पृष्ठ १६७ पर किया गया है।

अग्निकर्म

अग्निः क्षारादपिश्रेष्ठ स्तद्दग्धानामसम्भवात् ।
भेषजक्षार शस्त्रैश्च न सिद्धानांप्रसाधनात् ॥ वा. सू. ३० ॥

अर्थात्—क्षार प्रकरण में अनेकों उदाहरणों द्वारा क्षार को शस्त्रानुशस्त्रों से श्रेष्ठ प्रमाणित किया है और उपरोक्त श्लोक में अग्निकर्म को निम्नलिखित कारणों के आधार पर क्षार से भी श्रेष्ठ बताया है, जैसे—

(i) क्षार प्रयोग से ठीक हुये रोगों का पुनः हो जाना सम्भव है (पुनर्विरोहो रूढानाम्—च. चि. १४) किन्तु अग्निकर्म से रोग पूर्णतः निर्मूल हो जाता है अतः उसका दुबारा होना असम्भव है (तद्दग्धानां रोगाणामपुनर्भवात्—सु. सू. १२)

(ii) जो रोग औषधादि के प्रयोग द्वारा ठीक नहीं होते हैं वे भी अग्निकर्म द्वारा ठीक हो जाते हैं (भेषज शस्त्रक्षारैरसाध्यानां तत्साध्यत्वाच्च—सु. सू. १२) जैसे अर्शो रोग (महान्ति प्राणवतांच्छित्वाऽग्निना दहेत्—सु. चि. ६) "अर्शंशस्तत्र सुदारुणः" इत्यादि चरक वाक्य (चि. १४) क्षार के सम्बन्ध में ही जानने चाहिये ।

(iii) अग्निकर्म द्वारा किया गया विसंक्रमण (Sterilization) परमविश्वसनीय होता है क्योंकि इसके सम्पर्क में आते ही सभी विकारी जीवाणु तत्काल नष्ट हो जाते हैं । सुश्रुत ने छेदनादि अष्टविध शस्त्रकर्म अग्नितप्त शस्त्र से करने का आदेश दिया है (अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यात्—सु. चि. २) विसंक्रमण रहित शस्त्रादि उपकरण व्रण के सम्पर्क में आने पर उसे पाकग्रस्त कर सकते हैं अतः अग्नितप्त शस्त्र से छेदन करने का कारण व्रण को पाकोद्पादक जीवाणुओं से बचाना है (अन्यथा अतप्तशस्त्रच्छेदने पाकभयं स्यात्—डल्लणः)

(iv) अग्निकर्म की श्रेष्ठता में अग्नि के कुछ अन्य विशिष्टकर्म भी कारण हैं; (१) स्वेदन के लिये अग्निका विविध रूपों में उपयोग होता है । (२) प्रतपन को रुधिर संचार की गति बढ़ाने वाला बताया है (प्लुष्टस्याग्निप्रतपनम्—सु. सू. १२; उष्णक्रियया तु रक्तंविलीयते—चक्रपाणिः) और (३) जब कटी हुई रक्तवाहिनियों से निकलने वाले रुधिर को रोकना होता

है तो उस स्थान का दग्ध किया जाता है जिससे सिरादिक संकुचित* हो जाती हैं (दाहः संकोचयेत् सिराः—सु. सू. १४)

इस प्रकार साधारणतः अग्नि का रोगनिवारणार्थ बहुविध उपयोग होता है, किन्तु यहां "अग्निकर्म" से अभिप्राय अग्नि का चिकित्सार्थ प्रत्यक्ष (लोहशलाकादि को अग्निवर्ण कर प्रयोग में लाना) या अप्रत्यक्ष⊕ (वाष्पादि से उष्णता उत्पन्न करना) उपयोग करने से है। डल्लन ने अग्नि से किये गये कर्म अथवा अग्नि से सम्बन्धित कर्म सभी को "अग्निकर्म" कहा है (अग्निनाकृतं यत् कर्म अग्नि सम्बन्धि वा यत्कर्म तदग्निकर्म—ड.)

पाश्चात्य वैद्यक में शरीर के तन्तुओं को रोगनिवारणार्थ जलाना या दग्ध करना 'कॉटरी = (Cautery) = दहन, कहलाता है जो अग्नि, विद्युत् रासायनिक पदार्थ आदि के द्वारा सम्पन्न होता है। जब लोह शलाका आदि को अग्निवर्ण कर प्रयुक्त करते हैं तो वह 'अग्निकर्म (Actual Cauterization या Cautery)' कहलाता है। आयुर्वेद में दहन चिकित्सा 'अग्निकर्म' है क्योंकि इसमें पिप्पली, अजाशकृत् आदि से जलाने का वर्णन है। यदि रासायनिक पदार्थों के प्रयोग द्वारा शारीर तन्तुओं को नष्ट किया जाता है तो उसे 'रासायनिक दग्ध (Chemical Cautery)' कहते हैं। क्षार में भी जैसा कि क्षार के प्रसंग में वर्णन किया गया है, ऐसे पदार्थों का संयोग होता है जो तन्तुओं के सम्पर्क में आने पर उन्हें जला डालता है। इस प्रकार की क्रिया करने वाले क्षार को आयुर्वेद में 'प्रतिसारणीय क्षार' कहा है। विद्युत् की तरंग या प्रवाह द्वारा दहन करना 'विद्युत् दहन (Electrocautery या Galvanocautery) कहलाता है। विद्युद्दहन हल्के शोणितस्राव के स्थानों का दहन करने तथा मस्से (Polypi) आदि को नष्ट करने के लिये उपयोगी होता है। विद्युत् के अत्युच्चताप द्वारा शरीरान्तः स्थित तन्तुओं का दहन Diathermy Cautery (डायाथर्मी काटरी) कहलाता है। यह जिह्वा आदि की घातक वृद्धियों को नष्ट करने के लिये उपयोगी होता है। कभी २ हिमशीत पदार्थों को भी, जैसे Carbon Dioxide Snow,

---

*It is well to remember that a dull red heat is the most effective, since thereby the vessels are seared and closed—R. & C.

⊕मशादि रोगादितेषु सूर्यकान्तादिभिः करणै स्त्वग्दाहोविधेयः—इन्दुः (अ. सं. सू. ४०) आज कल Converging Glass. को सूर्यकान्तमणि का प्रतिनिधि माना जा सकता है।

तन्तुओं को नष्ट करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है; इसे हिमदहन (Cold Cautery) कहते हैं (हिमवर्षानिलैर्दग्धे—सु. सू. १२; हिमदग्धस्तुषार-दग्ध इति लोकोक्त्या हिम दग्धेऽपि दाहसादृश्यमस्ति—डल्लणः) अत्युष्णता और अतिशीतता दोनों समान रूप से तन्तुओं को नष्ट करते हैं इस कारण से 'हिमदहन' कहने की प्रथा है तथा दोनों चिकित्सा पद्धतियों में इसका प्रचलन है।

अग्निकर्म का समय निश्चित नहीं है अर्थात् सभी ऋतुओं में अग्निकर्म किया जा सकता है (तत्राग्निकर्म सर्वर्तु पुकुर्यात्– सु. सू. १२) किन्तु यथा सम्भव शरद् और ग्रीष्मर्तुओं में नहीं करना चाहिये (अन्यत्रशरद्ग्रीष्मा-भ्याम्—सू.) इन ऋतुओं में भी आत्ययिक अवस्था उपस्थित होने पर अग्नि कर्म किया जा सकता है। केवल इस प्रकार की व्यवस्था कर लेना आवश्यक होता है जिससे परिणाम प्रतिकूल न हो (तत्राप्यात्ययिकेऽग्निकर्म साध्ये व्याधौ तत्प्रत्यनीकं विधिं कृत्वा—सु. सू. १२) इसका अभिप्राय यह है कि शीतर्तु में शीत का और उष्णर्तु में उष्णता का प्रतिकार कर कर्म कर देना चाहिये किन्तु क्रियाकाल का लंघन न करें (शीतेशीत प्रतीकारमुष्णे चोष्ण-निवारणम्। कृत्वाकुर्यात् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत्—सु. सू. ३५)

दहनोपकरण – पिप्पली, अजाशकृत्, गोदन्त, शर, शलाका, जाम्ब-वोष्ठ (जम्बूफल सदृशमुखाग्रा कृष्णपाषाणरचिता वर्तिः—ड.) इतरलोह (ताम्ररजतादि की निर्मित शलाकादि), मधु, गुड, स्नेह पदार्थ, सर्जरस, मधूच्छिष्ट आदि को दहनार्थ प्रयुक्त किया जाता है। अष्टांग संग्रहकार ने सूर्यकान्त मणि, सूची, कांस्य, स्वर्ण, घृत, वसादि का परिगणन भी दहन द्रव्यों में किया है।

आजकल विद्युद्दहन के लिये विविध प्रकार के उपकरण प्राप्य हैं।

उपरोक्त दहनोपकरण में पठित द्रव्यों को भिन्न २ शारीर धातुओं के दहन के लिये प्रयुक्त किया जाता है, क्योंकि इन द्रव्यों की दहन करने की क्षमता भी न्यूनाधिक होती है।

*त्वचामें स्थित विकार, जैसे–मशक, तिलकालक, चर्मकील आदि को नष्ट करने के लिये सूर्यकान्तमणि, पिप्पली, वर्ति, अजाशकृत्, गोदन्त, शर, शलाकादि का प्रयोग किया जाता है। वेदनायुक्त, स्तब्ध और म्लान अंगों, अभिष्यन्द, अधिमन्थ, शिरोवेदना, भ्रूवेदना, शंखवेदना और ललाट की

---

*त्वग्दाहो वर्ति गोदन्त सूर्यकान्त शरादिभिः—वा. सू. ३०।

वेदनाओं में भी पिप्पल्यादि द्रव्यों से ही दहन किया जाता है। जो रोग जिस स्थान का होता है उसी स्थान की त्वचा का दहन करते हैं (त्वग्दाहो यथास्व मभिष्यन्दादिषु तु भ्रू शंख ललाटदेशेषु—अ. सं. सू. ४०) मांसदाहार्थ जाम्बवौष्ठ, सूची, शलाका, गुड, मधु, मधूच्छिष्ट, तैल, वसा, हेम, ताम्र, लोह, रूप्य और कांस्य निर्मित उपकरणों का प्रयोग होता है। ग्रन्थि, अर्बुद, अर्श, भगन्दर, गण्डमाला, श्लीपद, अन्त्रवृद्धि, दुष्टव्रण, नाडीव्रण तथा अवगाढ पूययुक्त स्थानों में ⊕मांसदाह किया जाता है। सिरादि के दहन की आवश्यकता सिराच्छेद, स्नायुच्छेद, सन्धिच्छेद, अस्थिच्छेद, शोणितातिप्रवृत्ति, दन्तनाडी, श्लिष्टवर्त्म, उपपक्ष्म, लगण, लिंगनाश और असम्यक् व्यधन में होती है। एतदर्थ जाम्बवौष्ठ, सुची, शलाका, मधु, मधूच्छिष्ट, गुड और स्नेह पदार्थ प्रयुक्त किये जाते हैं। रूक्ष, सुकुमार, गम्भीरस्थ और मारुतोत्तर, विकारों तथा व्यक्तियों में स्नेह, मधूच्छिष्ट, क्षौद्रादि से दहन करना चाहिये—च. चि. २५।

त्वक्स्थ मशकादि को नष्ट करने के लिये अपेक्षाकृत कम ताप की आवश्यकता होने से अजाशकृत्, पिप्पली आदि द्रव्यों के उपयोग का निर्देशन है किन्तु अर्बुद, ग्रन्थि आदि विकार अधिक गहरे (मांस में) होने से शलाकादि का दहनार्थ उपयोग बताया है। इसी प्रकार जब और भी अधिक गम्भीर धातुओं का दहन अभिप्रेत होता है, जहां शलाकादि नहीं पहुंच सकती हैं, तो स्नेहद्रव्य प्रयोग में लाये जाते हैं। इस प्रकार भिन्न २ धातुओं में स्थित भिन्न २ रोगों को नष्ट करने के लिये भिन्न २ तापमात्रा की आवश्यकता होने से पाश्चात्य वैद्यक में भी भिन्न २ दहन क्षमता वाले द्रव्यों एक्सरे, रेडियम इन्फ्रारेड, कॉटरी आदि का चिकित्सार्थ उपयोग होता है।

अरुणदत्त के वर्णन से प्रतीत होता है कि संहिताग्रन्थों में जिन दहन उपकरणों का वर्णन है उनसे अतिरिक्त अन्य द्रव्यों का भी देशभेद से दहनार्थ प्रचलन था (शरादिभिरित्यादिग्रहणात् अन्यैरपि देशान्तर प्रसिद्धैस्त्वग्दाहः कार्यः—अरुणदत्तः)

दहन परीक्षण में सुश्रुत ने त्वगादि दहन के पृथक् २ लक्षण बताये है। त्वग्दग्ध में (i) शब्द प्रादुर्भाव (ii) दुर्गन्धता और (iii) त्वक् संकोच; मांसदग्ध में (i) वेदना और शोथ अल्प (ii) व्रण शुष्क और संकुचित तथा (iii) व्रण का रंग कपोतवर्ण सदृश; सिरादग्ध में (i) रुधिरादि स्राव का

⊕मांसदाहो मधुस्नेह जाम्बवौष्ठ गुडादिभिः—वा. सू. ३०।

रुक जाना (ii) व्रण का कृष्णवर्ण का तथा (iii) उन्नत होना एवं स्नाय्वादि दग्ध में व्रण का (i) कृष्ण और अरुण वर्ण का (ii) कर्कश तथा (iii) स्थिर होना सम्यग्दग्ध के लक्षण हैं।

महर्षि काश्यप के काल तक त्वचा और मांस का ही रोग निवारणार्थ दहन किया जाता था सिरादि का नहीं (न सिरास्नायुसन्ध्यस्थि मर्मस्वपि- कथंचन । दंशस्योत्कर्तनं कार्यं दाहोवा भिषजाग्निना—काश्यपः) किन्तु सुश्रुत के समय में सिरादि के दहन का भी विधान है (इहतु सिरास्नायु- सन्ध्यस्थिष्वपि न प्रतिषिद्धोऽग्निः—सु. सू. १२)

दहनकर्म की विधि का अष्टांग संग्रहकार ने विस्तार से वर्णन किया है। उसके अनुसार शुभ दिन तथा मुहूर्त में दाहार्ह रोगी को उत्तम प्रकाश में पूर्व की ओर शिर कर बिठाना चाहिये। तत्पश्चात् निर्धूम अग्नि में अग्नि- वर्ण किये गये जाम्बवौष्ठ आदि से व्याधि के अनुसार दहन करते हैं। दहन तब तक करना चाहिये जब तक पूर्व वर्णित सम्यग्दहन के लक्षण उत्पन्न न हो जाएं (दहेदासम्यग्दाह लिङ्गोत्पत्तेः—अ. सं. सू. ४०)

रोगी को पिच्छिल अन्न खिलाकर ही अग्निकर्म करना चाहिये क्योंकि अग्नि रूक्ष होती है (पिच्छिलमन्न भुक्तवतः कर्म कुर्वीत—सु. सू. १२)

उच्छून (ऊपर को उठे हुये) सुषिर (खोखले) और प्रलून (खण्डित) दन्त में तथा नाडीव्रण और जन्तुदुष्ट व्रण में स्नेह, मधूच्छिष्ट, मधु और गुड भरकर दहन करना चाहिये (स्नेहमधूच्छिष्ट मधुगुडैः पूरयित्वा दहेत्—अ. सं. सू. ४०) इसका लाभ यह है कि स्नेहादि पदार्थों में सूक्ष्म भागों में भी प्रविष्ट हो जाने की क्षमता होती है।

वर्त्म रोग में वर्त्मरोमकूपों के दहन के लिये पहिले दृष्टि को गीले वस्त्र से ढक लेना चाहिये (वर्त्मरोगेषु आर्द्रालक्तक प्रतिच्छन्नां दृष्टिं कृत्वा वर्त्मरोमकूपान् दहेत्—सु. सू. १२)

सम्यग्दग्ध के उपचारार्थ दग्ध स्थान पर मधु-घृत लगाया जाता है तथा शीत एवं स्निग्ध प्रदेह करते हैं (सुदग्धं घृतमध्वक्तं स्निग्धशीतैः प्रदेहयेत्—वा. सू. ३०)

दहनप्रकार कई तरह के होते हैं। अग्निवर्ण शलाकादि से रुग्णभाग पर जो विविध आकार की रेखादि बनायी जाती हैं वे 'दहन प्रकार' कहलाते हैं। सुश्रुत ने चार और अष्टांग संग्रहकार ने सात प्रकार के दहन प्रकारों का वर्णन किया है जो इस प्रकार है—

(१) वलय* (व्याधिमूले वलयमिव वलयं शलाकानिर्मितम् –ड.) इसमें शलाका की सहायता से अर्बुदादि के मूल में वलयाकार (कड़े की तरह का) ○ दहन किया जाता है।

(२) अर्धचन्द्र— आधेचन्द्रमा के आकार ◡ का दहन करना।

(३) स्वस्तिक— स्वस्तिकाकार 卐 दहन करना।

(४) अष्टापद— आठ चिन्हों वाला * दहन करना।

(५) विन्दु— विन्दु के आकार ::: का दहन करना।

(६) रेखा या विलेखा (तिर्यगृजुवक्रा विविधा लेखा विलेखाः—ड.) इसमें दहन–उपकरण से तिरछी, सीधी, टेढी आदि अनेक प्रकार की रेखाएं बनायी जाती हैं।

(७) प्रतिसारण (तप्तशलाकादिभिरवघर्षणम्—ड.) अर्थात्—तप्त की गयी शलाकादि से रोगग्रस्त स्थान का घर्षण करना 'प्रतिसारण' कहलाता है।

जो व्याधियां अग्निकर्म द्वारा ठीक हो जाती हैं वे 'दाहार्ह' व्याधियां कहलाती हैं। संक्षेपतः निम्नलिखित व्याधियों तथा अवस्थाओं में अग्निकर्म किया जाता है—

मूत्राशय में स्थित अश्मरी का शस्त्रकर्म करने के उपरान्त जिस मार्ग से अश्मरी को बाहर निकाला जाता है कभी २ वह मार्ग बन्द नहीं होता है और उसमें से मूत्र आता रहता है (स्रवतोऽश्मभवान मूत्रम्—सु. सू. १) उसे अवरुद्ध करने के लिये अग्निकर्म नामक उपक्रम किया जाता है। इस सम्बन्ध में डल्लण का कथन है कि सद्योव्रण में तो मूत्र का आना स्वाभाविक है किन्तु शल्यकर्म के उपरान्त एक सप्ताह के पश्चात् भी यदि मूत्र आता रहे तो उस अवस्था में व्रण का दहन करना चाहिये (सप्ताहादूर्ध्वं पुनर्यदा व्रणाना मसन्धानेन मूत्रं स्वमार्गं न प्रतिपद्यते तदैवाग्निना दहेत्—डल्लणः)

इसके अतिरिक्त रुधिरस्रावी व्रण (ये चान्ये रक्त वाहिनः—सु.) और सम्पूर्ण सन्धि के छिन्न हो जाने की अवस्था में अग्निकर्म द्वारा चिकित्सा करने पर सफलता प्राप्त होती है। अर्श के कर्कश, स्थिर, पृथु और कठोर अंकुर (कर्कशस्थिरपृथु कठिनान्यग्निना—सु. चि. ६) भगन्दर (जाम्बौष्ठेनाग्निवर्णेन तप्तया वा शलाकया—सु. चि. ८) प्लीह वृद्धि (दहेच्छिरां शरेणाशु प्लीह्लोवैद्यः प्रशान्तये—सु. चि. १४) ग्रन्थि (दहेत्स्थिते वाऽस्रजि सिद्धकर्मा—सु. चि. १८) अपची (निष्कृष्य जालान्य नलं निदध्यात्—सु.

*कटको वलयोऽस्त्रियाम्—अमरकोषः।

चि. १८) **अर्बुद** (क्षाराग्निशस्त्राण्यसकृद् विदध्यात्——सु, चि. १८) **मेदोज-गलगण्ड** (मज्जाज्यमेदो मधुभिर्दहेद्वा—— सु. चि. १८) **अन्त्रवृद्धि** (तत्र या वङ्क्षणस्था तां दहेदर्धेन्दुवक्त्रया—— सु. चि. १९) **मशक तथा तिलकालक** (प्रदहेद्युक्त्या वह्निना वा शनैः शनैः——सु. चि. २०) **वल्मीक** (क्षाराग्निभ्यां प्रसाधयेत्—— सु. चि. २०) **अधिदन्त** (उद्धृत्याधिकदन्तंतु ततोऽग्नि मवचारयेत्—— सु. चि. २२) **दन्तनाडी** (शोधयित्वा दहेद्वापि क्षारेण ज्वलनेन वा —— सु. चि. २२) **शीतदन्त** (स्विन्नस्य शीतदन्तस्य पालीं विलिखितां दहेत्—— वा. उ. २२) **सद्यो व्रणों में किसी शाखा के निःशेषतः छिन्न होने पर** (छिन्नां निःशेषतः शाखां दग्ध्वा तैलेन युक्तितः—— वा. उ. २६) **विषदिग्ध शस्त्र से उत्पन्न व्रण** (शल्यमाकृष्य तप्तेन लोहेनानु दहेद् व्रणम्——वा. उ. ३५) **मण्डली से अतिरिक्त सर्पदंश के व्रण** (करोति भस्मसात्सद्यो वह्नि किं नाम न क्षणात्—— वा. उ. ३६) **श्लैष्मिक गुल्म के कृतमूल होने पर** (तस्यदाहं हृते रक्ते कुर्यादन्ते शरादिभिः—— अ. सं. चि. १६) **अधिमांसक, वातस्तम्भ एवं वातवेदनाओं में** (वातस्तम्भानिलार्तिषु—— च. चि. २५) **तथा अन्य भी अनेकों विकारों में अग्निकर्म किया जाता है।**

सुश्रुतोक्त "दाहः संकोचयेत् सिराः" **के अनुसार** दहन **या अग्निकर्म रक्तवाहिनियों को संकुचित कर देता है और इस प्रकार यह रक्त को रोकता है। यही कारण है कि रुधिर निवारण के चार उपायों में से एक दहन भी है। इस प्रकार दहन या अग्निकर्म नामक उपक्रम का प्रयोग उन व्रणों में भी किया जाता है जिनसे रुधिरस्राव होता हो** (ये चान्ये रक्तवाहिनः—— सु. सू. १)

बड़े शस्त्रकर्मों में तथा दुर्घटनाओं के परिणाम स्वरूप भी कभी २ बड़ी २ सन्धियों का सम्पूर्णच्छेदन करना आवश्यक हो जाता है। ऐसी अवस्था में काटी गयी बड़ी वाहिनियों तथा सूक्ष्म केशिकाओं से स्रवित होने वाले रुधिर को रोकने के लिये भी अग्निकर्म किया जाता है (निःशेषच्छिन्न सन्धींश्च साधयेदग्निकर्मणा— सु. चि. १) **सम्प्रति वाहिनी–बन्धन करते हैं।**

निम्नलिखित अवस्थाओं में अग्निकर्म नहीं **करना चाहिये** —

पित्त प्रकृति, अन्तःशोणित, भिन्नकोष्ठ, अनुद्धृत शल्य, **दुर्बल, बाल, वृद्ध, भीरु, अनेक व्रण पीडित और पाण्डु–मेही–रक्तपित्ती, विषार्त आदि जो अस्वेद्य बताये हैं उनमें अग्निकर्म निषिद्ध है। चरक ने गर्भिणी, तृष्णा तथा ज्वरपीडित, सविष शल्य, स्नायु तथा मर्मस्थित व्रण, सविषव्रण, नेत्रव्रण और कुष्ठ व्रणों में अग्निकर्म का निषेध किया है** (नाग्निकर्मोप देष्टव्यं स्नायुमर्मव्रणेषु च। सविषेषु च शल्येषु नेत्रकुष्ठ व्रणेषुच—— च. चि. २५) **परन्तु आत्य-**

यिक अवस्था होने पर इनमें भी प्रत्यनीक व्यवस्था कर अग्निकर्म किया जा सकता है (आत्ययिके तु व्याधौ कृतोष्णप्रतीकारस्य पिच्छिलमन्न मशिवतोऽग्निकर्म कुर्यात्–– अ. सं. सू. ४०)

उपरोक्त चरक–उद्धरण में मर्मस्थलों पर अग्निकर्म का निषेध किया है क्योंकि इन स्थानों के अणुकोश (Cells) उष्णता से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। सम्प्रति अनुभव से यह देखा गया है कि क्ष–किरणों में वृषणों (Testis) और बीष कोष (Ovary) की 'सैल्स' को नष्ट करने की प्रबल शक्ति होती है जिसके परिणामस्वरूप 'षण्ढता' या 'वन्ध्यत्व' (Sterility) हो जाते हैं* (वृषणौ हृदयं दृष्टिः स्वेदयेन्मृदुनैव वा–– च.)

अग्निकर्म करने से पूर्व चिकित्सक को चाहिये कि वह (i) रोग का संस्थान; जैसे–– ग्रन्थि आदि के आयत, दीर्घ आदि आकार (ii) मर्मस्थल (iii) रोगी के बल तथा निर्बलतादि (iv) वात कफात्मक व्याधि या पित्त-रक्तात्मक (v) हेमन्तादि प्रवृत्ति विषक ऋतु एवं शरद्–ग्रीष्म प्रवृत्ति विषयक आदि का निर्णय कर अग्निकर्म करने में प्रवृत्त हो (रोगस्य संस्थानमवेक्ष्य सम्यक् नरस्यमर्माणि बलाबलं च । व्याधिं तथर्तुं च समीक्ष्य सम्यक् ततोव्यवस्येद्भिषगग्निकर्म–– सु. सू. १२)

(४१) कृष्णकर्म–उपक्रम–

उपरोक्त चालीस उपक्रम व्रणशोथ और व्रण की विभिन्न अवस्थाओं की चिकित्सा में प्रयुक्त किये जाते हैं। इस प्रकार चिकित्सा करने पर जब व्रण का रोहण हो जाता है तो क्षतांक या व्रणवस्तु (Scar) का रोगी की त्वचा के समान वर्ण करने के लिये कृष्णकर्म और पाण्डुकर्म नामक दो उपक्रम किये जाते हैं।

कृष्णकर्म नामक उपक्रम व्रण की उस अवस्था में किया जाता है जब दुरूढ होने के कारण व्रणवस्तु का वर्ण शुक्ल हो (दुरूढत्वात्तु शुक्लानां कृष्णकर्म हितं भवेत्–– सु. चि. १) एतदर्थ निम्नलिखित योग प्रयुक्त होता है:—

कृष्णी करण योग

एक सेर अशुद्ध भिलावों को सात दिन तक गोमूत्र में भिगोकर पुनः सात दिन तक गोदुग्ध में भिगोवें । तदनन्तर प्रत्येक भिलावे के दो २ टुकड़े कर लोहकुम्भ में भरदे । तत्पश्चात् इसके मुख को इस

---

*The genital cells are found to be remarkably susceptible to the action of the rays–– R. & c.

प्रकार बन्द करें कि भिलावे न निकलने पावें किन्तु तैल के निकलने का मार्ग बना रहे। एक अन्य लोहकुम्भ को जमीन में गढा खोद कर रखदे और इन दोनों कुम्भों के मुखों को भली भान्ति बन्द कर बाहर से आग लगादें। आग लगाने के लिये उपलों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार जो तैल निकलता है उसमें ग्राम्य या आनूप अश्व, महिषादि प्राणियों के खुरों (शफ) की भस्म को मिलाकर शुक्लवर्ण की व्रणवस्तु पर लेप करें— सु०। भल्लातक स्नेह की तरह पिण्डितक, विभीतक आदि का स्नेह निकाल कर इसी प्रकार प्रयुक्त किया जा सकता है।

चरक वर्णनानुसार लोहभस्म, कसीस और त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) के पुष्पों को मिलाकर नवोत्पन्न त्वचा पर लेप करने से उसका शीघ्र ही कृष्णवर्ण हो जाता है*।

(४२) पाण्डुकर्म उपक्रम–

गौरवर्ण वाले व्यक्ति के व्रण का क्षतांक दुरूढ होने के कारण यदि कृष्ण वर्ण का हो तो उसे पाण्डु कर्म नामक उपक्रम द्वारा त्वचा के समान वर्ण वाला बनाया जाता है (दुरूढत्वात्तु कृष्णानां पाण्डुकर्महितं भवेत्—सु. चि. १) एतदर्थ निम्नलिखित योग प्रयुक्त होता है —

पाण्डुकरण योग

रौहिणी फल (कटुतुम्बी फल या हरीतकी भेदफल) को बकरी के दूध में सात दिन तक भिगोने के बाद उसी दूध में पीस कर कृष्ण वर्ण की व्रणवस्तु पर लेप करना चाहिये। अथवा नवीन कपालिका (शराव कर्परिका) चूर्ण, वेतसमूल, रालवृक्ष मूल, कसीस, मुलेठी और मधु को पीसकर तथा मिलाकर लेप करें— सु०। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेकों सवर्णकरण योगों का संहिताग्रन्थों में पाठ है।

(४३) प्रतिसारण उपक्रम–

"प्रतिसारणं घर्षणम्" — डल्लणः

पाण्डुकर्म और कृष्णकर्म करने वाले द्रव्यों के प्रयोग से भी यदि व्रण में त्वक्सवर्णता न आयी हो तो उसका प्रतिसारण नामक उपक्रम किया जाता

*अयोरजः सकासीसं त्रिफला कुसुमानि च। करोतिलेपः कृष्णत्वं सद्यएव नवत्वचि— च् चि. २५–११५॥

है⊕। इसमें निम्नलिखित द्रव्यों द्वारा व्रण का घर्षण किया जाता है :—

कुक्कुटाण्ड कपाल, निर्मली, मुलैठी, शुक्ति (समुद्रमण्डूकी) और मणिमुक्तादि का चूर्ण; इन सबको सम भाग लेकर गोमूत्र में पीस कर गोली बनालें। इससे सवर्णीकरण के लिये व्रण का घर्षण किया जाता है (गुटिका मूत्रपिष्टास्ता व्रणानां प्रतिसारणम्— सु. चि १–११३)

(४४) रोमसञ्जनन उपक्रम–

यदि व्रण उत्पन्न होने से पूर्व व्रण स्थान में रोम (बाल) हों तो रोहण के उपरान्त भी उस स्थान पर बाल आने चाहिये अन्यथा संहिताकारों के अनुसार उस व्रण को 'सम्यक् रूढ' व्रण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एतदर्थ त्वक्-सवर्णता होना आवश्यक है। इस हेतु व्रणवस्तु में बाल उगाने के लिये रोम-सञ्जनन नामक उपक्रम का वर्णन किया गया है। एतदर्थ निम्नलिखित द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है :—

हाथी के दान्त की भस्म (हस्तिदन्त मसी) को रसौत मिला कर व्रण स्थान पर लेप करना चाहिये। यह इतना फलप्रद योग है कि यदि इसे हथेली पर लगाया जाय तो वहां पर भी बाल उग आते हैं (रोमाण्येतेन जायन्ते लेपात् पाणितलेष्वपि— सु. चि. १–११४) इस योग की प्रशंसा करते हुए डल्लण ने लिखा है कि इस योग की सफलता के उन्होंने अनेकों बार प्रत्यक्ष दर्शन किये है (अयंयोगः केशशातेसति बहुशो दृष्टप्रत्ययः— डल्लणः)

चतुष्पदों के त्वक्, रोम, खुर, शृंग और अस्थि की भस्म को चूर्णित कर तथा तैल मिला कर व्रण स्थान पर लेप करने से पुनः बाल उग आते हैं (भूमि र्भवेत् रोमवती पुनः— सु. चि. १)

(४५) रोमापहरण उपक्रम–

व्रण में बालों की उपस्थिति के कारण उसके रोहण में बाधा उत्पन्न होती है। यदि उन्हें क्षुर, कर्त्तरी (श्मश्रु कर्त्तनाद्युपयुक्तं शस्त्रम्—डल्लणः) सदंश आदि से काट या निकाल भी दिया जाय तो भी पुनः उग आने से रोहण भली भान्ति नहीं हो पाता है। अतः सम्यक् प्रकार से लोमशातन करने के लिये

⊕तयोरेव शुक्ल कृष्णव्रणयोः स्वप्रयोगैर वशिष्ट शुक्लत्वकार्ण्ययोः सवर्णकरणं निर्दर्शयन्नाह— डल्लणः

रोमापहरण नामक उपक्रम आवश्यक होता है (रोमाकीर्णो व्रणोयस्तु न सम्यगुपरोहति। क्षुरकर्त्तरीसन्दंशैस्तस्य रोमाणि निर्हरेत्—सु. चि. १–११७) एतदर्थ क्षुर, कर्त्तरी आदि से रोमनिर्हरण के उपरान्त निम्न लिखित द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये —

शंखचूर्ण दो भाग, हरताल एक भाग इनको सिरके (शुक्त) में पीसकर लेप करने से उत्तम लोमशातन होता है— सु०। अथवा भल्लातक तैल और स्नुहीक्षीर को मिलाकर लगाने से भी भली प्रकार लोमशातन हो जाता है। इस प्रकार के अन्य भी अनेकों योगों का उल्लेख है।

(४६) बस्तिकर्म उपक्रम–

शस्त्रचिकित्सा में रुधिरनिर्हरण (Blood letting) को जिस प्रकार चिकित्सार्ध होने का श्रेय प्राप्त है (सिराव्यधश्चिकित्सार्धं शल्यतन्त्रे प्रकीर्तितः— सु. शा. ८) उसी प्रकार बस्तिकर्म को भी काय चिकित्सा में चिकित्सार्ध कहा गया है (तथा प्रणिहितः सम्यक् बस्तिः कायचिकित्सिते —सु. शा. ८–५५) बस्तिकर्म पंचकर्म का एक प्रमुख अंग है और संहिता-ग्रन्थों में इसका नितान्त विस्तार से वर्णन किया है 'जो वहीं द्रष्टव्य है'। व्रण की निम्नलिखित अवस्थाओं में बस्तिकर्म विहित है —

वायु के प्रकोप से विकृत (दुष्ट) व्रण, रूक्ष, अत्यन्त वेदना युक्त और शरीर के अधोभाग में स्थित व्रणों में बस्तिकर्म किया जाता है—सु.। चरकानुसार बस्तिकर्म सब कर्मों में श्रेष्ठ है (बस्तिस्तन्त्राणाम्—च. सू. २५; तन्त्राणां कर्मणाम्— च. पा.)

(४७) उत्तरबस्ति उपक्रम–

मूत्राशय, मूत्रप्रसेक, गर्भाशय, अपत्यपथ आदि के प्रक्षालन या इनमें औषधादि के प्रक्षेप के लिये उत्तरबस्ति उपक्रम किया जाता है। यह उपक्रम केवल उपरोक्त स्थानों के व्रण आदि में ही प्रयुक्त होता है। सुश्रुत ने उत्तरबस्ति के प्रयोज्यस्थल इस प्रकार वर्णित किये हैं—

तेरह प्रकार के मूत्राघात नामक विकार, औपसर्गिक (गोनो) मेहादि मूत्रदोष, शुक्र धातु के शुक्राश्मरी आदि विकार, मूत्राशय या मूत्रमार्ग की अश्मरी या अश्मरीजन्य विकार तथा स्त्रियों में होने वाले अपत्यपथ के आर्तव सम्बन्धी दोषों में उत्तरबस्ति नामक उपक्रम किया जाता है (मूत्राघाते मूत्रदोषे, शुक्रदोषेऽश्मरी व्रणे। तथैवार्तवदोषेच बस्तिरप्युत्तरोहितः—सु. चि. १-१२३)

(४८) बन्धन उपक्रम–

इसका विस्तृत वर्णन पृष्ठ १७८ पर किया गया है :—

बन्धन उपक्रम

इस उपक्रम में बन्धनों (Bandages) की संख्या तथा उनके प्रकार और बन्धन विधियों (Bandaging) का उल्लेख किया गया है।

बन्धनोपयोगी पदार्थ—

संहिताकारों ने आजकल की तरह हल्के झीने वस्त्र की, मशीन से बनी हुई, विविध विस्तार-दैर्घ्य वाली पट्टी से सभी प्रकार के व्रणों को बांध देने से सर्वथा भिन्न तथा त्रिदोष सिद्धान्त पर आधारित शीत, उष्ण, शीतोष्ण वीर्य आदि का निर्णय कर बन्धनोपयोगी पदार्थों का चयन किया है जिनका प्रयोग दोष, देश (स्फिक्, कुक्षि, कक्षादिकम्—ड.) व्रण और ऋतु के अनुसार होता है* (बन्धनानि तु देशादीन् वीक्ष्य युञ्जीत तेषु च—वा. सू. २९) बन्धनोपयोगी पदार्थों में भग्नादि में प्रयुक्त पदार्थों फलक, कुशादि का परिगणन भी किया गया है। ये पदार्थ इस प्रकार हैं—

(१) क्षौम (शणतन्तुवस्त्र—च. पा. या अतसीतन्तुभिर्व्यूतम्—ड.)

(२) कर्पास (कार्पासतन्तुरचित)

(३) आविक (उरभ्ररोमव्यूत, मेषरोमकृत) ऊन का बना हुआ।

(४) दुकूल (वल्कल विशेषभव)

(५) कौशेय (कोशाकारकृमिलालोद्भवं तसरमितिलोके—ड.; कोषाकार जन्तुकृत तन्तुमयम्—च. पा.) रेशमी वस्त्र।

(६) पत्रोर्ण (पत्रसूत्रनिर्मित)

(७) चीनपट्ट (चीनदेशोत्पन्न)

(८) चर्म (एणादि मृगों की खाल)

(९) अन्तर्वल्कल (वृक्ष की बाह्य और आभ्यन्तर स्थित त्वचा के मध्य की त्वचा)

(१०) अलाबूशकल (तुम्बीफल कर्परिका) लौकी के टुकड़े।

(११) लताविदल (श्यामालतादि पाटनार्ध या वांस, वेंत आदि)

(१२) रज्जु (मूंज की बनी हुई रस्सी)

(१३) तूल (शाल्मलीफलनिर्मित या अश्वबालादि से निर्मित रज्जु)

(१४) सन्तानिका (द्विगुण, त्रिगुण रज्जु)

(१५) लोह (स्वर्ण, त्रपुस, ताम्र, सीसक आदि)

---

*देशं दोषं च विज्ञाय व्रणं च व्रणकोविदः। ऋतूंश्च परिसंख्याय ततो बन्धान् निवेशयेत्—सु. सू. १८-२५।

इनमें से जिनकी बुनावट घनी होती है सामान्यतः उनका बन्धनार्थ उपयोग वात–श्लैष्मिक व्याधि में तथा शीतकाल में और जिनकी बुनावट तनु (झिनी) है उनको रक्तपित्त व्याधियों एवं उष्णकाल में प्रयुक्त किया जाता है। गाढ स्थानों में घने बुने हुये बन्धन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। उपरोक्त बन्धन द्रव्यों का चयन प्रकरण (वर्णन प्रसंग) को देखकर भी किया जाता है, जैसे—सर्पदंश प्रसंग में अरिष्टाबन्ध के लिये रज्जु, रक्तातिप्रवृत्ति को रोकने के लिये सन्तानिका (रक्तातिप्रवृत्तौ रक्तनिवृत्त्यर्थं सन्तानिकया बध्नीयात्—ड.) से बांधना, भग्न में लतादि का प्रयोग, दन्तभग्न में सुवर्ण सूत्रों का बन्धनार्थ उपयोग (सुवर्णादिभि र्दन्तबन्धोवक्तव्यः—च. पा.), त्रपु आदि धातुओं का ग्रन्थि–अर्बुद के बन्धन करने में और अलाबूशकलों का शिरोव्रणों के बन्धनार्थ उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार अन्य पदार्थों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये। वाग्भट ने ताम्र, आयस, त्रपु, शीशकादिका मेदः कफाधिक व्रण में और भग्न में कुशार्थ प्रयोग बताया है*।

ये बन्धन द्रव्य वीर्य भेद से तीन प्रकार के होते हैं—(i) शीतवीर्य, जैसे—क्षौम, (ii) उष्णवीर्य, जैसे—आविक, अजिनचर्म, कौशेय आदि, और (iii) शीतोष्णवीर्य, जैसे—तूल, सन्तान, कार्पास जन्य और वल्कज आदि।

बन्धन संख्या–

यद्यपि बन्धनों के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि जहां जिस प्रकार के बन्धन की आवश्यकता हो वहां बुद्धिमान् चिकित्सक सुविधानुसार बन्धनों की कल्पना करे (योयत्र सुनिविष्टः स्या त्तं तेषां तत्र बुद्धिमान्—वा. सू. २९) तथापि पथप्रदर्शन की दृष्टि से बन्धनों के प्रकार (भेद) वाग्भट के अनुसार पन्द्रह (बन्धास्तुदशपंच च—सू. २९) और सुश्रुत के अनुसार चौदह (चतुर्दश बन्धविशेषाः—सू. १८) होते हैं। ये भेद इस प्रकार हैं—

(१) कोश (?)
(२) स्वस्तिक (Figure of Eight Bandage)
(३) मुत्तोली (Triangular Bandage)
(४) दाम (Fourtailed Bandage)
(५) अनुवेल्लित (Spiral Bandage)
(६) चीन (?)

---

* ताम्रायस्त्रपु सीसानि व्रणे मेदः कफाधिके। भंगे च युञ्ज्यात्फलकं चर्म वल्क कुशादि च वा. सू. २९–५९।

(७) खट्वा (Four Tailed Bandage)
(८) विबन्ध (Many Tailed Bandage)
(९) स्थगिका (Recurrent Bandage)
(१०) वितान (Capeline Bandage)
(११) पंचांगि (Barrel Bandage)
(१२) गोफणा (Spika or T–Bandage)
(१३) यमक (Figure of Eight Bandage)
(१४) मण्डल (Simple Bandage)
(१५) उत्संग (Sling Bandage)

अन्तिम पन्द्रहवां उत्संग नामक बन्धन वाग्भट में अधिक है। इनकी बांधने पर जैसी आकृति होती है। उसी के अनुसार प्रायः इनका नामकरण भी किया गया है (स्वनामानुगता काराः—वा. सू. २९) तथापि सभी प्रकार के बन्धनों का उनकी आकृति के अनुसार ही नामकरण करना सम्भव नहीं है (प्रायोग्रहणान्नाम्नैव सर्वेषामाकृतीर्ववतु न शक्यते--ड.) इन बन्धनों का पृथक् २ वर्णन इस प्रकार है—

(१) कोश बन्धन–

"तत्र कोशः कोशाकारः कीटस्येव" — इन्दुः।

"कोशोऽत्र बहिर्निर्गन्तुमिच्छुना कोशकारेण दष्टैकोपान्तो यः 'कोया' इतिसमाख्यातः क्रिमिकोशस्तदाकारो बन्धः 'कोश' इति व्यपदिश्यते"—हाराणचन्द्रः।

अर्थात्—जब रेशम का कीड़ा अपने कोश के एक ओर छिद्रकर बाहर निकल आता है, उसके कोशकी या तलवार* के म्यान की आकृति वाला ही 'कोश' बन्ध भी होता है। अरुणदत्त के अनुसार यह चर्म निर्मित होता है। यह बना बनाया ही प्रयुक्त किया जाता है और बन्धन⊕ रहित होने पर भी बन्धन की तरह कार्य करने वाला होने से बन्धन कहलाता है। इसके अन्दर औषधकल्क रखकर प्रयोग में लाते हैं।

कोशबन्ध का उपयोग अंगुष्ठ और अंगुली के पर्वों में होता है (कोशमंगुष्ठांगुली पर्वसु—सु.) इस बन्ध की आधुनिक किसी बन्ध से समता सम्भव नहीं है। चक्रपाणि द्वारा दिये गये भोज के उद्धरण के अनुसार कोषबन्ध का

*कोशोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधाने—अमरः।

⊕पूरयित्वौषधैर्बन्धः क्रियते कोशकाकृतिः। कोषकाख्यः स विज्ञेयो वैद्यैर्बन्धेन वर्जितः—डल्लणः।

उपयोग अंगुष्ठ और अंगुली के अग्रभाग, कूर्च, कूर्पर और जानु के व्रणों में होता है (अंगुल्यंगुष्ठकाग्रेषु कूर्च कूर्परजानुषु—- भोजः) शाखा के निःशेषतः छिन्न होने पर भी कोश बन्ध बांधा जाता है (छिन्नां निःशेषतः शाखाम्...... बध्नीयात्कोशबंधेन—- अ. सं. उ. २९)

(२) स्वस्तिक बन्धन–

स्वस्तिकं स्वस्तिका कारम्—- भोजः

जित्वराणां ध्वज चिह्न विशेषः, तदाकारोबन्धः—- हा. चं.

अर्थात्— जिस प्रकार का स्वतिक चिह्न* बनाया लाता है उस तरह के आकार वाला बन्ध 'स्वस्तिक' कहलाता है। इसकी आकृति हिन्दी के ४ और अंग्रेजी के 8 अंक के सदृश होती है। इसीसे इस बन्ध का अंग्रेजी नाम Figure cf eight bandage. है। इसमें पट्टी के लपेट एक दूसरे के ऊपर, नीचे और ऊपर की ओर को, तिरछे लगाये जाते हैं। इस बन्ध के निम्नलिखित लाभ हैं :—

(१) आरम्भ में बन्धन को स्थिर करना।

(२) किसी स्थान पर दबाव डालना, जैसाकि रक्तस्राव को रोकने के लिये किया जाता है।

(३) बन्धनकाल में सन्धि स्थल को नग्न रखना या सन्धिस्थल को बांधना।

(४) हाथ या पैर पर लगायी गयी कुशा (Splint) को स्थिर करना।

(५) मोच (Sprains) आने या अंगुष्ठ का बन्धन करने में।

सुश्रुतानुसार स्वस्तिक बन्ध निम्नलिखित स्थानों में बान्धा जाता है -

सन्धि, कूर्चक (क्षिप्रमर्मोपरिष्टादुभयतः कूर्चकः, पादांगुष्ठांगुल्योर्मध्ये क्षिप्रमितिमर्म) भ्रूमध्य, स्तनमध्य, हस्त और पाद तल आदि। अरुणदत्त ने कक्षा, नेत्र, कपोल, कर्ण आदि स्थानों में भी इसे उपयोगी बताया है (बन्धं कुर्यात्स्तनादिषु—- भोजः)

(३) प्रतोली बन्धन– Triangular Bandage.

प्रतोली पुटिका प्रोक्ता जालवद् बहुरन्ध्रकः— वैतरणः

अर्थात्— जालसदृश अनेकों छिद्रों वाला बन्धन प्रतोली कहलाता है।

*यदूर्ध्वं दक्षिणादेत्याधो वामं याति पुनः परिवृत्याधो दक्षिणादूर्ध्वं वामं तत् संन्ध्यादिषु योज्यम्—- इन्दुः

इसके संस्कृत नाम पुटिका, गोतुण्डिका, चालनी और मुत्तोली भी हैं। हाराणचन्द्र ने प्रतोली (=रथ्या*=गली) नामकरण का यह कारण बताया है कि यह प्रतोली (=गली) की तरह पर्याप्त खुली होती है जिससे मल-मूत्रादि के त्याग करने में सुविधा हो (प्रतोली रथ्येवेति प्रतोली यथा च सा विस्तृतत्वा न्नरगजादीनां प्रसारसुखा तथैवायमपि बन्धः शैथिल्याद् वातमूत्रयोरिति तात्पर्यम्— हाराणचन्द्रः)

इस बन्धन में अनेक छिद्र होते हैं इसी से इसको 'चालनी' भी कहा है। यह मेढ़ और ग्रीवा में प्रयुक्त (ग्रीवामेढ्रयोः प्रतोलीम्— सु. सू. १८) होता है तथा वैतरण के उद्धरण के अनुसार यह घाटान्त (ग्रीवाप्रांत) और ललाट प्रदेश के व्रणों के लिये भी हितकर है (घाटान्ते चैव ग्रीवायां ललाटे च प्रयोजयेत्—वैतरणः) यह बन्धन त्रिकोण (Triangular) वस्त्र खण्ड से निर्मित किया जाता है और मेढ़, नासा, मुख, हनु आदि उभरे हुए अंगों पर प्रयुक्त करने से इसे 'पुटिका' कहा गया है। इस त्रिकोण वस्त्र खण्ड के उपयुक्त स्थान पर कई छिद्र करने होते हैं जिससे मेढ़, नासादि प्राकृतिक छिद्रों की क्रिया में वाधा न हो। इसी प्रकार का एक आधुनिक बन्ध Nitschke's scrotal bandage. है जो वृषण को थामने के लिये प्रयुक्त होता है (Pye)

(४) दाम बन्धन—(Four tail Bandage)

दामाकृतिश्चतुष्पादो बन्धः स्याद्दाम सञ्ज्ञितः — भोजः

अर्थात्— दाम नामक बन्ध के चार पैर अर्थात् चार प्रान्त होते हैं। शरीर के कुछ भाग, जैसे—वंक्षण, अक्षक आदि, ऐसे हैं जहां साधारण चौडी और लम्बी-पट्टी से बांधना उपयोगी नहीं होता है। अतः ऐसे स्थानों पर चार प्रान्तो (चतुष्पाद) वाला बन्ध बांधना कार्यकर होता है। यह बन्धन सम्प्रति Four tailed bandage कहलाता है।

सुश्रुत ने दाम बन्ध का स्थान वह बताया है जहां साधारण बन्ध निष्फल होता है (दाम सम्बाधेऽङ्गे—सु., सम्बाधे अङ्गे सङ्कटे अङ्गे— ड.) हाराणचन्द्र ने अक्षक और अरुणदत्त ने वंक्षण सन्धि को दाम बन्ध का प्रयोज्य स्थल बताया है। शस्त्रकर्म के समय शल्यचिकित्सक और उसके सहायक लगभग इसी प्रकार के चतुष्पाद वस्त्र खण्ड से अपनी नासा और मुख को ढके रखते हैं जो Mask. कहलाता है।

---

*रथ्या प्रतोली विशिखा—अमरकोशः

(५) अनुवेल्लित बन्धन– (Spiral Bandage)

वेल्लितं वक्र मनुगतमिति अनुवेल्लितं वक्रानुपूर्व्या कृतो बन्ध इत्यर्थः—हाराणचन्द्रः

अर्थात— अनुवेल्लित बन्ध वह कहलाता है जिसमें बेल (लता) के लपेटों की तरह वक्र* लपेट लगाये जाते हैं। इस बन्ध का उपयोग ऊर्ध्व और अधः शाखाओं में होता है (अनुवेल्लितं शाखासु— सु. सू. १८) यह बन्ध Spiral bandage भी कहलाता है।

शाखाओं की गोलाई नीचे से ऊपर तक एकसी नहीं होती है। अतः जिस प्रकार वृक्षशाखा पर बेल लिपटती चली जाती है उसी प्रकार भुजा आदि पर लपेट लगा देने से बन्धन शिथिल रहता है। इसलिये सामने की ओर लपेट पूरा करने के उपरान्त पट्ट को पलट कर अन्य लपेट लगाया जाता है। इस प्रकार पलट कर लगाया अलुवेल्लित बन्ध निर्वतित या Reversed spiral कहलाता है। यह सन्धिस्थलों के लिये अनुपयुक्त होता है।

(६) चीन बन्धन–

चीन बन्धं विजानीयात् चीराभि र्बहुभिर्वृतम्—वैतरणः

अर्थात्—चीन बन्ध वह कहलाता है जिसमें कम चौडी अनेक पट्टियां⊕ लगी हों (स्तोकविस्तीर्णा आयता पट्टिका चीनम्— इन्दुः)

इस बन्ध का उपयोग नेत्र⊙ प्रान्त के व्रण को बांधने में होता है। उपरोक्त वर्णन से चीननामक बन्ध का कोई विशेष आकार स्पष्ट नहीं होता है।

(७) खट्वा बन्धन– Four tail Bandage

खट्वातु बहुपादा स्यात् धाराभि र्बहुभिवृताः—वैतरणः

अर्थात्— खट्वा नामक बन्ध में अनेक पट्टियां लगी होती हैं। श्री हाराणचन्द्र के वर्णनानुसार यह चतुष्पाद बन्ध है (खट्वाकारश्चतुष्पादो-बन्धः खट्वा)

इस बन्ध का उपयोग हनु, शंख, गंड आदि के व्रणों में होता है (हनु-शंख गण्डेषु खट्वाम्— सु.) इसमें प्रायः चार पट्टियां होने से इसे Four tailed bandage ही समझना चाहिये। कभी २ आवश्यकतानुसार इसमें अनेक पट्टियां भी लगायी जा सकती हैं।

---

*वेल्लितं वक्रम्— अमरकोषः

⊕बहुभिश्चीनांशुकैः कृतो बन्धश्चीनः— हाराणचन्द्रः

⊙अपांगयोश्चीनम्— सु.; अपांगयोः नेत्रान्तप्रदेशयोः— ड.

(८) विबन्ध बन्धन— (Many-tail Bandage)

विबन्धोविविधोबन्धः स च षट् चीरिका युतः – डल्लणः

अर्थात्–विबन्ध नामक बन्धन में सामान्यतः छः पट्टियां लगी होती हैं और उसे बांधते समय ऊपर, नीचे, तिर्यक् कई प्रकार से लपेटा जाता है। (ऊर्ध्वाधस्तिर्यक् परिक्षिप्तत्वेन विविधाकारो बन्धो विबन्धः— हाराणचन्द्रः)

यह बन्ध सम्प्रति (Many Tailed Bandage.) कहलाता है और प्राच्य वर्णन के अनुसार ही वक्ष, उदर आदि के व्रणों में प्रयुक्त होता है (पृष्ठोदरोरः सु विबन्धम्—सु. सू. १८) यह नितान्त उपयोगी बन्धन है जिसमें लगभग दोनों ओर छः २ पट्टियां मध्यस्थित वस्त्र खण्ड से जुड़ी रहती हैं। इनमें से दो मूलाधारीय चीरक (Perineal stirrups.) होते हैं। जिनके लगा देने (बांध देने) के उपरान्त पट्टी ऊपर की ओर को सरकने नहीं पाती है। मध्यस्थ वस्त्रखण्ड १२+१२ इंच होता है जिसके दोनों पार्श्वों पर पांच २ (५ इंच चौड़ी और ३६ से ४८ इंच लंबी) पट्टियां जुड़ी होती हैं। यह बन्धन दो व्यक्तियों के सहयोग से बान्धा जाता है।

स्तनच्छेदन (Amputation = अंगकल्पन) के उपरान्त भी विबन्ध नामक बन्ध का उपयोग किया जा सकता है किन्तु इसमें स्कन्धीय चीरक लगाना नहीं भूलना चाहिये। फुप्फुसावरण गुहा में पाकसंचय (Empyema के स्रावण के उपरान्त इसी बन्धन का उपयोग किया जाता है।

(९) स्थगिका बन्धन (Recurrent Bandage)

स्थगिकां स्थगिका कारां मेढ्रांगुष्ठाङ्गुलोत्थिताम्—वैतरणः; स्थगिका ताम्बूलकरंगः "वीडी दानी" इति विज्ञायते तस्याश्चोपरिभाग एवेह क्रमावनतत्वेनोपयोगिक तयाऽभिप्रेयत इति प्रतीयते-हाराणचन्द्रः।

अर्थात्–इस बन्ध की आकृति स्थगिका की तरह एक ओर से अधिक चौड़ी और दूसरी ओर से कम चौड़ी होती है। यह बन्ध आजकल (Recurrent Bandage.) कहलाता है और कर्तितअंग (Stump.) के बन्धन में प्रयुक्त होता है। सुश्रुत ने उसे अंगुली, अंगुष्ठ और मेढ़ के अग्रभाग के बन्धन में भी उपयोगी बताया है (अंगुष्ठागुली मेढ्राग्रेपुस्थगिकाम्–सु.) साधारणतः यह पट्टी दो इन्च से अधिक चौड़ी नहीं होनी चाहिये।

आरम्भ में कर्तित अंग के आधार में पट्टी के दो–तीन लपेट लगाकर उसे स्थिर कर लिया जाता है। तदनन्तर पट्टी को अंग के शिखर पर से आधार तक लाकर उसे पुनः वहीं से मोड़ कर तथा शिखर पर से

ले जाकर दूसरी ओर के आधार तक ले जाते हैं। तत्पश्चात् आधार पर ही लपेट लगा कर इन्हें स्थिर कर लिया जाता है और उसके बाद पुनः उसी प्रक्रिया को अंग के भली-भान्ति ढक जाने तक दुहराते हैं।

सुश्रुतने मूत्रवृद्धि में तरल निर्हरण के उपरान्त स्थगिका बन्ध बांधने का निर्देश किया है जिससे यह T–Shaped Bandage. भी कही जा सकती है।

(१०) वितान बन्धन– Capeline bandage

वितानं तु वितानाभं मूर्ध्निकुर्यात् सुसंस्थितम्— वैतरणः

अर्थात्–– वितान* नामक बन्ध बांधने के उपरान्त वितान (शामियाना) की तरह का होता है । सम्प्रति इसका नाम Capeline bandage. है।

इस बन्धन का उपयोग शिर के व्रणों में होता है (मूर्ध्नि वितान्–– सु.) वितान बन्ध के लिये दो पट्टियां ली जाती हैं जिनकी चौड़ाई दो इन्च से अधिक नहीं होनी चाहिये । इन्हें आपस में जोड़ लिया जाता है । अब चिकित्सक रोगी के पीछे खड़ा होकर प्रत्येक हाथ में एक २ पट्टी को ले लेता है। पश्चात् शिर (Occiput.) के नीचे से पट्टी बांधना आरम्भ किया जाता है और पट्टी के दोनों पिण्डकों (Rollers.) को बारी २ से कर्ण के ऊपर के भाग पर से तथा मस्तक पर से लेजा कर उसे स्थिर कर लिया जाता है। तदनन्तर एक पिण्डक को इसी प्रकार चारों ओर लपेटते जाते हैं किन्तु दूसरे पिण्डक को शिर–ऊर्ध्वभाग (Calvarium) पर से आगे–पीछे को इस प्रकार लाते–लेजाते हैं कि सारा शिर पट्टी के वितान की तरह के बने आवरण से ढक जाता है। यह बन्ध त्रिकोण वस्त्रखण्ड से भी बांधा जाता है जिसमें पट्ट के दोनों कोनों को ग्रीवा के ऊपर परस्पर बांध देते हैं और बीच के तीसरे कोने को सिर के ऊपर से लाकर तथा ग्रीवा पर लगी ग्रन्थि के नीचे से निकालकर पुनः ऊपर को पलट कर पिन लगा दिया जाता है।

(११) पञ्चाङ्गी बन्धन– Barrel Bandage

चिवुके चापि पंचांगीं हनुसन्धौ विसंगते।
स्वेदयित्वा स्थिते सन्धौ कुर्यात्पञ्चांकुशावृताम् ॥ वैतरणः ॥

अर्थात्—पंचागी नामक बन्ध पञ्चांकुश युक्त होता है और हनुसन्धि के सन्धिमुक्त (Dislocation) में बांधा जाता है।

एतावत् वर्णन से पंचागी बन्ध का आकार स्पष्ट नहीं होता है किन्तु

*"क्रतु विस्तारयोरस्त्री वितानम्" और "अस्त्री वितानमुल्लोचः–अमरः

ऊर्ध्वजत्रुग व्रणों (जत्रुण ऊर्ध्वं पंचागीम्—सु.) में विशेषकर हनुसन्धि के सन्धियुक्त होने पर⊕ प्रयुक्त होने से यह सम्भवतः Barrel Bandage का ही प्रकारान्तर प्रतीत होता है। इसमें दो इंच चौड़ी, दो गज लम्बी पट्टी के मध्यभाग को हनु के पीछे गले से लगाकर सिर के ऊपर एक ग्रन्थि लगायी जाती है जिसे इस प्रकार ढीला किया जाता है कि लपेट माथे तथा सिर के पीछे भी आ जाता है तथा कानों के ऊपर दोनों ओर पट्टी के दोनों प्रान्तों से फंदा सा बन जाता है और फिर सिर पर ग्रन्थि लगा दी जाती है।

(१२) गोफणा बन्धन— Spica (T. Shaped.)

पाषाण गुडिकोत्क्षेप कारिणीं गोफणां विदुः ।
तदाकृति भिषक् कुर्यात् फणस्य पंचकं त्रिभिः ॥ डल्लणः ॥

अर्थात्—गोफणा नामक बन्ध की आकृति पाषाणादि को दूर तक फैंकने के लिये बनाये गये साधन विशेष की तरह होती है (गोफणां गोफणाकाराम् वैतरणः)

जिन २ स्थानों पर इस बन्ध का उपयोग बताया गया है उन सब पर एक ही प्रकार के बन्ध का उपयोग सुखकर नहीं हो सकता है। सूत्रस्थान में सुश्रुत ने गोफणा बन्ध का प्रयोज्य स्थल चिबुक (ओष्ठाधोमांसास्थि पिण्डिका—ड.) अंस (बाहु शिर=कंधा) वस्ति (मूत्राशय) नासा और ओष्ठ बताये हैं (चिबुक नासौष्ठांसवस्तिषु गोफणाम् सु. सू. १८) । अंस (Shoulder), वंक्षण (Groin) आदि स्थानों में जो बन्ध आजकल बांधा जाता है वह Spica Bandage* कहलाता है। इसमें लगाये गये लपेट गोधूम मंजरी (Wheat Spike) की तरह लहरदार दिखाई देते हैं। क्षुद्ररोगों में पठित गुदभ्रंश (Rectal Prolapse) की चिकित्सा में भी गोफणा बन्ध का उपयोग बताया गया है (कारयेद् गोफणाबन्धम्—सु. चि. १८) इसे आधार मानकर गोफणाबन्ध का आकार कौपीन सदृश भी होता है (कौपीन बन्धोनाम गोफणेत्युच्यते—हाराणचन्द्रः) कौपीन बन्ध पाश्चात्य वैद्यक में T–Bandage कहलाता है। इस प्रकार गोफणा बन्ध दो प्रकार का होता है।

⊕……हनुसंधौ विसंहते। स्वेदयित्वा स्थिते सम्यक् पंचांगी वितरेद् भिषक्—सु. चि. ३।

*Spica (spike or spathe), a botanical term applied to heads of seeds arranged as in an ear of wheat—Pye.

(१३) यमक बन्धन–

8 figure

वन्धं यमक नामानं यमल व्रणयोस्तु यः—डल्लणः
यमलव्रणयोः कुर्यात् यमलं मण्डलाकृतिम्—वैतरणः

अर्थात्—मण्डलाकृति वाला यमक नामक बन्ध वह होता है जो दो व्रणों को एक साथ आच्छादित करता है (यमल व्रणयोर्यमकम्—सु.)

किसी भी बन्ध से पास २ स्थित दो व्रणों को एक साथ आच्छादित किया जा सकता है किन्तु Figure of eight या स्वस्तिक बन्ध से ऐसा आसानी से किया जा सकता है; वैतरण ने इसे मण्डलाकृति* बताया भी है। अतः यमकबन्ध स्वस्तिक बन्ध का ही प्रकारान्तर प्रतीत होता है।

(१४) मण्डल बन्धन–

मण्डलं वेष्टनाकारं विदध्यात् मण्डलाख्यके—डल्लणः।

अर्थात्—मण्डल नामक वह बन्ध कहलाता है जिसमें लगाये गये लपेट गोलाई लिये होते हैं (गोलो वन्धो मण्डलः—हाराणचन्द्रः)

इस बन्ध का उपयोग बाहु, पार्श्व, उदर, ऊरु, पृष्ठादि गोलाई लिये अंगों के व्रणों को बांधने में होता है (वृत्तेऽङ्गे मण्डलम्—सु.; बाहुपार्श्वोदरोरु पृष्ठादिकं वृत्तमंगम्—ड.) साधारण लपेट लगा देना ही मण्डल–बन्ध कहलाता है अन्यथा इन स्थानों के लिये अनुवेल्लित बन्ध विहित है (अनुवेल्लितं शारवासु—सु.) अतः यह Simple Bandage है।

(१५) उत्सङ्ग बन्धन–

उत्संगमंगविशेषे लम्बिनि बाह्वादौ—अरुणदत्तः ।
उत्संगमिव विलम्बिनि बाह्वादौ कण्ठादिलम्बमानम्—इन्दुः ॥

अर्थात्—भग्नोपरान्त लटकती हुई अग्रबाहु, मणिबन्ध आदि को सहारा देने के लिये लगाया जाने वाला ऐसा बन्ध जो पीड़ित अंग और कण्ठ में बांधा जाता है, उत्संग बन्ध कहलाता है।

मुत्तोली की तरह यह पट्ट भी त्रिकोणाकार होता है जिसके दो प्रान्तों (Ends) को परस्पर गांठ लगाकर गले में लटका दिया जाता है और उसके अन्दर पीड़ित बाहु को टिका देते हैं। तृतीय प्रान्त को कूर्पर पर से घुमाकर तथा सामने की ओर लाकर पिन से जोड़ देते हैं। इसमें हाथ कूर्पर की अपेक्षा कुछ ऊंचा होना चाहिये। यह बंध सम्प्रति Sling Bandage कहलाता है। यह एक गज चौकोर वस्त्रखण्ड का तिर्यगर्ध होता है।

---

*बध्यते मण्डला कारो यमलव्रणयोस्तु यः—डल्लणः।

प्रकारान्तर से व्रणस्थान के अनुसार बन्धन के निम्नलिखित भेद भी किये जाते हैं--

(१) गाढबन्ध (पीडयन्नरुजोगाढः--सु.)--

गाढ बन्ध पूरी तरह कसा हुआ होता है किन्तु इतना नहीं कि अंग में वेदना होने लगे।

स्फिक् (स्फिचौ कटिप्रोथौ—ड.; नितम्ब का मांसल भाग) कुक्षि, कक्षा, वङ्क्षण (ऊरुसन्धि) वक्षस्थल और शिरः प्रदेश में गाढ बन्ध बांधना चाहिये।

(२) शिथिल बन्ध (सोच्छ्वासः शिथिलः स्मृतः - सु.)--

यह बन्ध ढीला (अगाढ, श्लथ) होता है। इसका प्रयोग नेत्र और सन्धिस्थलों में होता है (नेत्रयोः सन्धिषु च शिथिलः--सु.)

(३) समबन्ध (नैवगाढो न शिथिलः समः--सु.)--

जो बन्ध न गाढ हो और न शिथिल वह 'सम' कहलाता है। इसका प्रयोग शाखा, वदन, कर्ण, ओष्ठ, मेढ्र, मुष्ककोष, पृष्ठ, पार्श्व, उदर और वक्षस्थल में होता है।

गाढ, शिथिल और समबन्ध का उपयोग दोषानुसार भी किया जाता है, जैसे—

यदि व्रण में पित्तदोष प्रबल हो तो उन स्थानों पर समबन्ध का प्रयोग करना चाहिये जहां सामान्यतः (स्फिक्, कुक्षि आदि में) गाढबन्ध बांधने का निर्देश किया है; यदि ऐसा व्रण समबन्ध बांधने योग्य स्थानों (शाखाकर्णादि) में हो तो वहां शिथिल बन्ध और शिथिल बन्ध बांधने के योग्य स्थानों (नेत्रादि) में हो तो वहां बन्धन नहीं लगाना चाहिये (शिथिलस्थाने नैव--सु.) इसी प्रकार की व्यवस्था शोणित दुष्ट व्रण के सम्बन्ध में भी करनी चाहिये।

यदि व्रण में श्लेष्मदोष की प्रबलता हो तो उन स्थानों पर समबन्ध का प्रयोग करना चाहिये जहां सामान्यतः (नेत्रादि में) शिथिल बन्ध बांधने का निर्देश किया है; यदि श्लैष्मिक व्रण समबन्ध बांधने योग्य स्थानों (शाखा, वदन, कर्णादि) में हो तो वहां गाढ बन्ध और गाढ बन्ध बांधने योग्य स्थानों (स्फिक्, कुक्षि, कक्षादि) में हो तो वहां गाढतर बन्ध का प्रयोग करना चाहिये। वातदुष्ट व्रण में भी इसी प्रकार की बन्धन व्यवस्था की जाती है।

समयानुसार भी बन्धनों की व्यवस्था का विधान है, जैसे—यदि पैत्तिक और रक्तोपद्रुत व्रण शरद् तथा ग्रीष्मर्तु में हों तो दिन में दो बार

(व्रणोपचार बदल कर) व्रण बन्धन करना चाहिये। इसी प्रकार श्लैष्मिक और वातिक व्रण यदि हेमन्त तथा वसन्तर्तु में हों तो प्रति तीसरे दिन (व्रणोपचार बदल कर) बन्धन करना चाहिये । डल्लण के अनुसार पैत्तिक और शोणितज व्रण का मध्य दिन में दो बार और श्लैष्मिक तथा वातिक व्रण का प्रति तीसरे दिन प्रातः बन्धन करें। चिकित्सक स्वयं भी कल्पना कर बन्धन विपर्यय कर सकता है; जैसे— ग्रीष्म और शरद् ऋतु में होने वाले श्लैष्मिक व्रण का प्रति दूसरे दिन प्रातः, हेमन्त ऋतु में पैत्तिक व्रण का प्रतिदिन और पित्तश्लैष्मिक व्रण का वर्षर्तु में प्रति दूसरे दिन सायंकाल बन्धन करना चाहिये* ।

बन्धन के उपरोक्त नियमों का पालन न करने से होने वाली हानियां इस प्रकार हैं :—

सम और शिथिल बन्धन के योग्य स्थानों पर गाढ बन्ध के प्रयोग से विकेशिका और औषध निरर्थक हो जाते हैं तथा शोथ और वेदना होने लगती है; गाढ और सम बन्ध के योग्य स्थान पर शिथिल बन्ध बांधने से विकेशिका और औषध गिर जाते हैं तथा वस्त्र की रगड़ से (पट्ट संचरणात्) व्रणस्थान का भी घर्षण हो जाता है एवं गाढ और शिथिल बन्ध के योग्य स्थानों में सम बन्ध बांधने से व्रण बन्धन के गुणों से वंचित रह जाता है। बन्धन के नियमों का भली भान्ति पालन करने से व्रण की वेदना शान्त होती है, उस स्थान में रुधिर संचार भली भान्ति होता रहता है और मृदुता बनी रहती है (अविपरीतबन्धे वेदनोपशान्ति रसृक्प्रसादो मार्दवञ्च —सु.)

व्रण बन्धन के लाभ–

यस्माच्छुध्यति बन्धेन व्रणोयाति च मार्दवम् ।
रोहत्यपि च निःशंक स्तस्माद् बन्धो विधीयते ॥ सु. चि. १ ॥

अर्थात्— व्रण बन्धन से शोधनार्थ प्रयुक्त औषध व्रण स्थान पर टिकी रहने से व्रण का शोधन होता है, इससे व्रण में रोहण के अनुकूल मृदुता आती है और इस प्रकार व्रण का निश्चित रूप से रोहण होता है।

अस्थि भग्न और सन्धिमुक्त में बन्धन का विशिष्ट स्थान है। इससे अस्थि के भग्न प्रान्त रोहण होने तक परस्पर मिले हुए रखे जाते हैं और संधि-

*In cases where the wound is clean, there is often no need to change the dressing until the stitches are removed about the ninth day—R. & C.

मुक्त काल में हुई धातुक्षति को पूर्ण होने का अवसर मिल जाता है* ।

व्रण बन्धन से रोगी को शयन, गमन तथा अन्य क्रियाएं आदि करने में सुविधा होती है और इस प्रकार के सुरक्षित रहने से उसमें रोहण भी शीघ्र होता है (सुखमेवं व्रणी शेते सुखं गच्छति तिष्ठति । सुखं शय्यासनस्थस्य क्षिप्रं संरोहति व्रणः— सु. सू. १८)

यदि व्रण का बन्धन न किया जाय तो व्रण स्थान पर मक्षिका आदि द्वारा दूषित पदार्थ आ जाने से उसमें भीषण शोथ तथा वेदनादि हो जाते हैं (मक्षिका व्रण जातस्य निक्षिपन्ति यदाक्रिमीन्— सु. चि. १) नग्न व्रण में पांशु, शीत, वात, आतप आदि से भी विकार होना सम्भव है । बन्धन रहित व्रण में नाना प्रकार की वेदनाएं तथा उपद्रव पाये जाते हैं ।

शोणितस्राव को रोकने के लिये भी बन्धन उपयोगी होता है । सर्पदंश में बन्धन विष को शरीर में फैलने से रोकता है (तथा दंशस्योपरि बध्नीयादरिष्टां चतुरंगुले; तथा न वहन्ति सिराश्चास्य विषं बन्धाभिपीडिताः— इन्दुः, अ. सं. सू. ३८)

बन्धन के अयोग्य अथवा अबन्ध्य व्रण वे होते हैं जो पित्त, रक्त, अभिघात और विष जन्य होते हैं जिनमें शोथ, दाह, पाक, राग, तोदादि उपस्थित होते हैं । क्षार और अग्निदग्ध व्रण एवं गले-सड़े मांस युक्त व्रण भी अबन्ध्य होते हैं । कुष्ठज व्रण, मधुमेह की पिड़काएं, दारुण गुदपाक और कर्णिका (विषदुष्ट मांसांकुर) का भी बन्धन नहीं किया जाता है ।

बन्धन की योग्यता या अयोग्यता का निर्णय व्रण कोविद चिकित्सक को देश, दोष, ऋतु और व्रण के अनुसार स्वयं भी करना चाहिये⊙ ।

बन्धन विधि—

"यथा स बध्यते बन्धस्तथा वक्ष्याम्यशेषतः— सु.
तत्र घनां कवलिकां दत्वा वामहस्त परिक्षेपमृजु मनाविद्धम-
संकुचितं मृदुपट्टं निवेश्य बध्नीयात्"— सु. सू. १८

व्रण में शोधन या रोपणार्थ सूक्ष्मसूत्र निर्मित विकेशिका (मधु-घृत-तिलकल्कयुक्ता प्रोतसूत्रमयवर्तिः— ड., = Gauze.) को रखा जाता है जो अतिस्निग्ध, अतिरूक्ष और विषमन्यस्त नहीं होनी चाहिये अन्यथा इनसे क्रमशः व्रणस्थान का क्लेद, उसका कट जाना (रौक्ष्याच्छेदः) और ठीक तरह से

---

*चूर्णितं मथितं भग्नं विश्लिष्टमति पातितम् । अस्थिस्नायु सिराच्छिन्नमाशु बन्धेन रोहति— सु. सू. १८ ॥

⊙स्वबुद्धयाचापि विभजेत् कृत्याकृत्यांश्च बुद्धिमान् । देशं दोषंच विज्ञाय व्रणंच व्रणकोविदः— सु. सू. १८ ॥

विकेशिका के न रखने से व्रण मार्ग का घर्षण हो जाता है। विकेशिका को व्रण स्थान पर भली भांति रखने के उपरान्त उस पर घन कवलिका (द्विगुण चतुर्गुण मृदुकर्पटविरचितां कवलिकामाहुः—ड.) रखकर वस्त्रपट्ट बांधा जाता है।

व्रण स्थान पर बांधे जाने वाले वस्त्र पट्ट दो प्रकार के होते हैं; (i) त्रिकोण और (ii) कम चौड़े किन्तु अधिक लम्बे। प्रतोली, वितान आदि त्रिकोण और प्रायः अन्य सब बन्ध कम चौड़े किन्तु अधिक लम्बे पट्ट से बांधे जाते हैं। सुश्रुत ने उपरोक्त सूत्र में लम्बे वस्त्र पट्ट के बांधने की विधि का उल्लेख किया है–

विविध लम्बाई तथा चौड़ाई वाले बन्धन पट्ट को लपेटकर पिण्डक (Roller) बना लिया जाता है। यह कार्य मशीन से भी किया जाता है। तदनन्तर यदि रोगी के वाम अंग पर पट्टी बांधनी हो तो चिकित्सक रोगी के सामने खड़ा होकर पिण्डक को दाहिने हाथ में लेता है और दाहिने अंग पर बांधनी हो तो वाम हस्त में। बन्धन इस प्रकार लगाया जाता है कि पिण्डक रोगी के अंग पर से होता हुआ बाहर को जाता है (वामहस्त परिक्षेपम्, वामदक्षिण परिक्षेपावुभावपि कर्तव्यौ, क्रिया सौकर्यार्थं तु वामपरिक्षेप इह उक्तः। उक्तं हि चरके— "बन्धस्तु द्विविधः शस्तो व्रणानां वाम दक्षिणः"—च. चि. २४) इस प्रकार बांधा गया पट्ट ऋजु (अवक्र) अनाविद्ध (अनाकुलित या असंकीर्ण -- ड.; बद्ध आवाध करो यथा न स्यात्—च. पा.) और असंकुचित (वलिवर्जित) होना चाहिये।

इस विधि द्वारा बांधे गये बन्धन के अन्त में उसे स्थिर रखने के लिये उसका यन्त्रण* (पट्टग्रन्थेर्बन्धनम्—ड.) किया जाता है जो "ऊर्ध्वं", "अधः" और "तिर्यक्" भेद से तीन प्रकार का होता है, अर्थात् – पट्टग्रन्थि तीन स्थानों पर लगायी जाती है; ऊपर, नीचे या पार्श्व में, किन्तु इसे व्रण के ठीक ऊपर कभी नहीं लगाना चाहिये, अन्यथा यह वेदनाकर होती है (न च व्रणस्योपरि कुर्यात् ग्रन्थि मावाधकरं च—सु. सू. १८)

बन्धन पट्ट का आनाह (Widh) तथा दैर्घ्य (Length) भिन्न २ अंगों के लिये भिन्न २ प्रकार का होता है, जैसे—

	आनाह	दैर्घ्य
(१) भुजा	१-५ से २-५ इंच	८ से १२ गज
(२) वक्ष	३ से ४ ,,	६ से ८ ,,
(३) अंगुली	.७५ ,,	१ से २ ,,

*यन्त्रण मूर्ध्व मधस्तिर्यक् च—सु. सू. १८।

		आनाह		बन्धन-दैर्घ्य
(४)	पैर	२-५	इंच	४ से ५ गज
(५)	हस्त	१-	,,	३ से ५ ,,
(६)	शिर	२ से २-५	,,	५ से ७ ,,
(७)	जंघा	२-५	,,	६ से १० ,,
(८)	शिश्न	-७५	,,	२ से ३ ,,
(९)	स्कन्ध	२-५	,,	८ से १२ ,,
(१०)	ऊरु	३-	,,	६ से ९ ,,
(११)	पादांगुली	-७५	,,	१ से ८ ,,
(१२)	मध्यकाय	३ से ४	,,	८ से १२ ,,

(४९) पत्रदान उपक्रम—

यह उपक्रम उन व्रणों में किया जाता है जो स्थिर, अल्पमांस, रूक्ष और रोहण रहित हों। इनमें पत्रदान व्रणदोष और ऋतु के अनुसार किया जाता है।

यदि व्रण में वातदोष की प्रधानता हो तो एरण्ड, भूर्ज, पूतीक (पूति-करंज) और हरिद्रा के पत्र, पित्तदोष की प्रधानता हो तो अश्वबल (उपोद-की—ड.; मेथिकाकार वृक्ष—ब्रह्मदेव) गम्भारी, क्षीरवृक्षों के पत्र तथा औदक–कमलादि के पत्र और श्लेष्मदोष की प्रधानता हो तो पाठा, मूर्वा, गुडूची, काकमाची, हरिद्रा तथा श्योनाक के पत्रों का प्रयोग किया जाता है। रक्तदुष्टि में पित्तप्रकोप में प्रयुक्त पत्रों को उपयोग में लाया जाता है। शीतर्तु में उष्णता और उष्णर्तु में शीतलता लाने वाले पत्रों का प्रयोग करना चाहिये।

ये पत्र अकर्कश, अविविलन्न (सड़े हुये न होना), सुकुमार (पतले), अजन्तुजग्ध (कृमियों द्वारा न खाये हुये) और मृदु तथा नवीन होने चाहिये।

पत्रदान उपक्रम का लाभ यह है कि इन पत्रों को व्रण में प्रयुक्त किये गये स्नेह या औषध के ऊपर रखकर व्रणबन्धन किया जाता है जिससे ये बाहर निकल नहीं पाते हैं (स्नेह मौषधसारं च पट्टवस्त्रान्तरीकृतम्। न दूष-यतियत्पत्रं लेपस्योपरिदापयेत्—सु. चि. १) इसके अतिरिक्त पत्रदान का यह लाभ भी है कि इसके द्वारा पित्त और रुधिर जन्य व्रण में शीतलता और वायु तथा श्लेष्म जन्य व्रण में उष्णता उत्पन्न की जा सकती है (शैत्यौष्ण्य जननार्थाय—सु. चि. १)

(५०) कृमिघ्न उपक्रम–

व्रण में क्रिमि होने से अभिप्राय व्रण के संक्रमण* (Infection) ग्रस्त होने से है। कृमिघ्न उपक्रम द्वारा व्रण के संक्रमण को दूर करने के उपायों का उल्लेख किया है। कृमिघ्न शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग होने से इस उपक्रम में उन सभी गुणों का समावेश है जिन्हें आज कल Antiseptic या Bacteriostatic (जीवणु निरोधक) तथा Germicide या Bactericide या Disinfectant (जीवाणु नाशन) एवं Parasiticide (पराश्रयिजीवाणु नाशन) कहा जाता है।

मक्षिका आदि के द्वारा व्रण के संक्रमणग्रस्त हो जाने पर प्रक्षालन और पूरण के लिये सुरसादिगण की औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। सिंचन के लिये क्षारोदक और लगाने के लिये सप्तपर्ण, करंज, निंब आदि की त्वचा को गोमूत्र में पीसकर प्रयुक्त करना चाहिये।

यदि व्रण में कीड़े पड़ गये हों तो उनको निकालने के लिये व्रण को पेशी (बकरे आदि की) से ढक देना भी बताया है। (प्रच्छाद्य मांसपेश्या च क्रमीनपहरेत् व्रणात्—सु. चि.) व्रण के वास्तविक शोधन के लिये 'कषायादि-सप्तक' (२७ से ३३ वां उपक्रम) का प्रयोग करना चाहिये।

(५१) बृंहण उपक्रम–

जो व्रणपीडित व्यक्ति चिरकाल से रुग्ण हैं, शारीरिक दृष्टि से क्षीण हैं और जो व्रणशोषी हैं उनके साधारण स्वास्थ्य की वृद्धि के लिये 'बृंहण' नामक उपक्रम करना चाहिये। नवीन धातुओं की वृद्धि के बिना व्रण में रोहणांकुर नहीं बनते हैं और रोहणांकुरों की उत्पत्ति के बिना व्रणरोहण सम्भव नहीं होता है। अतः रोगी की धातु वृद्धि के लिये 'बृंहण' करने वाले द्रव्यों (अष्टवर्गादि जीवनीय तथा काकोल्यादिगण की औषधियों) का सेवन करना चाहिये। बृंहण द्रव्यों के सेवन में रोगी की कायाग्नि⊕ का ध्यान रखना चाहिये अर्थात् उसकी जठराग्नि मन्द नहीं होने देनी चाहिये (रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ—मा.)

---

*अरक्षया व्रणेयस्मिन् मक्षिका प्रक्षिपेत् क्रमीन्। ते भक्षयन्तः कुर्वन्ति रुजाशोफांश्च संस्रवान्—वा. सू. १९–७५।

⊕बृंहणीयोविधिः कार्यः सर्वोऽग्निं परिरक्षता—सु. चि. १।

(५२) विषनाशन उपक्रम–

इस उपक्रम का उपयोग स्थावर और जंगम विष से उत्पन्न व्रण की चिकित्सा में होता है। विष–विज्ञान (Toxicology) चिकित्सा का अति विस्तृत विषय होने से पृथक् ही वर्णित किया जाता है। स्थावर तथा जंगम विषों के लक्षण, चिकित्सा आदि का संहिता ग्रन्थों में, सुश्रुत और वाग्भट ने क्रमशः कल्पस्थान और उत्तरस्थान में तथा चरक ने चिकित्सा स्थान में विस्तृत वर्णन किया है जो वहीं द्रष्टव्य है।

(५३) शिरोविरेचन तथा (५४) नस्य उपक्रम–

जत्रूर्ध्व व्रणों में जो शोथ, वेदना, रूक्षतादि से युक्त होते हैं तथा जो वातप्रधान होते हैं उनमें यह शिरोविरेचन तथा नस्य नामक उपक्रम* किया जाता है।

शिरोविरेचन तथा नस्य पंचकर्म के अंग हैं तथा उसी प्रसंग में ये संहिता ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित है। इनका विशद वर्णन वहीं से देखना चाहिये।

(५५) कवलधारण उपक्रम-

इस उपक्रम का उपयोग मुखज व्रणों के शोधन तथा रोपण के लिये और जिह्वा एवं दन्तरोगों में वेदना दाहादि को दूर करने के लिये होता है। यह शालाक्य शास्त्र का विषय होने से विस्तार से वहीं द्रष्टव्य है।

(५६) धूम्रपान उपक्रम–

वात तथा श्लेष्म प्रधान ऊर्ध्वजत्रुज उन व्रणों में धूम्रपान–उपक्रम उपयोगी होता है जो शोथ, स्राव और वेदना से युक्त होते हैं।

चरक ने सूत्रस्थान में मात्राशितीय पंचम अध्याय में, सुश्रुत ने चालीसवें (चिकित्सा स्थान के) अध्याय में और वाग्भट ने सूत्रस्थान के इक्कीसवें अध्याय में धूम्रपान के विविध प्रकार, धूमपान का काल, अकाल-पीत धूमोपद्रव, धूमपान रीति, धूमपान नलिका आदि का अतिविस्तृत वर्णन किया है जो तत्तत् स्थलों से ही ज्ञातव्य है।

---

*कण्डूमन्तः सशोफाश्च ये च जत्रूपरि व्रणाः।
शिरोविरेचनं तेषु विदध्यात् कुशलोभिषक्॥ सु. चि. १॥
रुजावन्तोऽनिलाविष्टा रूक्षा ये चोर्ध्वजत्रुजाः।
व्रणेषु तेषु कर्तव्यं नस्यं वैद्येन जानता॥ सु. चि. १॥

(५७) मधुसर्पिः उपक्रम–

व्रणस्थान पर मधु और घृत का प्रयोग करने से व्रण की उष्मा दूर होती है, आयत (विस्तृत) व्रण के प्रान्त परस्पर सम्मिलित होकर शीघ्र रोहित होते हैं और सद्योव्रण भी सद्यः ठीक होते हैं।

व्रण चिकित्सा में मधु और घृत का स्थान २ पर उपयोग वर्णित है। इसमें कृमिहर तथा व्रणशोधक गुण होने के साथ २ व्रण रोहण भी भली भांति होता है। स्नेह के कारण विकेशिका आदि व्रण से चिपकती भी नहीं हैं और व्रण के स्राव आदि भी दूर हो जाते हैं। यही हेतु है कि "मधु–सर्पिः" नामक उपक्रम का पृथक् से वर्णन किया गया है*।

(५८) यन्त्रकर्म उपक्रम–

गम्भीर धातुओं में स्थित, स्वल्पमुख वाले, शल्यगर्भ और ऐसे व्रण जिनको केवल हस्त व्यापार से निःशल्य करना असंभव हो (निवृत्त हस्तोद्धरण) वहां स्वस्तिक, संदंश आदि यन्त्रों की सहायता से चिकित्सा की जाती है।

यन्त्र, उपयन्त्र, यन्त्रकर्म, यन्त्रसंख्या और यन्त्रों के गुणदोष आदि का विस्तृत वर्णन पृष्ठ १९६ पर किया गया है—

*क्षतोष्मणो निग्रहार्थं सन्धानार्थं तथैव च।
सद्योव्रणेष्वायतेषु क्षौद्रसर्पिर्विधीयते ॥ सु. चि. १ ॥

अथातो यन्त्रविधिं व्याख्यास्यामः* —

यन्त्र

नानाविधानां शल्यानां नानादेश प्रबाधिनाम् ।
आहर्तुमभ्युपायो य स्तद्यंत्रं यच्चदर्शने ।। वा. सू. २५–१ ।।

अर्थात्—मन और शरीर को जो कष्ट पहुंचाता है वह "शल्य" कहलाता है (मनः शरीराबाध कराणिशल्यानि—सु.) और उसको निकालने के साधन "यन्त्र" कहलाते हैं (तेषामाहरणोपायानियंत्राणि—सु.) तथा इनके रोग दर्शनादि कर्म होते हैं।

यन्त्रों की संख्या–

यद्यपि शल्यों की अनेकविधता के आधार पर यन्त्रों की भी कोई निश्चित संख्या नहीं हो सकती तथापि स्थूल ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से प्राचीन शल्यकों ने यन्त्रों की संख्या एक सौ एक निश्चित की है (यन्त्रशतमेकोत्तरम्—सु.) और ⊕हाथ को ही सर्वोत्तम यन्त्र घोषित किया है क्योंकि सभी यन्त्रों की क्रिया हस्त के आधीन होती है। यद्यपि स्वस्तिकादि पांच प्रकारों में ही यन्त्र शब्द रूढी है किन्तु पारिभाषिक रूप से इसमें उपयन्त्रों का भी ग्रहण होता है।

यन्त्रों के भेद–

यन्त्र छः प्रकार के होते हैं जो इस प्रकार हैं—

(क) स्वस्तिक यन्त्र (ख) संदंश यन्त्र (ग) तालयन्त्र (घ) नाडीयन्त्र (ङ) शलाका यन्त्र और (च) उपयन्त्र।

ये स्वस्तिकादि पांच प्रकार के यन्त्र प्रायः लोह निर्मित होते हैं (तानि प्रायशो लौहानि भवन्ति—सु.) किन्तु आवश्यकतानुसार ये सुवर्णादि धातुओं, वेणु, वृक्षादि तथा शृंग, वल्कल, स्नायु, प्रतान, अश्म आदि से भी निर्मित किये जाते हैं। स्वस्तिकादि यन्त्रों का वर्णन इस प्रकार है—

(क) स्वस्तिक यन्त्र–

मसूराकारपर्यन्तैः कण्ठे बद्धानि कीलकैः ।
विद्यात्स्वस्तिक यन्त्राणि मूलेऽङ्कुशनतानि च ।। वा. सू. २५–६ ।।

---

* यन्त्राणां विधि कल्पना संख्यानामाकारादि कथन रूपा—च. पा.।

⊕हस्तमेव प्रधान तमं यन्त्राणामवगच्छ, किंकारणम् ? यस्माद्धस्तादृते यन्त्राणामप्रवृत्ति रेव तदधीनत्वात् यन्त्रकर्मणाम्—सु.।

स्वस्तिकः चतुरंगः पिष्टकविकारः ख्यातः, तत्सदृशं स्वस्तिकयन्त्रम्—चक्रपाणिदत्तः

अर्थात्— स्वस्तिक यन्त्र वे कहलाते हैं जो देखने में मध्य से स्वस्तिक चिह्न सदृश (卐) होते हैं तथा जो कण्ठ में मसूराकार कीलों से जुड़े हुए और मूल में अंकुश के समान मुड़े हुए होते हैं (मूलेऽङ्कुशवदावृत्त वाराङ्गानि—सु.; अंकुशवद् आवृत्तं चक्रं वारांगं ग्रहणस्थलं येषांतानि तथोक्तानि— ड.) इन यन्त्रों की लंबाई अठारह अंगुल बताई गई है। पाश्चात्य वैद्यक में इस प्रकार के यन्त्रों का समावेश "फार्सेप्स" (Forceps) श्रेणी में होता है।

यह यन्त्र २४ प्रकार के होते हैं। इनके नाम भिन्न २ प्राणियों के नामों के आधार पर रखे गये हैं। ऐसे स्वस्तिक यन्त्रों की संख्या नौ है जिनकी आकृति वन्य चतुष्पादों के मुखों के समान होती है। इन यन्त्रों के नाम भी इन्हीं प्राणियों के नामों पर रखे गये हैं; जैसे— (१) सिंहमुख, (२) व्याघ्र-मुख, (३) वृक (भेड़िया) मुख, (४) तरक्षु (चरख Hyaena) मुख, (५) ऋक्ष मुख, (६) द्वीपि (चीता Panther) मुख, (७) मार्जार (विडाल) मुख, (८) शृगाल (गीदड़) मुख, (९) मृगैर्वारुक (हरिण-भेद) मुख। शेष पन्द्रह स्वस्तिक यन्त्रों की आकृति भिन्न २ प्रकार के पक्षियों के मुखों के समान होती है। उन्हीं के नामों पर ही इनके नाम भी रखे गये हैं; जैसे— (१०) काक मुख, (११) कङ्क (बगला) मुख, १२) कुरर (टिटी-हरी) मुख, (१३) चास मुख, (१४) भास मुख, (१५) शशघाती (बाज) मुख, (१६) उलूक मुख, (१७) चिल्ली (चील) मुख, (१८) श्येन मुख, (१९) गृध्र मुख, (२०) क्रौंच मुख, (२१) भृंगराज मुख, (२२) अञ्जलि-कर्ण मुख, (२३) अवभंजन मुख, (२४) नन्दि मुख।

पाश्चात्य शल्य शास्त्र में भी फार्सेप्स के नाम करण में प्राणियों की मुखाकृतियों का सहारा लिया गया है; जैसे— लाई-ऑन जॉड फार्सेप्स (Lion jawed forceps.) बुलडॉग फार्सेप्स (Bulldog forceps.) माउसटूथ फार्सेप्स (Mousetooth forceps.) आदि चतुष्पादों के मुखाकृतियों के आधार पर नामकरण हैं। पक्षियों की मुखाकृतियों के आधार पर भी नामकरण उपलब्ध हैं, जैसे— हॉकबिल फार्सेप्स (Hawk bill-forceps.) डकबिल फार्सेप्स (Duck-bill forceps.) आदि। इसी प्रकार का मास्क्विटो फार्सेप्स (Mosquito forceps.) भी है। विशेष प्रकार के स्वस्तिक यन्त्रों के आविष्कार करने वाले व्यक्तियों के नाम पर ही यन्त्रों के नाम रखने की प्रथा भी है, जैसे— हालस्टेडस मास्क्विटो फार्सेप्स

(Halsted's mosquito forceps.) फेर्गुसन्स फार्सेप्स (Ferguson's forceps.) बेडफोर्डस फार्सेप्स (Bedford's forceps.) आदि, किन्तु अधिकतर कर्म के आधार पर नामकरण किया जाता है; जैसे— बोनकटिंग फार्सेप्स (Bone cutting forceps.) बुल्लेट फार्सेप्स (Bullet forceps.) नीडल फार्सेप्स (Needle forceps.) टाबेल-फार्सेप्स (Towel forceps.) आदि।

स्वस्तिक यन्त्रों का विशिष्ट कार्य अस्थि आदि धातुओं में दृढ़ता पूर्वक संलग्न शल्य को निकालना है (तैर्दृढै रस्थि संलग्न शल्याहरणमिश्यते— वा. सू. २५–७) प्रायः दृश्य (दर्शनगतं शल्यम् – ड.) शल्य को निकालने के लिये सिंह मुखादि स्थूल मुख स्वस्तिक यन्त्रों का और अदृश्य (गूढ) शल्य को निकालने के लिये कङ्कमुखादि सूक्ष्म मुख वाले स्वस्तिक यन्त्रों को प्रयोग में लाया जाता है।

संहिताग्रन्थों में कङ्कमुख स्वस्तिक यन्त्र (Heron mouth forceps) को सब स्वस्तिक यन्त्रों में श्रेष्ठ बताया है क्योंकि इसको प्रविष्ट करना और निकालना आसान होता होता है, शल्य को पकड़ कर बाहर लाने में सुविधा होती है और संधि, धमनी आदि सभी स्थानों में इसको प्रयुक्त किया जा सकता है (वा. सू. २५)

(ख) संदंश यन्त्र–

कीलबद्ध विमुक्ताग्रौ संदंशौ षोडशाङ्गुलौ ।
त्वक् सिरा स्नायुपिशितलग्न शल्यापकर्षणौ ।। वा. सू. २५–८ ।।

सनिग्रहः सवारंगो नापितस्येव, 'नासा शोधनी' इति ख्यातः । अनिग्रहः सुवर्णकारस्येव— चक्रपाणिदत्तः

अर्थात्— संदंश वे यन्त्र होते हैं जो मूल में कीलबद्ध और अग्रभाग से खुले होते हैं। इनकी लंबाई सोलह अंगुल होती है। ये दो प्रकार के होते हैं, सनिग्रह और अनिग्रह । ये दोनों भेद देखने में चिमटे के आकार के होते हैं केवल अन्तर यह है कि एक के अग्रभाग को दबाने पर वह दबा ही रह सके ऐसी व्यवस्था होती है (सनिग्रह) और दूसरे में ऐसी व्यवस्था नहीं होती; वह तभी तक दबा रहता है जब तक हाथ से उसे दबाए रखा जाय (अनिग्रह) सनिग्रह संदंश 'ड्रेस्सिग फार्सेप्स विद कैच' (Dressing forceps with-catch.) और अनिग्रह संदंश 'ड्रेस्सिग फार्सेप्स विद आउट कैच' (Dressing forceps with out catch.) भी कहलाता है।

संदंश यन्त्रों का कार्य त्वक्, मांस, सिरा, स्नायु आदि में संलग्न शल्य

को निकालना है। इसके अतिरिक्त इनका उपयोग व्रण बन्धन के समय पिचु,* प्लोतादिक को उठाने–रखने आदि में भी किया जाता है (तौ त्वङ् मांससिरा स्नायु गत शल्योद्धरणार्थ मुपदिश्येते — सु.)

सनिग्रह और अनिग्रह संदंशों के अतिरिक्त वाग्भट ने दो अन्य प्रकार के संदंशों का वर्णन भी किया है जो इस प्रकार है :—

(१) पक्ष्महरसंदंश (षडंगुलोऽन्योहरणे सूक्ष्मशल्योपपक्ष्मणाम्—वा. सू. २५; सूक्ष्म शल्यानां नासारोमादीनां हरण आकर्षणे तथोपपक्ष्मणां-वर्त्मादिभवाना माहरणे युज्यते— अरुणदत्तः)

अर्थात्— जैसा कि नाम से ही स्पष्ट से छः अंगुल लम्बे इस संदंश का मुख्य रूप से उपयोग नेत्रगोलक की ओर मुडे हुए नेत्रच्छद के बालों को निकालने के लिये होता है (संदंशेनाधिकं पक्ष्महृत्वा— वा. उ. १०–१२) नेत्रों के बालों का अन्दर की ओर मुडना 'पक्ष्मकोप' (Trichiasis.) कहलाता है और इन बालों को पकड़ कर निकालने के लिये प्रयुक्त इस पक्ष्महर संदंश को पाश्चात्य वैद्यक में 'सिलिया फार्सेप्स' (Cilia forceps.) कहते हैं; तथा बालों को निकालना 'पक्ष्महरण' (Epilation.) कहलाता है।

इसके अतिरिक्त नासारन्ध्र के रोमों तथा सूक्ष्म शल्यों को (अतिगुप्तं च शल्यं च संदंशेन समुद्धरेत्— हारीत संहिता) निकालने के लिये भी इस संदंश का प्रयोग होता है।

(२) मुचुण्डी संदंश (मुचुण्डी सूक्ष्मदन्तर्जु मूले रुचकभूषणा— वा. सू. २५; मूले हस्त ग्रहणस्थाने रुचक मंगुलीयरूपं भूषणं यस्याः सा रुचकभूषणा, रुचकपीडनेन सा कर्म करोतीत्यर्थः— अरुणदत्तः)

अर्थात्— मुचुण्डी नामक संदंश अग्रभाग में सूक्ष्म दन्त युक्त, सरल तथा मूल में अंगूठी सदृश भूषण (छल्ला) युक्त होता है जिसे आगे की ओर सरका देने से इसकी पकड़ मजबूत हो जाती है। इसका उपयोग गम्भीर व्रणों में स्थित छिन्नशेष मांस तथा अर्म (Pterygium) नामक नेत्र विकार के छिन्नशेष भाग को निकालने के लिये होता है (गम्भीर व्रण मांसानामर्मणः-शेषितस्य च— वा. सू. २५; गम्भीरव्रण स्तस्मिन् मांसानि तस्याधिमांसमेतद् विषय आहरणे। अर्मणश्च शेषितस्य च्छिन्नशेषस्याहरणे मुचुण्डी–अरुणदत्तः।

यद्यपि सुश्रुत ने भी अर्म शस्त्रकर्म (अपांगं प्रेक्ष्यमाणस्य बडिशेन समाहितः। मुचुण्डया गृह्य मेधावी सूची सूत्रेण वा पुनः— सु. उ. १५–३

*"पिचु शब्देन विकेशिका सदृशः कर्पासमयो नक्तक श्चैल खण्डः— अरुणदत्तः वाग्भटे शारीर स्थाने २–२। प्लोतं वस्त्र खण्डम्— इन्दुः– अ. सं. उ. १४

में मुचुण्डी का उल्लेख किया है किन्तु यन्त्र परिगणन काल में संदंश नाम से केवल दो ही संदंशों का वर्णन किया है (सनिग्रहो ऽनिग्रहश्च संदंशौ षोडशा-गुलौ भवतः— सु. सू. ७) डल्लण ने मुचुण्डी का अर्थ भिन्न प्रकार से किया है (तदनन्तरं वडिशं मुचुण्ड्या तर्ज्जन्यङ्गुष्ठ संदंशेनादाय—डल्लणः)

(ग) ताल यन्त्र–

द्वे द्वादशाङ्गुले मत्स्यतालवद् द्वयेकतालके ।
तालयन्त्रे स्मृते कर्णनाडी शल्याप हारिणी ।। वा. सू. २५-१० ।।

मत्स्यविशेषस्य मुखवत् वर्तुल दीर्घमुखी त्यवयवा नासा शोधनी द्विता-लकी, एतदेकार्ध मानताग्र मेकतालक मितिवा— चक्रपाणिदत्तः

अर्थात्— ताल यन्त्र वे कहलाते हैं जिनकी लम्बाई बारह अंगुल और चौडाई कर्णादि में प्रवेश योग्य (परिणाहस्तु कर्णादि प्रवेशी ज्ञेयः—डल्लणः) होती है तथा जो आकृति में मत्स्यतालुसदृश निम्न मध्य प्रदेश वाले होते हैं (तालमत्र शल्कमाह— ड.) ये यन्त्र दो प्रकार के होते हैं (१) एकताल और द्विताल ।

(१) एकताल यन्त्र (मत्स्यमुखार्धाकारं यन्त्र मेकतालकम्— ड.) अर्थात्— एक ताल यन्त्र की आकृति मत्स्यतालु के अर्ध भाग सदृश होती है । इसे Half spoon. या Half scoop. कह सकते हैं । इसका उपयोग कर्ण नासादि स्रोतों में असंलग्न शल्य के निकालने में होता है (एकताल मनवबद्धे शल्ये— चक्रपाणिदत्तः)

(२) द्विताल यन्त्र (सर्व्व मुखाकारं द्वितालकम्— डल्लनः) अर्थात् –द्विताल यन्त्र की आकृति मत्स्य के सम्पूर्ण तालु के आकार की होती है। इसे Full spoon. या Full scoop. कह सकते हैं । इसका उपयोग कर्ण नासादि स्रोतों में संलग्न शल्य को निकालने में (कर्णनासा शल्यं गूथकेशादि — डल्लणः) होता है (द्वितालं तु अवबद्धे शल्ये––चक्रपाणिदत्तः)

(घ) नाड़ी यन्त्र–

(i) नाडीयन्त्राणि सुषिराण्येकानेकमुखानि च–– वा. सू. २५-११

(ii) नाडीयन्त्राणि नाडीवद् मध्यच्छिद्राणि । एकतोमुखानि रक्ताहरणार्थानि; अलाबु भगन्दरार्शोयन्त्रादीनि; उभयतोमुखानि बस्त्युत्तरवस्ति धूम यन्त्रादीनि डल्लणः ।।

अर्थात्— नाडी यन्त्र अन्दर से सुषिर (खोखले) और एक या अनेक मुख वाले होते हैं । इनकी संख्या बीस है (विंशतिर्नाड्यः— सु.) इनका

परिणाह (Circumference) और दैर्घ्य (Lenght) स्रोतोद्वार के अनुसार न्यूनाधिक होता है (तानि स्रोतोद्वार परिणाहानि यथायोग-दीर्घाणि—सु.)

नाडी यन्त्रों के कर्म—

(i) अनेक प्रयोजनानि—सु.,

(ii) स्रोतोगतानां शल्यानामामयानां च दर्शने ।

क्रियाणां सुकरत्वाय कुर्यादाचूषणायच ॥ वा. सू. २५–१२ ॥

अर्थात्—यद्यपि नाडी यन्त्रों के अनेकों कार्य होते हैं तथापि ये मुख्यतया निम्नलिखित कार्यों में प्रयुक्त किये जाते हैं—

(i) स्रोतोगत शल्य का उद्धरण करना, जैसे—गले में फंसे हुये लाक्षाशल्य को नाडी यन्त्र की सहायता से तप्तलोहशलाका द्वारा निकालना (लाक्षाशल्ये कण्ठासक्ते मुखे नाडीं दत्वा तप्तया लोहशलाकया आकर्षयेदित्यादिकम्—डल्लनः) कर्णगूथादि को कर्णप्रक्षालनक (Earsyringe) से धोकर निकालना (कर्णप्रक्षालनं कार्यम्—सु. उ. २१–३१) आदि । निरुद्ध प्रकश (Phimosis) सन्निरुद्धगुद (Stricture of the rectum or anus) आदि विकारों में भी मूत्रनाडी आदि का प्रयोग होता है ।

(ii) रोगदर्शनार्थ—अर्श, भगन्दर आदि की स्थिति जानने के लिये अर्शोयन्त्र, भगंदर यन्त्र आदि का प्रयोग होता है (विशेष वर्णन यन्त्र कर्म में देखें)

(iii) आचूषणार्थ—दूषित रुधिर, विष, दुष्टस्तन्य आदि के आचूषणार्थ नाडी यन्त्रों का प्रयोग होता है । सुश्रुत ने अस्थिगत वात का भी आचूषण बताया है (त्वङ्मासं शस्त्रेण विपाट्य, अस्थि पाणिमंथेन आराशस्त्रेण विद्ध्वा, तत्र रन्ध्रे द्विमुखीं नालीं प्रणिधाय मुखमारुता चूषणेन पवनाकर्षणं करणीय मिति—डल्लणः, सु. चि. ४) शृंग, अलाबू आदि का प्रयोग भी एतदर्थ होता है (यन्त्रकर्म भी देखें) जलौका—उपयन्त्र—प्रयोग भी आचूषणार्थ होता है ।

(iv) क्रियासौकर्य—नाडी यन्त्रों की सहायता से क्षाराग्नि पातन में सुविधा होती है । मूत्रवृद्धि में व्रीहिमुख का प्रयोग नाडी यन्त्र की सहायता से ही सुकर होता है । सुषुम्नातरल को निकालने के लिये कटिवेधन (Lumber Puncture) इसी प्रकार सम्पन्न होता है (यन्त्रकर्म देखें) आदि २ ।

नाडी यन्त्रों की संख्या—

सुश्रुत ने नाडी यन्त्रों की संख्या बीस बताई है । प्रत्येक नाडी यन्त्र का

पृथक् २ वर्णन इस प्रकार है—

(१-२) अर्शोयन्त्र—

> अर्शसां गोस्तनाकारं यन्त्रकं चतुरंगुलम् ।
> द्विच्छिद्रं दर्शने व्याधेरेकच्छिद्रं तु कर्मणि ॥ वा. सू. २५-१७

अर्थात्—अर्शोयन्त्र में लिम्नलिखित विशेषताएं होती हैं—

अर्शोयन्त्र की आकृति गोस्तन सदृश होती है। इसकी लम्बाई चार अंगुल होती है (चतुरंगुलं मानतोदैर्घ्येण स्यात्—अरुणदत्तः) परिणाह (Circumference) पांच अंगुल होता है; (परिणाहो वर्तुलता—ड.) स्त्रियों में परिणाह स्वहस्ततल के बराबर छः अंगुल बताया है, (स्वभावत एव तासां गुदस्य महत्वात्—अरुणदत्तः सू. २५) यह लौह, दान्त, शार्ङ्ग या वार्क्ष (वृक्ष का) होता है। यह दो प्रकार का होता है—एकच्छिद्र और द्विच्छिद्र। एकच्छिद्र अर्शोयन्त्र का उपयोग शस्त्र, क्षार, अग्नि के प्रयोग के समय होता है क्योंकि इससे अन्य धातुओं को क्षति नहीं पहुंचती (एकद्वारे हि शस्त्रक्षाराग्नीना मतिक्रमो न भवति—सु. चि. ६-२१) द्विच्छिद्र अर्शोयन्त्र का उपयोग

चित्र संख्या—६
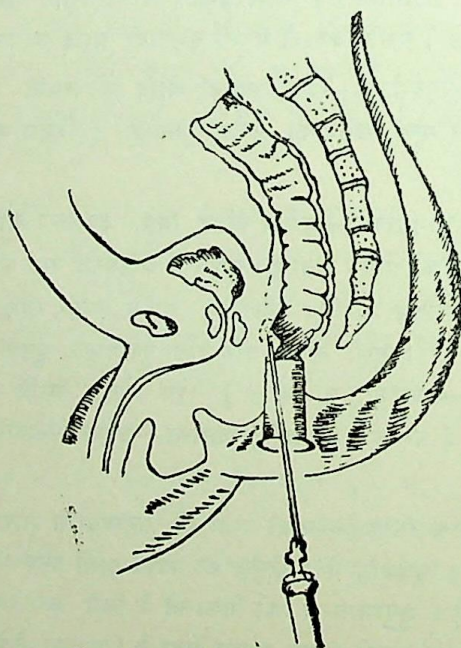
एकच्छिद्रं तु कर्मणि—वा. सू. २५-१७।
(Injection Treatment of Haemorrhoids.)

रोग दर्शन के लिये होता है। मध्यस्थित छिद्र अंगुष्ठोदर के विस्तार सदृश और आवश्यकतानुसार तीन अंगुल लम्बा होता है। इसका ऊर्ध्व भाग आधा अंगुल उठी हुई कर्णिका युक्त होता है (अर्धांगुलोच्छ्रितोद्वृत्त कर्णिकम्—वा. सू. २५)

अर्शोयन्त्र के दोष—

अष्टांग संग्रहकार ने अर्शोयन्त्र के चार दोषों का उल्लेख किया है, (i) अतिस्थूल, (ii) अतिदीर्घ, (iii) अणुच्छिद्र और (iv) अतिच्छिद्र। इन दोषों से निम्न प्रकार की हानियां होने की सम्भावना होती है—

यदि यन्त्र अतिस्थूल (वर्तुलता = Circumference का बड़ा होना) और अति दीर्घ (दैर्घ्य = Length का बड़ा होना) हो तो वह गुदमर्म को हानि पहुंचाता है (अतिस्थूलाति दीर्घे तु यन्त्रके मर्मघट्टनम्) यदि इसका छिद्र अल्प हो तो अर्शोरोग पूरी तरह दिखाई नहीं देता (महद्रूपमेकदेशेऽवशिष्यते; महतोऽर्शस एकदेशोऽवशिष्यते न दृश्यते—इन्दुः, अ. सं. चि. १०) अतिच्छिद्र होने पर रोगी के प्रवाहण से अर्श का बहुत बड़ा भाग अवतीर्ण हो जाता है (नीचे चला आता है) इससे यह भी सम्भव है कि स्थूलान्त्र के अधः प्रान्त को हानि पहुंच जाये (स्थूलान्त्र मति हिंस्याच्च—अ. सं.) अतः अर्शोयन्त्र का निर्माण शास्त्रोक्त विधि द्वारा ही होना चाहिये (यथोक्तं योजयेदतः—अ. सं. चि. १०)

अर्शोयन्त्र की प्रयोगविधि—

गुदमार्ग में यन्त्र को प्रविष्ट करने से पूर्व उसे घृताभ्यक्त (घृतादि पदार्थों से स्निग्ध) कर लेते हैं तथा उस समय सीधा (ऋजु) प्रविष्ट करते हैं जब रोगी प्रवाहण कर रहा हो (प्रवहमाणस्य प्रणिधाय—सु. चि. ६–४) इस प्रकार यन्त्र सरलता से प्रविष्ट हो जाता है।

आज कल गुद (Anus), गुलनलिका (Anal canal) और गुद-कुण्डलिका (Sigmoid) के परीक्षण के लिये अलग २ तथा कई आकार प्रकार के यन्त्र प्रयोग में लाये जाते हैं। केवल गुदद्वार को विस्तीर्ण करने वाले यन्त्र 'गुदप्रसारक' (Rectal Speculum) तथा गुदनलिका को विस्तीर्ण कर दिखाने वाले 'गुददर्शक' (Proctoscope) और जिनके द्वारा कुण्डलिका भाग को भी देखा जा सकता है वे 'गुदकुण्डलिका दर्शक' (Sigmoidoscope) कहलाते हैं। प्रकाश के प्रबन्ध वाला गुददर्शक "Illuminated Proctoscope = सप्रकाश गुददर्शक" भी उपलब्ध होता है। ये सब अर्शो-यन्त्र के ही परिष्कृत रूप हैं। (देखिये चित्र संख्या–१०)

चित्र संख्या—१०
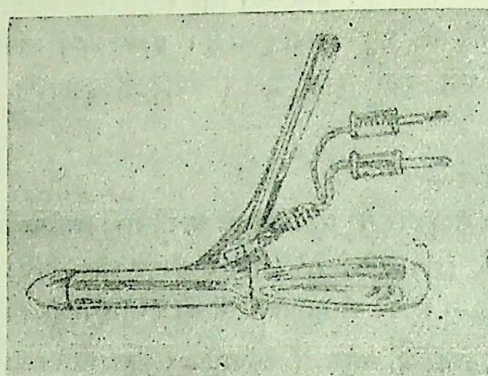
An Illuminated Proctoscope.

सप्रकाशगुद (अर्शो) यन्त्र

शमीनामक एक तीसरे प्रकार के अर्शोयन्त्र का उल्लेख भी वाग्भट में उपलब्ध होता है जिसका उपयोग अर्शोऽकुरों के पीडन के लिये होता है (शम्याख्यं तादृगच्छिद्रं यन्त्रमर्शः प्रपीडनम् – सू. २५) आज कल एतदर्थं Smith's Piles clamp प्रयुक्त होता है।

(३--४) भगन्दर यन्त्र—

छिद्रादूर्ध्वं हरेदोष्ठमर्शोयन्त्रस्य बुद्धिमान्।
ततो भगन्दरे दद्यादेतदर्द्धेन्दु सन्निभम्॥ सु. चि. ८–५४॥

सर्वथा भगन्दर यन्त्रे ओष्ठमपनयेत्। कुतःप्रभृतिः ? छिद्रादूर्ध्वम्। उपरिष्टादर्धाङ्गुलमपकर्षेदित्यर्थः। कर्णिका तु कार्यैवेति—अरुणदत्तः

अर्थात्—अर्शोयन्त्र की जो आकृति बताई गई है यदि उसके छिद्र के ऊर्ध्व भाग को हटा दिया जाये तो अर्ध चन्द्राकार आकृति वाला यही भगन्दर यन्त्र निर्मित हो जाता है। रोग भेद के अनुसार इन दोनों यन्त्रों की आकृति में भी अन्तर होता है। भगन्दर के सूक्ष्मच्छिद्रों की स्थिति जानने तथा उनमें शस्त्र–क्षाराग्नि कर्म करने के लिये यन्त्र में ऐसी व्यवस्था करना आवश्यक है जिससे गुद के आभ्यन्तर भाग को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टता से देखा जा सके।

अर्शोयन्त्र की तरह भगन्दर यन्त्र भी दो प्रकार के होते हैं—एकच्छिद्र और द्विच्छिद्र (भगन्दर यन्त्रे द्वे, एकमेकच्छिद्रमपरं द्विच्छिद्रम् — डल्लणः) ये गुददर्शक (Proctoscope) की तरह के यन्त्र हैं।

(५) व्रणयन्त्र —

व्रणयन्त्रमेकं व्रणाच्छिद्रायामपरिणाहम्— डल्लणः
यंत्रे नाडी व्रणाभ्यंग क्षालनाय षडङ्गुले।
बस्तियन्त्राकृति मूले मुखेंऽगुष्ठकलायखे॥
अग्रतोऽकर्णिके मूले निबद्धमृदुचर्मणी॥ वा. सू. २५॥

अर्थात्— नाडी व्रणों के अभ्यंग तथा प्रक्षालन कर्म में प्रयुक्त किये जाने वाले व्रण यन्त्र छः अंगुल लंबे (नेत्रभाग) होते हैं तथा इनके मूल की आकृति वस्तियन्त्र सदृश होती है। मूल में इन का छिद्र अंगुष्ठपरिणाह और मुखच्छिद्र मटर के बीज के बराबर होता है। इनके अग्रभाग में बस्तियन्त्र की तरह कर्णिका नहीं होती तथा मूल मृदुचर्म का बना होता है (निबद्धं योजितं मृदुचर्म वस्तिपुटकाकारं ययोस्ते निवद्धमृदुचर्मणी— अरुणदत्तः)

इस प्रकार वाग्भट ने दो प्रकार के व्रणयन्त्र का वर्णन किया है। प्रतीत होता है कि दोनों व्रण यन्त्रों की आकृति आदि एक जैसी ही होती है केवल इनके कर्म भिन्न २ हैं; एक का उपयोग व्रणाभ्यंग के लिये और दूसरे का व्रण प्रक्षालन के लिये होता है। जब गम्भीर मार्गों वाले व्रणों में औषध-तरल को धारा के रूप में बलपूर्वक अन्दर पहुंचाना होता है तो इस प्रकार के यन्त्रों को उपयोग में लाया जाता है। आजकल प्रयुक्त होने वाले सिरिंज (Syringe.) या इरिगेटर (Irrigator.) इसी प्रकार के यन्त्र हैं जो व्रण-प्रक्षालन के अतिरिक्त गुद, योनि और मूत्रमार्गों के प्रक्षालन आदि में भी प्रयुक्त हैं। इरिगेटर को ऊंचे स्थान पर रख कर इसमें लगी रबर ट्यूब द्वारा औपधद्रव बलपूर्वक धारा के रूप में निकलता है।

(६–७–८–९) बस्तियन्त्र—

बस्तियन्त्र के दो प्रमुख भाग होते हैं, (i) बस्तिपुट और (ii) बस्तिनेत्र। इनका क्रमशः वर्णन इस प्रकार है :

(i) बस्तिपुट—

बस्त्यभावेऽङ्क पादं वा न्यसेद् वासोऽथवा घनम्— वा. सू. १९; बस्तेरभावे सति अङ्कपादं छागैणाद्यवयव विशेषं वा न्यसेत् नेत्रे प्रयोजयेत् अथवा वस्त्रं घनं न्यसेत्— अरुणदत्तः॥

अर्थात्— बस्तिपुट के निर्माणार्थ यदि अजा (बकरी) अवि (भेड) महिष (भैंस) आदि की बस्ति (Urinary bladder.) उपलब्ध न हो तो हरिण, छाग (बकरी) आदि का मृदुचर्म अथवा घना बना हुआ मृदुवस्त्र एतदर्थ प्रयुक्त किया जाता है। यदि यह बस्तिपुट चर्म निर्मित या बस्ति का बना हो तो वह हरीतक्यादि कषायों से अच्छी तरह प्रक्षालित, सुमृदित, तथा

स्निग्ध होना चाहिये और यह छिद्र, दुर्गन्ध, ग्रन्थि आदि विकारों से रहित होना चाहिये। इस प्रकार तैयार किये गये बस्तिपुट को नेत्र भाग से दृढ़ता पूर्वक बांध देते हैं (ग्रन्थितं साधु सूत्रेण सुखसंस्थाप्य भेषजम्— वा. सू. १६; नेत्रेषु योज्यस्तु सुबद्धसूत्रः— चक्रदत्तः)

(ii) बस्तिनेत्र—

बस्तिनेत्र बस्तियन्त्र का वह भाग है जो बस्तिपुट से सम्बन्धित होता है। बस्तिपुट में भरा हुआ औषध तरल बस्तिनेत्र के छिद्र में से होता हुआ प्रयोज्य स्थल तक पहुंचता है। इसका निर्माण भिन्न २ धातुओं—सुवर्णादि से तथा दन्त, शृंग, मणि (स्फटिकादि) से होता है। यह श्लक्ष्ण, दृढ, सरल और गोपुच्छाकार तथा आगे से गोलाई लिये हुए (गुटिकामुखानि—सु.; अतीक्ष्णाग्राणि— ड.) होता है।

बस्तिनेत्र की लम्बाई रोगी की आयु के अनुसार— छः वर्ष के रोगी के लिये (रोगी के अंगुल के मान से) छः अंगुल, बारह वर्ष के रोगी के लिये आठ अंगुल, सोलह वर्ष वाले के लिये दस अंगुल एवं बीस वर्ष के रोगी के लिये बारह अंगुल परिमित बस्तिनेत्र होना चाहिये— च. द.। यह मूल में रोगी के अंगुष्ठ की परिधि वाला और अग्रभाग में कनिष्ठिका के समान परिधि वाला होता है (स्वाङ्गुष्ठेन समं मूले स्थौल्येनाग्रे कनिष्ठया— वा. सू. १६; छः आठ, दश और बारह अंगुल की लम्बाई के आधार पर बस्तियन्त्र को चार प्रकार का माना है)।

बस्तिनेत्र का आभ्यन्तर छिद्र आयु के अनुसार छोटा बड़ा होता है (श्रेष्ठ मन्यद् यथा वयः— खरनादः) यह छिद्र छः वर्ष की आयु तक मुद्गवाहि (मूंग का दाना जिसमें से निकल सके) सात से ग्यारह वर्ष तक माषवाहि, बारह वर्ष की आयु वाले के लिये कलाय (मटर) वाहि और इक्कीस वर्ष वाले रोगी के लिये कर्कन्धुवाहि (बेर बराबर) होता है।

बस्तिनेत्र के मूल में दो कर्णिकाएं होती हैं जिनसे बस्तिपुटक को भली भान्ति बांधा जासके (सर्व्वाणि मूले बस्तिनिबन्धनार्थं द्विकर्णिकानि—सु. चि. ३५) बस्तिनेत्र शरीर में कितना प्रविष्ट हुआ यह जानने के लिये भी नेत्रमूल में एक कर्णिका होती है (प्रान्ते घटित कर्णिकम्— वा. सू. १६; घटिता सम्पादिता कर्णिका छत्राकारा गुदाधिकान्तः प्रवेशरोधिनी यस्मिस्तदेवम्— अरुणदत्तः)

बस्ति यन्त्र के इस प्राच्य वर्णन को देखते हुए इसका पाश्चात्य नाम "रबर बाल एनेमा सिरिंज = Rubber ball enema syringe." हो

सकता है। आजकल बस्तियन्त्र का कार्य सम्पादन "इरिगेटर" (Irrigator) नामक यंत्र से होता है। इसमें एक विशेष प्रकार के पात्र को रबर ट्यूब से सम्बन्धित कर नेत्रभाग से जोड़ देते हैं। इसे दीवार के सहारे अथवा हाथ से ऊंचा उठाने पर जल स्वतः गुरुत्वाकर्षण के कारण बलपूर्वक आने लगता है।

आयुर्वेद के संहिताकारों तथा बाद के संग्रहकारों ने भी बस्ति की उपयोगिता को कई २ अध्यायों में वर्णित किया है। कुछ आचार्यों ने बस्ति को "चिकित्सार्ध" बताया है जबकि अनेकों आचार्यों ने बस्तिकर्म को "कृत्स्ना चिकित्सा" लिखा है (तस्माच्चिकित्सार्ध इति प्रदिष्टः कृत्स्नाचिकित्सापि च बस्तिरेकैः— वा. सू. १९–८७) तथापि वायु विकारों में यह विशेषरूप से उपयोगी है।

पाश्चात्य वैद्यक में मल–मार्ग से औषध, पोषक–पदार्थ या प्रक्षालनार्थ जलादि का प्रयोग करना "एनेमा" (Enema.) कहलाता है जो कृमिहर (Anthelmintic.) विसंक्रामक (Antiseptic.) उद्वेष्टन निरोधक (Antispasmodic.) अतिसारहर, आध्मानहर, (Blind enema.) मलहर (Cleaning enema.) स्नेहन (Lubricating) पोषक (Nutrient enema.) आदि भेद से कई प्रकार का होता है। सुश्रुत ने बस्ति के निम्न गुण बताए हैं :—

शरीरोपचयं वर्णबलमारोग्य मायुषः ।
करोतिपरिवृद्धिंच बस्तिः सम्यगुपासितः ।। चि. ३५ ।।

अर्थात्— सम्यक् प्रकार से प्रयुक्त की गई बस्ति शरीर, बल, वर्ण, आरोग्य और आयु की बृद्धि करती है।

संहिता ग्रन्थों में अनेकों बस्तिव्यापत्तियों का उल्लेख भी है और इन व्यापत्तियों का अतिसूक्ष्म तथा विस्तार से वर्णन किया गया है। सुश्रुत में (चि. ३५) विचलित, विवर्तित आदि छः 'नेत्र प्राणिधानदोषः' अति स्थूल, कर्कश आदि ग्यारह नेत्रदोष; बहलता, अल्पता आदि पांच बस्तिदोष; अतिपीडितता, शिथिल पीडितता आदि चार पीडनदोष; आमता, हीनता आदि ग्यारह द्रव्यदोष; अवाक्शीर्ष, उच्छीर्ष आदि सात शय्यादोष और अतियोगादि नौ दोष–ये त्रेपन (५३) वैद्यदोष तथा पन्द्रह आतुरनिमितज दोष एवं आठ वैद्यातुर निमितज दोष— इस प्रकार संक्षेप से अठत्तर बस्तिव्यापत्तियों का उल्लेख किया है (षट् सप्ततिः समासेन व्यापदः परिकीर्तिताः— सु. चि. ३५)

(१० ११) उत्तर बस्तियन्त्र-

गुदादुत्तरेण मार्गेणदीयत इत्युत्तर वस्तिः—— अरुणदत्त, वा. सू. १६

जब औषधतरल को मूत्रमार्ग द्वारा प्रयुक्त किया जाता है तो उसे उत्तर-बस्ति, कहते हैं। मूत्रमार्ग की भिन्नता के कारण स्त्री और पुरुष में भिन्न २ प्रकार के बस्ति-यन्त्र प्रयुक्त होते हैं। इनकी निर्माणप्रक्रिया बस्ति-यन्त्र सदृश ही होती है किन्तु ये आकार में अपेक्षाकृत छोटे हैं।

पुरुषों में प्रयुक्त होने वाले उत्तरवस्तियन्त्र के नेत्र की लम्बाई द्वादशांगुल (आतुरांगुल मान से) बताई है। यह गोल गोपुच्छाकार और कर्णिका रहित होता है। यह स्वर्णादि धातुओं का बनाया जाता है तथा श्लक्ष्ण होता है। इसमें सिद्धार्थक (सर्सों) सदृश छिद्र होता है और आकृति कुन्द, करवीर या मालती की कली सदृश होती है। सुश्रुत ने नेत्र की लम्बाई चौदह अंगुल बताई है (चतुर्दशांगुलं नेत्र मातुरांगुल सम्मितम्—— सु. चि. ३७)

स्त्रियों में प्रयुक्त की जाने वाली उत्तरबस्ति की लम्बाई दस अंगुल होती है (पुष्प नेत्र प्रमाणं तु प्रमदानां दशांगुलम्—— चरकः सि. ६–६५) और परिणाह इतना बड़ा होता है कि जिसके छिद्र में से मुद्गबीज निकल सके (मुद्गस्रोतोऽनुवाहि च—— च. चि. ६)

उत्तरबस्ति का उपयोग—

बस्तौ रोगेषु नारीणां योनिगर्भाशयेषु च— वा. सू. १६

वस्तिस्थाने रोगेषु नराणामित्यर्थाल्लभ्यते—— अरुणदत्तः।

अर्थात्— पुरुषों में बस्ति (मूत्राशय) तथा मूत्रप्रसेक (Urethra.) के बिकारों और स्त्रियों में योनि और गर्भाशय के विकारों को दूर करने के लिये प्रक्षालनार्थ अथवा औषध को अन्तः प्रविष्ट करने के लिये उत्तरबस्ति का प्रयोग होता है।

पुरुषों में उष्ण वात, गोनोमेह आदि से उत्पन्न व्रण आदि रोगों को दूर करने के लिये उत्तरबस्ति का प्रयोग किया जाता है। मूत्रावरोध होने पर (मूत्र कृच्छ्र विकारेषु— वा. सू. १६) इसका उपयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। स्त्रियों में अपत्यपथ से उत्तरबस्ति का (अपत्यमार्गे योज्यं स्यात्— वा. सू. १६) उपयोग किया जाता है। यद्यपि एतदर्थ योनि के अपावृत (खुला) होने से आर्तव काल उपयोगी होता है किन्तु आत्ययिक अवस्था (Emergency.) में, जैसे—— योनिविभ्रंश, योनिशूल, योनिव्यापत् और असृग्दर आदि में, किसी भी समय उत्तरबस्ति दी जा सकती है (अनृतावपि चात्यये। योनिविभ्रंश शूलेषु योनिव्यापद सृग्दरे—— वा. सू. १६–७८)

उत्तरनाड़ी या मूत्रनाडी (Catheter.) का आगे यन्त्रकर्मों में वर्णन किया गया है।

(१२–१३) मूत्रवृद्धि स्रावणयन्त्र और दकोदरयन्त्र—

व्रीहिमुखेनाङ्गुष्ठोदर प्रमाणमवगाढं विध्येत्। तत्र त्रप्वादीनामन्यतमस्य नाडीं द्विद्वारां पक्षनाडीं वा संयोज्य दोषोदकमवसिञ्चेत् —सु. चि. १४

अर्थात्—दोषोदक को निकालने के लिये व्रीहिमुख शस्त्र से अंगुष्ठोदर प्रमाण भेदन कर उसमें त्रपु (रांगा) आदि द्वारा निर्मित द्विमुखी नाडी को अथवा पक्षनाडी (पक्षियों के पंख के मूल की बनी हुई) को प्रविष्ट कर देते हैं।

जब किसी गुहा (Cavity) में तरल संचित हो, जैसे—मूत्रवृद्धि (Hydrocele), दकोदर (Ascites) आदि में, तो उसे निकालने के लिये इस यन्त्र का उपयोग होता है। मस्तिष्कसौषुम्निकतरल को निकालने के लिये भी लगभग इसी तरह के यन्त्र का प्रयोग किया जाता है।

यह यन्त्र दो भागों में विभक्त है। भेदनक्रिया करने वाला शस्त्र व्रीहिमुख (Trocar) कहलाता है जो नाडीयन्त्र (Cannula) के अन्दर इस प्रकार प्रविष्ट किया हुआ होता है कि इसका भेदकभाग नाडीयन्त्र से कुछ बाहर निकला रहता है। जब भेदनक्रिया सम्पन्न हो जाती है तो व्रीहिमुख को निकाल लेते हैं और तरलनिर्हरण के लिये नाडी वहीं लगी रहने दी जाती है (द्विद्वारानलिकापिच्छनलिकावोदकोदरे—वा. सू. २५) इस यन्त्र को 'ट्रोकार–केन्युला' (Trocar–Cannula) भी कहते हैं।

(१४–१५–१६) धूमनेत्र यन्त्र—

इस यन्त्र का उपयोग धूम्रपान (प्रायोगिक, स्नैहिक, वैरेचनिक) करने तथा व्रणधूपन के लिये होता है, अतः इन दोनों कार्यों के लिये भिन्न २ आकार के यन्त्रों को उपयोग में लाया जाता है।

धूम्रपान पांच प्रकार का होता है (१) प्रायोगिक (नित्य प्रयोगे साधुः प्रायोगिकः—ड.) (२) स्नैहिक (३) वैरेचनिक (४) कासघ्न और (५) वामनीय। इनके लिये प्रयुक्त यन्त्र की लम्बाई भी भिन्न २ प्रकार की होती है।

धूम्रपान में प्रयुक्त यन्त्रनेत्र लम्बा तथा नलिकाकार होता है जो मूल में अंगुष्ठपरिणाह और उसका अग्रभाग कनिष्ठिकापरिणाह होता है। मूल के अंगुष्ठपरिणाह छिद्र में विभिन्न द्रव्यों की सुषिर वर्ति को प्रविष्ट कर अंगार से प्रज्वलित कर देते हैं। प्रायोगिक धूम में यन्त्रनेत्र अठतालीस अंगुल लम्बा, स्नैहिक धूम में बत्तीस, वैरेचनिक धूम में चौबीस, कासघ्न और वामनीय धूम में सोलह अंगुल लम्बा होता है। चरक ने दूर से निकलने वाले धूम को नेत्रों को हानि न पहुंचाने वाला बताया है—च. सू. ५।

कासघ्न और वामनीय धूमयन्त्र प्रायोगिकादि से भिन्न प्रकार का होता है। इनकी आकृति "व्रणधूपन यन्त्र" के समान होती है जो इस प्रकार है—

"व्रणधूमं शरावसम्पुटोपनीतेन नेत्रेण व्रणमानयेत्। धूपनात् वेदनोपशमो व्रणवैशद्यमास्रावोपशमश्च भवति—सु. चि. ४०"

अर्थात्—दो शरावों (कसोरों) का सम्पुट बनाकर उसके अन्दर धूपन द्रव्यों को रख दिया जाता है तथा सम्पुट से धूपन नाडी का सम्बन्ध कर उसे आग पर रख देते हैं। इस प्रकार नाडी में से होकर जो धूम निकलता है उससे व्रण का धूपन करने से वेदना शमन, विमलता और स्रावरोध हो जाता है। पूर्ववर्णित "व्रणयन्त्र" का उपयोग व्रणप्रक्षालन में होता है।

पूर्वकथित सम्पूर्ण वर्णन से यह स्पष्ट है कि आयुर्वेदचिकित्सापद्धति में "धूमनेत्र यन्त्र" का उपयोग मुख या नासा (नासिकया वैरेचनिकम्—सु. चि. ४०) से धूम्रपान करने के लिये तथा व्रणधूपन के लिये होता है। वाष्प, गैस या औषधद्रव्यों का नासारन्ध्रों से (औषध मौषधसिद्धो वा स्नेहो नासिकाभ्यां—द्विवचनं पुटयुग्मापेक्षया—ड.; दीयत इति नस्यम्—सु. चि. ४०) सूंघना 'इनहेलेशन' (Inhalation) भी कहलाता है और यन्त्र को इनहेलर (Inhaler) कहते हैं।

गले के उपदंश (Syphilis) को दूर करने के लिये कैलोमल को जलाकर सुंघाना कभी २ उपयोगी होता है। इसी प्रकार श्वसनक्रिया की अवसादन (Depression) अवस्था में 'प्राणवायु' (Oxygen) को सुंघाते हैं तथा श्वासरोग के उद्वेष्टनक (Spasmodic) आक्रमणों को रोकने के लिये स्ट्रेमोनियम (Stramonium) सुंघाया जाता है।

पाश्चात्य वैद्यक में व्रणचिकित्सा के लिये धूपन का महत्व नहीं है किन्तु व्रणितागार या संक्रमणयुक्त भवनों के विसंक्रमण (Disinfection) के लिये कृमिघ्न धूपों को उपयोग में लाया जाता है। धूम का इस प्रकार उपयोग 'फ्यूमीगेशन' (Fumigation) कहलाता है। एतदर्थ गन्धक या फारमलडिहाइड को जलाते हैं।

(१७) निरुद्धप्रकश यन्त्र —

निरुद्धप्रकश नामक रोग पुरुषजननेन्द्रिय का है जिसका वर्णन "शल्यामय विमर्श" में किया जावेगा। इसमें शिश्नाग्रचर्म (Prepuce) अणुमुख होने से परावर्तित नहीं होता है। इस विकार में स्रोतोविस्तार के लिये 'निरुद्ध प्रकश यन्त्र' का उपयोग किया जाता है।

यह यन्त्र द्विमुखी नाडी के आकार का होता है जिसे घृताभ्यक्त कर मूत्रद्वार में प्रविष्ट करते हैं। यह लोह, काष्ठ या जतु (लाख) का बना होता है। चक्रदत्त ने स्वर्ण का भी उल्लेख किया है (द्विमुखीं कनकादिजाम्—च. द.) प्रति तीसरे दिन अपेक्षाकृत बड़े आकार की नाडी प्रविष्ट की जाती है और मूत्रद्वार को क्रमशः बड़ा करते हैं (स्रोतो विवर्धयत्येवम्—सु.)

इस कार्य में प्रयुक्त यन्त्र मूत्रप्रसेक प्रसारक (Urethral dilator) भी कहलाते हैं। इन्हें बूजी (Bougie) या संकिरणशलाका भी कहते हैं तथा ये भिन्न २ आकार (Size) की होती हैं।

(१८) सन्निरुद्ध गुद यन्त्र—

सन्निरुद्धगुद वह अवस्था है जिसमें गुदमार्ग में व्रण होने के बाद हुये रोहण से मार्ग संकुचित हो जाता है और रोगी को मलत्याग करने में कष्ट होता है। यह अवस्था 'स्ट्रिक्चर आव् रेक्टम' (Stricture of rectum) भी कहलाती है।

यह यन्त्र निरुद्धप्रकशयन्त्र की तरह ही होता है और उसी प्रकार प्रयुक्त भी किया जाता है (सन्निरुद्धगुदेयोज्या निरुद्धप्रकशक्रिया-सु. चि. २१)

(१९) अलाबू यन्त्र—

स्याद् द्वादशांगुलोऽलाबुर्नाहि त्वष्टादशांगुलः।
चतुस्त्र्यङ्गुल वृत्तास्यो दीप्तोन्तः श्लेष्मरक्तहृत् ॥ वा. सू. २५ ॥

अर्थात्—बारह अंगुल लम्बा, अठारह अंगुल गोल और तीन-चार अंगुल व्यास (Circumference) वाला अलाबू यन्त्र होता है। इसमें एक ही मुख होता है और यह अन्दर से सुषिर होता है। इसका उपयोग श्लेष्म-दूषित रुधिर को निकालने के लिये होता है। इसका विस्तृत वर्णन पृष्ठ ७७ पर किया जा चुका है।

(२०) शृंग यन्त्र—

त्र्यङ्गुलास्यं भवेत्शृङ्गं चूषणेऽष्टादशांगुलम्।
अग्रे सिद्धार्थकच्छिद्रं सुनद्धं चूचुकाकृति ॥ वा. सू. २५ ॥

अर्थात्—शृंग यन्त्र का दैर्घ्य अठारह अंगुल और उसका पीडित स्थान पर लगाया जाने वाला भाग तीन अंगुल होता है। उसके अग्रभाग (यः प्रदेश श्चूषणाय शरीरे योज्यते तदग्रम्—अरुणदत्तः) में सरसों के दाने बराबर छिद्र होता है जहां से आचूषण क्रिया की जाती है तथा अग्रभाग की आकृति कुचाग्र सदृश होती है।

आरम्भ में शृंग यन्त्र को प्रच्छित स्थान पर लगाकर मुखद्वारा

आचूषण करना होता था किन्तु सम्प्रति एतदर्थ आचूषण बॉल (Suction Ball) व्यवहार में लाये जाते हैं।

अधिकतर गोशृंग ही एतदर्थ प्रयुक्त किया जाता है—सु.। कर्ण स्थित मलादि को और कीटादि आगन्तुज शल्य को निकालने के लिये भी शृंग का उपयोग बताया है (कर्णच्छिद्रे वर्तमानं कीटंक्लेदमलादिकम्। शृंगेणापहरे-द्धीमान्—सु. उ. २१) इसका विस्तृत वर्णन पृष्ठ ६८ पर किया गया है।

नाडी यन्त्रों की संख्या सुश्रुतमतानुसार बीस है जिनका मुख्य रूप से अब तक वर्णन किया है, किन्तु वाग्भट ने इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विशिष्ट तथा उपयोगी यन्त्रों का वर्णन भी किया है जो इस प्रकार है—

(i) कण्ठशल्यावलोकनी नाडी—

दशाङ्गुलार्धनाहान्तःकण्ठशल्यावलोकने।
नाडी ... ... वा. सू. २५॥

अर्थात्—कण्ठ के आभ्यन्तर फंसे हुये आगन्तुज शल्य की स्थिति, आकार आदि को जानने के लिये पंचागुल परिणाह वाली नाडी का उपयोग होता है।

इस यन्त्र का उपयोग जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है, अस्थि आदि शल्य के गले में फंस जाने से उसका निरीक्षण करने के लिये होता है (अस्थिशल्य मन्यद्वा तिर्यक्कण्ठासक्त मवेक्ष्य—सु. सू. २७) इसके कार्य को देखते हुये यह एक प्रकार का 'थ्रोट स्पेकुलम' (Throat Speculum) है किन्तु अन्न-नलिका (Oesophagus) में अवरुद्ध हुये अस्थिशल्य की स्थिति जानने के लिये भी इस को दर्शनार्थ प्रयुक्त करने का उल्लेख है जिससे इसे इसोफेजियल स्पेकुलम (Oesophageal Speculum) या "इसोफेगस्कोप" (Oesophagoscope) भी कह सकते हैं।

इसी प्रसंग में वाग्भट ने चतुष्कर्ण तथा द्विकर्ण वारंग (तत्र शरादि दण्डप्रवेशः शिखाकारः कीलको वारङ्ग उच्यते—अरुणदत्त, वा. सू. २५-१४) को देखने के लिये 'पञ्चच्छिद्रा' और 'त्रिच्छिद्रा' नाडी* का उल्लेख भी किया है जो 'इसोफेजियल स्पेकुलम' ही प्रतीत होते हैं।

वारङ्ग तथा शल्यकर्णों के दैर्घ्य और आनाह (परिणाह) के अनुसार नाडी की कल्पना का उल्लेख भी है—वा. सू. २५।

*पञ्चमुखच्छिद्रा चतुष्कर्णस्य संग्रहे। वारङ्गस्य द्विकर्णस्य त्रिच्छिद्रा तत्प्रमाणतः—वा. सू. २५।

(ii) शल्य निर्घातिनी नाडी —

पद्मकर्णिकया मूर्ध्नि सदृशी द्वादशांगुला ।
चतुर्थसुषिरा नाडी शल्यनिर्घातिनी मता ।। वा. सू. २५ ।।

अर्थात्— शल्यनिर्घातिनी वह नाडी कहलाती है जिसका शिरोभाग पद्मकर्णिका सदृश, नाडी की लम्बाई बारह अंगुल तथा चतुर्थांश सुषिर होता है।

निर्घातन का अर्थ शल्य को इधर–उधर चलाना है (मुद्गराद्यभिघातेनेत स्तत श्चालनं निर्घातनम्— हाराणचन्द्रः) अतः निर्घातिनी नाडी का उपयोग भी ऐसे शल्य को ढीला करना है जो अस्थि आदि में दृढता पूर्वक फंसा होता है। नाडी के सुषिर भाग में शल्य को फंसा कर ढीला करने की दृष्टि से उसे इधर–उधर चलाते हैं।

(iii) अङ्गुलीत्राणक —

अङ्गुलीत्राणकं दान्तं वार्क्षं वा चतुरङ्गुलम् ।
द्विच्छिद्रं गोस्तनाकारं तद्वक्त्रविवृतौ सुखम् ।। वा. सू. २५ ।।

अर्थात्— अर्शो यन्त्र सदृश गोस्तनाकार, दो छिद्र वाला, चार अंगुल लम्बा तथा दन्त, काष्ठादि का बना हुआ यन्त्र 'अंगुली त्राणक' कहलाता है।

इसका उपयोग मुख को खोलने अथवा हनुसन्धिमुक्त में अंगुलियों की रक्षा के लिये होता है (तच्च वक्त्रस्य विवृतौ प्रसारणे, अंगुलै र्दन्तेभ्योरक्षणार्थत्वादंगुलीत्राणमिति नाम— अरुणदत्तः) यह 'फिंगर गार्ड' (Finger-guard.) भी कहलाता है।

(iv) योनिव्रणेक्षण यन्त्र —

योनिव्रणेक्षणं मध्ये सुषिरं षोडशांगुलम् ।
मुद्राबद्धं चतुर्भित्त मम्भोज मुकुलाननम् ।।
चतुःशलाकमाक्रान्तं मूले तद्विकसेन्मुखे ।। वा. सू. २५ ।।

अर्थात्— योनि (Vagina.) के आभ्यन्तर भाग में स्थित व्रणादि को देखने के लिये जो यन्त्र प्रयुक्त होता है वह मध्य से सुषिर लम्बाई में सोलह अंगुल, चार भित्ति वाला, देखने में कमल मुकुल (कली) सदृश, मूल में पञ्चशलाका युक्त और मुद्रिका से बद्ध (चत्वारिं खण्डानि तथा कार्याणि यथा मुद्रिकया बद्धानि मिलितानि च पद्म मुकुलाकारमुखा— वाग्भट कौमुदी) होता है। यदि मूल में लगी शलाकाओं को दबाया जाता है तो (मूलेशलाकाक्रमण न्मुखे विकसेत् प्रसरेत्— अरुणदत्तः) यन्त्र का अग्रभाग विकसित हो जाता है।

इस यन्त्र के अग्रभाग को मुकुलाकार बनाने का उद्देश्य यह है कि वह योनिमार्ग में सुविधा पूर्वक प्रविष्ट हो सके । जब मूल शलाकाओं को वलय के सहारे दबाया जाता है तो योनि में प्रविष्ट मुकुलाकार भाग विस्तृत हो जाता है तथा इस प्रकार योनि के आभ्यन्तर भाग को सुविधा पूर्वक देखा जा सकता है और पिचु आदि को योनि के भीतर रखने में भी आसानी होती है ।

योनि के आभ्यन्तर व्रण आदि को देखने के लिये जो यन्त्र आजकल प्रयुक्त होते हैं वे 'व्हजायनल स्पेक्युलम' (Vaginal speculum.) कहलाते हैं और अनेक आकार-प्रकार के होते हैं । अधिकतर व्यवहार में लाए जाने वाले योनिदर्शक (व्हजायनल स्पेक्युलम) यन्त्र 'सिम्स स्पेकुलम' 'फर्गुसन्स स्पेकुलम, और 'बाइवाल्व स्पेकुलम' (Bivalve speculum.) हैं । 'एलिंघम' (Alingham.) का 'योनिदर्शक' चतुर्भित्ति होता है जिसकी वाग्भटोक्त योनिव्रणेक्षण यन्त्र से समानता है ।

(v) घ्राणार्बुदार्शो यन्त्र —

घ्राणार्बुदार्शसा मेकच्छिद्रा नाडचङ्गुलद्वया ।
प्रदेशिनी परिणाहा स्याद्भगन्दर यन्त्रवत् ।। वा. सू. २५ ।।

अर्थात् – नासा में होने वाले अर्बुद (Nasal tumour.) और अर्श (Nasal polypus.) को देखने के लिये तथा शस्त्रादि के प्रयोग की सुविधा के लिये जो नाडी प्रयुक्त होती है वह एक छिद्र, दो अंगुल लम्बी, प्रदेशिनी अंगुली के बराबर मोटी (परिणाह) तथा भगन्दर के यन्त्र सदृश होती है ।

यह 'नेजल स्पेकुलम' (Nasal speculum.) भी कहलाता है । इसके मुकुलाकार अग्रभाग को नासारन्ध्र में प्रविष्ट करने के उपरान्त दोनों वृन्तों को एक दूसरे की ओर दबाते हैं जिससे अन्दर प्रविष्ट हुआ भाग नासा को विस्तृत कर देता है । इस प्रकार नासा के आभ्यन्तर भाग को भली भान्ति देखा जा सकता है और औषध आदि का प्रयोग भी सुविधा पूर्वक किया जा सकता है । ये कई प्रकार के होते हैं, जैसे-- Killian's nasal speculum. Kramer's nasal speculum आदि २ ।

संहिताकारों के मत के अनुसार तथा तत्कालीन आवश्यकताओं को देखते हुए नाडी यन्त्रों का यह संक्षिप्त वर्णन है । किन्तु वर्तमान काल में मानव बुद्धि के विकास के साथ २ ऊपर वर्णित नाडी यन्त्रों के आकार-प्रकार में अनेक सुधार हुए हैं तथा सुश्रुत के इस कथन के अनुसार कि 'अनेक प्रकाराणि-अनेक प्रयोजनानि' अनेकों नवीन नाडी यन्त्र वर्तमान शल्य कर्मों में प्रयुक्त होते

हैं; जैसे— आहार नाडी (Feeding tube.) श्वसन नाडी (Tracheotomy tube) सूचीवेध नाडी (Injection syringe) आमाशय नाडी (Stomach tube.) आदि २। इनका वर्णन यन्त्र-कर्म के प्रसंग में किया गया है।

(ङ) शलाका यन्त्र–

> शलाकाख्यानि यन्त्राणि नानाकर्माऽऽकृतीनिच।
> यथायोगप्रमाणानि ... ... वा. सू. २५॥

अर्थात्–– शलाका नामक यन्त्र अनेक कर्म करने वाले, नाना प्रकार की आकृति वाले और कई तरह के प्रमाण के होते हैं।

ये यन्त्र जैसा कि नाम से स्पष्ट है, आकार में शलाका सदृश होते हैं और इनका आभ्यन्तर भाग नाडी यन्त्रों की तरह सुषिर नहीं होता है। सुश्रुत ने अट्ठाईस प्रकार के शलाका यन्त्रों का उल्लेख किया है जिनका वर्णन इस प्रकार है :—

(१) गण्डूपदमुखी शलाका— इसका अग्रभाग लम्बाई लिये हुए गोल होता है— यह बताने के लिये इसकी तुलना केंचुए के शिरोभाग से की है। इसके वक्ष्यमाण कर्म को देखते हुए इस शलाका के अग्रभाग का कुण्ठित (Blunt.) होना आवश्यक है। ये संख्या में दो होती हैं।

इसका कार्य एषण अर्थात् पूयमार्गों की स्थिति जानना है (एषणं-गम्भीर पाकादौ पूयाद्यन्वेषणम्— उ.) तथा आगन्तुज शल्य की स्थिति का पता लगाना है। एतदर्थ इस शलाका को पूय मार्ग में प्रविष्ट कर इधर–उधर चलाते हैं जिससे मार्ग का सीधा या तिरछा पन और उसकी गहराई का पता चल जाता है। भगन्दर, नाडीव्रण आदि में एषणी के नाम से इसके उपयोग का वर्णन है (अथोष्ट्रग्रीव मेषित्वा— सु. चि. ८; मृदूकृता मेष्यगतिम्— सु. चि. १७) यह इस प्रकार की धातु की बनी होती है कि दबाने पर नम जाती है जिससे आवश्यकतानुसार इसे मोडा जा सके। यह'ब्लन्ट प्रोब' (Blunt probe.) भी कहलाती है और अनेक प्रकार की होती है, जैसे –Bullet probe, (बन्दूक की गोली का पता लगाने वाली शलाका) Ear probe, Nasal probe, Rectal probe, urethral probe और Uterine probe आदि २।

(२) सर्पफणमुखी शलाका— इसकी आकृति सांप के फण के सदृश होती है। ये दो प्रकार की होती है––१६ अंगुल लंबी और १२ अंगुल लंबी।

इनका कार्य व्यूहन (चूर्णित-अश्मर्यादीनां संग्रहणम्— हाराणचन्द्रः;

ऊर्ध्वीकरणं छित्वा उत्तुण्डितस्य उद्धरणार्थम्— ड.) बताया है; अर्थात्— अश्मरी आदि के चूर्णित भाग को संग्रहीत कर निकालना अथवा व्रणौष्ठों आदि को पृथक् करना या समीप में लाना आदि में यह शलाका प्रयुक्त होती है।

लगभग इसी तरह की क्रिया करने वाले यन्त्र आजकल 'रिट्रेक्टर्स' (Retractors.) कहलाते हैं जो कई प्रकार के होते हैं और कई तरह के कार्यों में प्रयुक्त होतेहैं; जैसे-- Abdominal retractor, Nerve retractor, Periosteal retractor आदि ।

(३) शरपुङ्खमुखी शलाका-- यह शलाका दो प्रकार की–दस और बारह अंगुल लम्बी– होती है तथा इसका आकार शर (वाण) के पृष्ठ भाग के सदृश होता है।

ये दोनों शलाकाएं शल्य को चलाने के काम आती हैं (चालने शरपुंखास्यौ— वा. सू. २५)

यह भी 'रिट्रेक्टर्स' का ही रूप प्रतीत होती है।

(४) बडिशमुख शलाका-- (बडिशं मत्स्य बन्धनम्— ड.) यह आगे से मुडी हुई शलाका है जिसे आंग्ल भाषा में 'हुक' = (Hook.) कहते हैं।

यह दो प्रकार की (आहार्ये बडिशाकृती—वा. सू. २५) होती है— (क) कुण्ठित बडिश (Blund hook.) इसका प्रयोग नितम्बोदय (Breech presentation.) आदि मूढगर्भ में गर्भ को बाहर निकालने के लिये होता है (शिरः कपालानि–आहृत्य शङ्कुना आकुंचिताग्रेण वडिशविशेषेण —ड; गृहीत्वा— सु. चि. १५) (ख) दूसरे प्रकार के वडिश का प्रयोग नेत्र विकारों में होता है और 'स्क्विन्ट हुक' = (Squint hook.) कहलाता है सुश्रुत ने अर्म चिकित्सा नें बडिश द्वारा पकड़ने को लिखा है (अपांगं प्रेक्ष्यमाणस्य वडिशेन समाहितः— सु. उ. १५–३)

वाग्भट ने सर्पफण मुखी दो, शरपुंखमुखी दो और दो प्रकार की बडिशमुखी शलाकाओं का छः प्रकार के शङ्कुओं (शङ्कवः खट्— वा. सू. २५) में परिगणन किया है।

(५) मसूरदल* मात्रमुख शलाका-- यह शलाका दो प्रकार की होती है— (क) अष्टांगुल और (ख) नवांगुल । इनका अग्रभाग मसूर के आधे बीज के सदृश होता है (मसूरदलवक्त्रेद्वे-- वा. सू. २५) और आगे से ये कुछ झुकी हुई होती हैं (किंचिदानताग्रे— सु. सू. ७)

---

*मसूरस्य दलितस्य निस्तुषस्य खण्डं दल मित्युच्यते--डल्लणः ।

इन शलाकाओं का उपयोग कर्णादि स्रोतों में फंसे शल्य को निकालने के लिये होता है (स्रोतोभ्यः शल्यहारिणी – वा. सू. २५)

आजकल कर्ण, नासा, गल आदि में अवरुद्ध शल्यों को निकालने के लिये भिन्न २ प्रकार के यन्त्र उपलब्ध होते हैं; जैसे— Ear scoop, Renal scoop. आदि।

(६) कार्पासकृतोष्णीष* शलाका— (तूल वेष्टिताग्राणि— ड.) ये छः प्रकार की गोल तथा लम्बी शलाकाएं हैं जिनके अग्रभाग में कपास लगी होती है। ये 'स्वाब' (Swab) भी कहलाती हैं।

इनका उपयोग क्षार आदि को पोंछना, व्रणस्राव को स्वच्छ करना, कर्ण-पूय को निकालना तथा नासार्बुदों में लगी औषध को साफ करना आदि में होता है (प्रमार्जनक्रियासु— सु. सू. ७; प्रोञ्छनक्रियासु— ड.) कम गहरे स्थानों पर प्रयुक्त होने वाली दो शलाकाएं दस अंगुल और दूर के स्थानों में बारह अंगुल लम्बी दो शलाकाएं प्रयुक्त होती हैं। छः और सात अंगुल लम्बी दो शलाकाएं नासा में और आठ तथा नौ अंगुल लम्बी दो शलाकाएं कर्ण रोगों में प्रमार्जन के लिये प्रयोग में लाई जाती हैं।

(७) खल्लमुखी शलाका— (दर्व्याकृतीनि खल्लमुखानि— सु.) इन शलाकाओं का अग्रभाग कड़छी की अथवा औषधमर्दन में प्रयुक्त खरल की तरह गहरा (खल्लमुखानि निम्नमुखानि— ड.) होता है। अष्टांग संग्रहकार ने तीनों शलाकाओं की गहराई का परिमाण क्रमशः कनिष्ठिका, अनामिका और मध्यमा अंगुली के नाखून की तरह बताया है।

तीन प्रकार की खल्लमुखी शलाकाओं का प्रयोग क्षारादि औषधियों को उपयोग में लाने के लिये होता है (क्षारौषधप्रणिधानार्थम्— सु.) पाश्चात्य वैद्यक में प्रयुक्त शलाका यन्त्रों में से इन शलाकाओं की समता 'स्पून' (Spoon) से होती है।

(८) जाम्बववदन शलाका— (जम्बुफल मुखाकृतीनि— ड.) जैसा कि नाम से स्पष्ट है इसका अग्रभाग लम्बाई लिये हुए गोल जामुन की तरह होता है। यह तीन प्रकार की होती है— स्थूल, अणु और दीर्घ (युञ्ज्यात्-स्थूलाणुदीर्घानाम्— वा. सू.)

इनका उपयोग भगन्दरादि के पूयमार्गों का दहन करने के लिये होता है (जाम्बवौष्ठेनाग्निवर्णेन तप्तया वा शलाकया— सु. चि. ८–३३)

---

*कार्पासेन कृतं विहितं उष्णीषं शिरोवेष्टनमिव यासां ता स्तथोक्ताः— डल्लणः।

(९) अंकुश वदन शलाका— इसकी आकृति अंकुश की तरह होती है तथा उपयोग अग्निकर्म करना है। इस प्रकार की तीन शलाकाओं का वर्णन है (त्रीण्येतानि अग्निकर्मसु अभिप्रेतानि—सु. सू.)

(१०) नासार्बुदहरण शलाका— (कोलास्थिदलतुल्यास्या नासाऽर्शोऽर्बुद दाहकृत्— वा. सू. २५) इस शलाका का अग्रभाग मध्य से गहरा (खल्लतीक्ष्णोष्ठमिति खल्लं निम्नं मध्ये बोधव्यम्, तीक्ष्णोष्ठं तु अन्ते— ड.) और किनारों से ऊंचा होता है तथा परिणाह बेर की गुठली के अर्धभाग सदृश (बदरास्थि खण्ड सदृशम्— अरुणदत्तः) बताया गया है।

इस शलाका का उपयोग नासार्श तथा अर्बुद को अग्नि द्वारा नष्ट करना है। इसे अग्निसंतप्त कर अर्श और अर्बुद का दाह किया जाता है। इसके द्वारा दहन क्रिया होने से इसे 'नेज़ल क्यूरेटी' = (Nasal curette) भी कहते हैं।

(११) अञ्जन शलाका— (कलाय परिमण्डल मुभयतो मुकुलाग्रम्—सु.) मल्लिकादि पुष्पों की कली के आकार वाली तथा अग्रभाग से कलाय (मटर) की तरह की गोल शलाका 'अंजन शलाका' कहलाती है। इसकी लम्बाई आठ अंगुल तथा यह मध्य से पतली (तनु) होती है। यह कर्कशादि दोषों से रहित (सुकृता) और इस प्रकार की बनी होनी चाहिये जिससे पकड़ने में भी सुविधा हो (सुग्रहा)

अञ्जन शलाका सुवर्ण, रजत, शृंग, ताम्र आदि पदार्थों की बनी होती है। भावमिश्र के अनुसार लेखनांजनों में ताम्र, लोह और पाषाणमयी, स्नेहांजनों में सुवर्ण और रजतमयी तथा रोपणांजनों में मृदु होने से केवल अंगुली का ही प्रयोग होता है*।

इस शलाका का उपयोग नेत्ररोगचिकित्सा में अंजन लगाने के लिये होता है।

सुश्रुत ने श्लैष्मिक लिंगनाश की शस्त्र चिकित्सा के प्रसंग में यववक्त्रा शलाका का भी उल्लेख किया है। एतदर्थ वह शलाका उत्तम बताई गई है जो आठ अंगुल लम्बी, बीच में से सूत्र लिपटी हुई (जिससे फिसल न जाय) अंगुष्ठ पर्व सदृश स्थूल और दोनों ओर से मुकुलाकृति हो। कर्कश, खरा और विशाला शलाका निंदित होती है।

---

*ताम्र लोहाश्म सञ्जाता शलाका लेखनेमता।
सुवर्ण रजतोद्भूता स्नेहने समुदाहृता॥
अंगुली च मृदुत्वेन रोपणे सम्प्रयुज्यते॥ भावमिश्रः॥

(१२) मूत्रमार्ग विशोधनी शलाका—– इस शलाका का उपयोग मूत्र-मार्ग (Urethra.) के विशोधन के लिये होता है। मूत्रमार्ग के संक्रमण-ग्रस्त होने पर व्रण उत्पन्न हो जाते हैं। व्रणों का रोहण होने पर जो क्षतांक (Scar.) बनता है उससे मार्ग संकुचित हो जाता है। इस संकोच को दूर करने तथा मूत्रमार्ग को विस्तृत करने के लिये मूत्रमार्ग विशोधनी शलाका का उपयोग होता है।

इस प्रकार की शलाकाएं 'यूरेथ्रल साउन्ड' (Urethral sound.) या 'यूरेथ्रल बूजी' (Urethral bougie) भी कहलाती हैं।

'साउन्ड' नामक यन्त्र शरीर की किसी गुहा (Cavity.) या नलिका (Canal) में उपस्थित संकोच (Constriction.) या आगन्तुज पदार्थ (Foreign body.) की उपस्थिति को जानने के लिये अथवा चिकित्सा के लिये प्रयोग में लाए जाते हैं। यद्यपि ये Oesophageal sound, Lacrimal sound और Uterine sound आदि कई प्रकार के होते हैं किन्तु यहां Urethral sound से अभिप्राय है जो मूत्र-प्रसेक के प्रसार या परीक्षण के लिये प्रयुक्त होता है।

'बूजी' नामक यन्त्र शरीर के मल मूत्रादि मार्गों में प्रविष्ट किये जाते हैं जो ऋजु, वक्र आदि कई तरह के होते हैं। 'बूजी' का विशेषकर उपयोग पुरुषमूत्रप्रसेक को विस्तृत करने के लिये तथा अन्य प्रकार की जानकारी प्राप्त करने के लिये होता है। ये भी कई प्रकार के होते हैं— Armed bougie, Dilating bougie, Elastic bougie, Filiform bougie, Fusiform bougie, Bax bougie आदि किन्तु यहां Dilating bougie से अभिप्राय है जिसको मूत्र प्रसेक निरुद्धता (Urethral stricture) को विस्तृत करने के लिये प्रयुक्त करते हैं।

अन्तः सुषिर मूत्रविशोधन शलाका का परिगणन नाडी यन्त्रों में किया गया है। इस प्रकार की शलाकाएं "मूत्र नाडियां" (Catheters.) कहलाती हैं।

इन शलाका यन्त्रों के अतिरिक्त वाग्भट ने कुछ अन्य शलाका यन्त्रों का वर्णन भी किया है जो इस प्रकार है :—

(१) गर्भशङ्कु— यद्यपि सुश्रुत ने मूढ गर्भ चिकित्सा में शिशु के शिरोभेदन के बाद शंकु का प्रयोग कर गर्भ को बाहर निकालने का वर्णन किया है (शिरोविदार्य शिरः कपालान्यपहृत्य शङ्कुना गृहीत्वा–सु. चि. १५) किन्तु यन्त्र वर्णन प्रसंग में इसका उल्लेख नहीं है। वाग्भट ने गर्भशंकुयन्त्र

का वर्णन इस प्रकार किया है :—

नतोऽग्रेशङ्कुना तुल्यो गर्भशङ्कुरिति स्मृतः ।
अष्टांगुलायतस्तेन मूढगर्भं हरेत् स्त्रियाः ॥ वा. सू. २५ ॥

अर्थात्— आकार में शंकु के सदृश, आगे से मुड़ी हुई और आठ अंगुल लम्बी शलाका "गर्भशङ्कु" कहलाती है जो स्त्री के मूढगर्भ को निकालने के उपयोग में आती है ।

पाश्चात्यवैद्यक में इस प्रकार का यन्त्र 'ब्लंट हुक एन्ड क्रोचेट' = (Blunt hook and crotchet.) कहलाता है ।

(२) सर्पफण वक्र शलाका—- यद्यपि 'सर्पफण मुखी शलाका' नामक शलाकायन्त्र का वर्णन सुश्रुत ने भी किया है किन्तु कार्यभेद से वाग्भटोक्त "सर्पफण वक्र शलाका" का पृथक् महत्व है । इसका अग्रभाग सर्पफण की तरह झुका हुआ और चपटा होता है (सर्पफणावद् वक्र मग्रतः— वा.)

इसका कार्य मूत्राशयभेदन के उपरान्त अश्मरी को इससे पकड़ कर निकालना है (अश्मर्या हरणे-- वा.; तस्मात्समग्रामग्रवक्रेणाददीत-- सु. चि.) अश्मरीहरण शलाका 'लिथोटोमी स्कूप = (Lithotomy scoop.) भी कहलाती है ।

(३) शरपुङ्खमुख शलाका— सुश्रुतोक्त शरपुंख-मुख नामक शलाका-यन्त्र का "चालन" कर्म बताया गया है किन्तु यह शलाका हिलते हुए दांतों और कृमिभक्षित दांतों को निकालने के लिये प्रयुक्त होती है । इसकी लम्बाई चार अंगुल बताई गई है (शरपुङ्ख मुखं दन्तपातने चतुरंगुलम्— वा.; अनेन हि दन्ता श्चलन्तः पात्यन्ते कृम्यादिभक्षिता वा— अरुणदत्तः)

यह आजकल 'टूथ एलीवेटर' = (Tooth elevator.) भी कहलाता है ।

(४) कर्ण शोधन यन्त्र— सुश्रुत ने कर्ण कुहर में प्रविष्ट कीटादि आगन्तुज शल्य को निकालने के लिये शृंग या शलाका के उपयोग का निर्देश दिया है (शृंगेणाप हरेद्धीमानथवापि शलाकया— सु. ३–२१) चक्रदत्त ने शलाका से कर्णगूथ को निकालने से पूर्व उसे तैल तथा स्वेदन से पिघला लेने का उल्लेख किया है (तैलेन स्वेदेन प्रविलाय्य च— चक्रदत्तः) वाग्भट द्वारा वर्णित इस कर्ण शोधन यन्त्र का अग्रभाग स्रुवे की तरह तथा प्रान्त भाग अश्वत्थ पत्र सदृश होता है (कर्णशोधन मश्वत्थ पत्रप्रान्तं स्रुवाननम्— वा. सु. २५)

इस यन्त्र के कर्म और आकार को देखते हुए इसे आंग्ल भाषा में

'इयरस्कूप' = (Ear scoop) कह सकते हैं। कर्ण शोधन में प्रयुक्त नाड़ी (Ear syringe) का वर्णन "यन्त्रकर्म" में किया गया है।

(५) अर्धेन्दुमुखी शलाका—सुश्रुत ने इस शलाका का उपयोग अंत्रवृद्धि में दहन बताया है (तत्र या वंक्षणस्था तां दहेदर्धेन्दु वक्त्रया—सु. चि. १९) तथा इसकी आकृति अर्धेन्दु सदृश होती है (मध्योर्ध्व वृत्तदण्डां च मूले चार्धेन्दु सन्निभाम्—वा. सू. २५) किन्तु यन्त्र वर्णन काल में इस शलाका का परिगणन नहीं किया है।

यन्त्र कर्म

स्वबुद्ध्या चापि विभजेद्यन्त्रकर्माणि बुद्धिमान्।
असंख्येय विकल्पत्वाच्छल्यानामिति निश्चयः ॥ सु. सू. ७ ॥

अर्थात्—शल्य असंख्य प्रकार के होते हैं अतः यन्त्रों के कर्मों की संख्या भी निश्चित नहीं की जा सकती है। अतः शल्य चिकित्सक को अपनी बुद्धि के अनुसार यन्त्रकर्मों का विभाजन (कल्पना) करना चाहिये।

इस प्रकार यद्यपि यन्त्र कर्म असंख्य होते हैं तथापि कार्य के आधार पर इनके मुख्य रूप से दो प्रकार वर्णित हैं--(१) विशिष्ट और (२) सामान्य।

(१) यन्त्रों के विशिष्ट कर्म इस प्रकार हैं—

(i) तद्यन्त्रं यच्चदर्शने—वा. सू. २५।

अर्थात्—रोग का स्थान, आकृति आदि जानने के लिये यन्त्रों का, विशेषतः नाडी यन्त्रों का प्रमुख रूप से उपयोग होता है; जैसे—आभ्यन्तर अर्श को देखने के लिये अर्शोयन्त्र का प्रयोग किया जाता है (रोगदर्शनार्थमिति रोगाः आभ्यन्तरार्शः प्रभृतयः—डल्लणः) रोगदर्शन में प्रयुक्त यन्त्र आज कल 'स्पेक्युलम = Speculum' कहलाते हैं*।

(ii) क्रिया सौकर्यार्थंचेति—सु. सू. ७।

अर्थात्—यन्त्रों की सहायता से क्षारादि के प्रयोग में सुविधा होती है। अर्शोयन्त्र, भगन्दर यन्त्र आदि का क्रियासौकर्य के लिये भी प्रयोग होता है (क्रिया सौकर्यमिति आभ्यन्तरार्शः प्रभृतिषु शस्त्रक्षाराग्निक्रियासुकरत्वाय

*रोगदर्शनार्थ प्रयुक्त जिन यन्त्रों में प्रकाश का प्रबन्ध नहीं होता है वे 'स्पेक्युलम' कहलाते हैं, जैसे—Vaginal speculum. Rectal speculum. Ear speculum आदि और जिनमें प्रकाश का प्रबन्ध होता है वे स्कोप (Scope) कहलाते हैं, जैसे—Auroscope. Cysto scope. Rectoscope आदि।

सुखकारणाय इत्यर्थः—डल्लणः) इनके प्रयोग से स्वस्थ धातुओं को क्षति नहीं पहुंचती है और शस्त्रादि को प्रयुक्त करने में सुविधा होती है। पाश्चात्य शल्य शास्त्र में एतदर्थ प्रयुक्त यन्त्र 'स्पेक्युलम'; 'डायरेक्टर' (Director) जैसे—हर्निया डायरेक्टर; रिट्रेक्टर (Retractor); जैसे—आई लिड-रिट्रेक्टर और होल्डर (Holder) जैसे—नीडल होल्डर आदि कहलाते हैं।

(iii) शल्योद्धरणार्थं चेति— सु. सू. ७।

अर्थात्—जब लोह, काष्ठ आदि के शल्य अस्थि में अथवा कर्ण, नासा आदि स्रोतों में फंस जाते हैं तो उन्हें निकालने के लिये भी आवश्यकतानुसार भिन्न २ आकार-प्रकार के यन्त्र प्रयुक्त होते हैं; जैसे—तालयन्त्रों से कर्णादि स्रोतोगत शल्यों का आहरण किया जाता है; संदंश (Forceps) से त्वगादि के शल्य का और अस्थिगतशल्य का स्वस्तिकयन्त्र के प्रयोग द्वारा उद्धरण किया जाता है।

(iv) मार्गविशोधनम्—सु.; मार्गविशोधनं मूत्रादिसंगे शलाका प्रणयनादिना ज्ञेयम्—चक्रपाणिदत्तः।

अर्थात्—व्रणमार्ग, मूत्रमार्ग, मलमार्ग, अन्नमार्ग आदि का विशोधन करने के लिये भी यन्त्रों का प्रमुख रूप से प्रयोग होता है। नाडी व्रणों में प्रक्षालनार्थ 'व्रणबस्ति' मूत्रावरोधादि विकारों में 'उत्तरबस्ति' और मलाशय-प्रक्षालन आदि में 'बस्ति' का प्रयोग होता है। पाश्चात्य वैद्यक में एतदर्थ इनीमा (Enema), इरिगेटर (Irrigator), कैथीटर (Catheter), साउण्ड (Sound) आदि का प्रयोग होता है।

(२) यन्त्रों के सामान्य कार्य इस प्रकार हैं—

निर्घातनोन्मथन पूरणमार्गशुद्धि संव्यूहनाहरण बन्धन पीड़नानि।
आचूषणोन्नमन नामनचाल भंग व्यावर्तनर्जुकरणाणि च यन्त्रकर्म॥ वा. सू. २५॥

अर्थात्—यन्त्र के सामान्य कर्म (१) निर्घातन (२) उन्मथन (३) पूरण (४) मार्गशुद्धि (५) संव्यूहन (६) आहरण (७) बन्धन (८) पीडन (९) आचूषण (१०) उन्नमन (११) नामन (१२) चालन (१३) भंजन (१४) व्यावर्तन (१५) ऋजुकरण आदि हैं।

सुश्रुतादि* संहिता ग्रन्थों में इनसे अतिरिक्त कुछ अन्य यन्त्रकर्मों का भी उल्लेख है। कुछ नवीन यन्त्र कर्मों का समावेश कर लेने पर यह संख्या और भी अधिक हो जाती है।

*सुश्रुत ने २४ प्रकार के यन्त्रकर्म वर्णित किये हैं।

इन सब यन्त्र कर्मों का विस्तृत तथा क्रमबद्ध वर्णन इस प्रकार है—

(१) निर्घातन (Hammering)—मुद्गराभिघातेनेतस्ततश्चालनम्—हाराणचन्द्रः; ताडनं परियातनम्—अरुणदत्तः, इतश्चेतश्च विचाल्य निर्हरणम्, इतश्चेतश्च घट्टनमित्येके—डल्लणः। अर्थात्—शल्य को इधर-उधर हिलाकर निकालना 'निर्घातन' कहलाता है। जब शल्य किसी अस्थि आदि में प्रविष्ट होकर दृढता पूर्वक स्थिर हो जाता है अथवा जब विकृत किन्तु दृढदन्त को निकालना होता है तो इन्हें इधर-उधर हिलाकर ढीला कर लिया जाता है जिससे खेंचकर निकालने में सुविधा होती है।

(२) उन्मथन (Sounding)—प्रणष्टस्य शल्यस्य मार्गे शलाकादिना लोडनम्—डल्लणः, उन्मूलनम्—अरुणदत्तः। अर्थात्—प्रणष्ट हुये शल्य की शरीर में स्थिति, उसका आकार तथा प्रकृति आदि जानने के लिये शलाका या एषणी को शरीर में इधर-उधर आलोडित करना 'उन्मथन' कहलाता है। धातु निर्मित एषणी से जब शल्य टकराता है तो उस घर्षण से यह जानना सुविधा जनक होता है कि शल्य किस प्रकार की वस्तु से निर्मित है। उन्मथन-यन्त्र कर्म से शल्य की दूरी तथा उसके आकार का भी अनुमान लगाया जा सकता है।

(३) पूरण (Filling)—बस्ति नेत्र प्रभृतिभिस्तैलादिना—डल्लणः, अर्थात्—गुद, योनि, नासा, कर्ण आदि की गुहाओं में व्रणादि के रोहण के लिये बस्तिनेत्र से औषध भरने की क्रिया 'पूरण' कहलाती है। बाधिर्य, स्राव आदि कर्ण व्याधियों में कर्णगुहा को औषध से भरा जाता है (कर्णप्रक्षालनं कार्यं चूर्णैरेषां च पूरणम्—सु. उ. २१-४२) सद्यो व्रणों में कर्पूर पूरण बताया है (कर्पूर पूरितं बद्धम्—चक्रदत्तः) शिरो रोगों में प्रधमन नस्य के द्वारा औषध-पूरण किया जाता है जो मुख (युञ्ज्यात्तां मुख वायुना—च. द.) या यन्त्र (प्रधमनक = Insufflator) की सहायता से सम्पन्न होता है। इसका वर्णन प्रधमन नामक तेईसवें यन्त्र कर्म में किया गया है। पुरीष-निर्हरण के लिये गुदा में स्नेहनिक्षेप किया जाता है (बस्तिनेत्रादिभि र्गुदादौ स्नेहाद्युपयोगः—हाराणचन्द्रः)

(४) मार्गशुद्धि (मार्गविशोधनं मूत्रपुरीषसङ्गे- डल्लणः; मूत्र-सङ्गादौ उत्तबस्त्याद्युपयोगेन मूत्रादिनिर्हरणम्—हाराणचन्द्रः; मूत्रादिसङ्गे शलाका प्रणयनादिनाज्ञेयम् चक्रपाणिदत्तः) अर्थात्—किन्हीं कारणों से अवरूद्ध हुये मल, मूत्र आदि के मार्गों को शलाकादि के प्रयोग द्वारा खोलना 'मार्गशुद्धि' कहलाता है। सन्निरुद्ध गुद (Stricture of the rectum)

आदि मलमार्ग के विकारों तथा मूत्र प्रसेक निरुद्धता (Urethral stricture) आदि मूत्र मार्ग के विकारों में नाना प्रकार एवं आकार की शलाकाओं का प्रयोग कर अवरोध के कारणों को दूर किया जाता है।

मूत्र के अवरोध तथा मूत्र मार्ग की निरुद्धता में मूत्र शलाकाओं के, विशेषतः मूत्रनाडियों (Catheters) के प्रयोग का बहुत प्रचलन है। इनका विशिष्ट वर्णन निम्नलिखित प्रकार से है—

उत्तरनाडी = Catheters = मूत्रनाडी

"प्रते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव" अ. वे. का. १ सू. ६-७

ये अन्तः सुषिर नलकाकार यन्त्र हैं जो मूत्राशय से मूत्र निकालने, मूत्राशय प्रक्षालन या विसंक्रमित तरलों को अन्तः प्रविष्ट करके काम आते हैं। इनके निर्माण में प्रयुक्त पदार्थों के आधार पर इनको 'तीन श्रेणियों' में विभक्त किया गया है—

(क) धातविक (Metal) मूत्रनाडियां—

(i) पुरुष (Male) मूत्र नाडियां—इनकी बनावट इस तरह की होती है कि जिससे ये पुरुषों के मूत्र प्रसेक (Urethra) की वक्रताओं में से सरलता से प्रविष्ट हो सकें। इनकी लम्बाई १० इंच के लगभग होती है, तथा निम्न प्रान्त (Lower end) बन्द और कुण्ठित होता है जिससे इनको मूत्रप्रसेक में प्रविष्ट करने में आसानी होती है। इस कुण्ठित प्रान्त के ठीक नीचे दोनों ओर दो छिद्र होते हैं जो "नेत्र = Eyes" कहलाते हैं। इनके चारों ओर के किनारे अन्दर की ओर को होते हैं जिससे प्रवेश के समय मूत्र प्रसेक की श्लैष्मिक कला में व्रण उत्पन्न न कर सकें। ऊपर या बाहर के प्रान्त में तार की दो मुद्रिकायें (Rings) दोनों ओर लगी होती हैं जिनका उद्देश्य मूत्रनाडी को शिश्न से बांधना होता है जिससे उसे मूत्राशय में स्थिर रखा जा सके। इनके सहारे मूत्रनाडी को पकड़ने में भी सुविधा होती है। ये नं० ४ से नं० १८ तक के भिन्न २ आकार के होते हैं। बाह्यभाग के नतोदर (Concave) पार्श्व पर दिये गये नम्बरों से मूत्रनाडी के आकार का पता चल जाता है। इस नम्बर वाले पार्श्व से यह भी ज्ञात हो जाता है कि मूत्राशय में मूत्र नाडी का चञ्चु (Beak) भाग किस ओर को है।

(ii) स्त्री (Female) मूत्र नाडियां—ये शीशे की बनी भी हो सकती हैं तथा ये पुरुषों में प्रयुक्त मूत्र नाडियों की तरह न तो बहुत मुड़ी हुई और न उनके बराबर लम्बी ही होती हैं। ये भी प्रान्त भाग (Tip) पर हल्की मुड़ी होती हैं। इनकी लम्बाई ५-६ इंच के लगभग होती है।

(iii) पौरुष ग्रन्थीय (Prostatic.) उत्तरनाडियां— पौरुष-ग्रन्थि की वृद्धि में पौरुषग्रन्थीयमूत्रप्रसेक अपेक्षाकृत लम्बा और अधिक मुड़ा हुआ होता है जिससे साधारण मोड़ और लम्बाई वाली मूत्रनाड़ी को मूत्राशय में प्रविष्ट नहीं किया जा सकता। अतः इस उद्देश्य के लिये चौड़े मोड वाली तथा लम्बी एक विशेष प्रकार की मूत्रनाडी की आवश्यकता होती है। इसके नेत्र भी पार्श्वों में न होकर सामने और पीछे की ओर होते हैं जिससे यह पौरुष ग्रन्थि के पार्श्वखण्डों (Lateral lobes) की आशयान्तरिक (Intra vesical.) वृद्धि में रुकने न पावे।

पौरुष ग्रन्थीय मूत्रनाड़ी का उपयोग (Uses)— (१) पौरुषग्रन्थि की वृद्धि (Enlargement.) के कारण मूत्रावरोध (Retention of urine.) का होना (२) ऐसे रोगियों में होने वाले रुधिरस्राव तथा मूत्राशय के रुधिरस्राव में उपस्थित स्कन्दित रुधिर (Clotted blood) को निकालना।

(iv) द्वि-नलकीय (Double channelled. मूत्रनाड़ियां— ये खोखली (Hollow) तथा नलकाकार होती हैं जिनका आभ्यन्तर भाग यवनिका (Septum.) द्वारा दो भागों में विभक्त होता है जिससे दो छोटी २ दीर्घकुल्याएं (Longitudinal channels) बन जाती हैं। इसका लाभ यह है कि मूत्राशय में एक मार्ग से तरल प्रविष्ट होता रहता है और दूसरी ओर से निकलता रहता है जिससे मूत्राशय का निरन्तर प्रक्षालन (Continuous irrigation.) होता है। यह पद्धति मूत्राशय की संक्रमण-पीडित अवस्थाओं में उपयोगी होती है।

धातविक (Metal.) मूत्रनाड़ियां की उपयोगिता (Advantages)— (i) इनको उबाल कर विसंक्रमित (Sterilized) किया जा सकता है (ii) प्रविष्ट करते समय इनको मूलाधार (Perineum.) में प्रतीत-कर सीधे मूत्राशय में निर्दिष्ट (Guided.) किया जा सकता है।

इनकी अनुपयोगिताएं (Disadvantages.)— (i) ये मूत्रप्रसेक की श्लैष्मिक कला को क्षुब्ध (Irritate) करते हैं और प्रायः घर्षण (Laceration) हो जाता है (ii) आंगिक अवरोध (Organic-obstruction.) से पीडित रोगियों में अनभ्यस्त चिकित्सक मूत्रनाडी को अनावश्यक बल का प्रयोग कर प्रविष्ट करने का प्रयत्न करता है जिससे अपाकृत मार्ग (False passage.) निर्मित हो जाना प्रायः देखा जाता है (iii) इनको प्रविष्ट करने के लिये कुछ कौशल (Tact) अपेक्षित है। इससे धातविक उत्तरनाडियां विशेषतः छोटे आकार की, कम ही प्रयुक्त

करनी चाहिये।

(ख) गम-इलास्टिक (Gum-elastic) मूत्रनाडियां— ये बुनी हुई (Woven) सिल्क, रुई और गमरेजिन (Gum-resins) से तैयार की जाती हैं। रबर की अपेक्षा ये अधिक दृढ होती हैं और इन्हें आवश्यकतानुसार मोड़ा भी जा सकता है। ये विभिन्न आकृति (Shape) और आकार (Size) की होती हैं तथा साधारणतः नं० ४ से १८ तक की मिलती हैं।

(i) आलीवरी (Olivary) मूत्रनाडियां— इनका अग्रभाग (Tip) ग्रन्थिनिभ (Bulbous) होता है जिससे मूत्रप्रसेक की निरुद्धता (Stricture) की व्यवस्था में इनको अन्तः प्रविष्ट करने में सुविधा होती है। यदि अग्रभाग निरुद्धता में प्रविष्ट हो जाये तो मूत्र नाडी को थोड़ा बाहर खेंचते हैं। इस प्रकार ग्रन्थि सदृश भाग निरुद्धता की दूसरी ओर से उसे दूर करने का प्रयत्न करता है। इससे निरुद्धता की स्थिति (Situation), उसकी लम्बाई और आकार (Size) के बारे में सूचना प्राप्त होती है।

(ii) कूडे (Coude) और बाईकूडे (Bicoude) मूत्रनाडियां— इन मूत्रनाडियों के अग्रभाग पर कई बड़े (Sharp) मोड़ होते हैं। एक मोड़ वाली नाडी 'कूडे' और दो मोड़ वाली 'बाईकूडे' कहलाती है। इन बड़े मोड़ों का उद्देश्य पौरुष ग्रन्थि के मध्यखण्ड (Middle lobe) की वृद्धि से होने वाले मूत्रप्रसेक के आभ्यन्तर द्वार (Internal meatus) के अवरोध पर विजय पाना है। अतः ऐसी मूत्रनाड़ियों का उपयोग पौरुष ग्रन्थि की वृद्धि से होने वाले मूत्रावरोध (Retention of urine) को दूर करने में होता है।

इसी प्रकार फिलिप्स (Phillip's) की मूत्रनाडी आदि अन्य भी मूत्रनाडियां हैं जिनकी अपनी उपयोगिता है।

गम इलास्टिक मूत्रनाडियों की विशेषता यह है कि (i) ये धातविक मूत्रनाड़ियों की तरह क्षोभक और कठोर नहीं होती हैं (ii) रबर की मूत्रनाड़ियों की अपेक्षा ये कम लचकीली या मृदु (Flexible) होती हैं। अतः इनसे निरुद्धता का परिचय भली भांति प्राप्त हो जाता है। इनसे किसी प्रकार की हानि की सम्भावना भी नहीं होती है। इन मूत्रनाड़ियों की अनुपयोगिताएं (Disadvantages) ये हैं कि (i) ये उबालकर विसंक्रमित नहीं की जा सकती (ii) पुराने होने पर इनका बहिःपृष्ठ रबर (Rough) हो जाता है जिससे ये मूत्रप्रसेकीय श्लैष्मिक कला (Urethral mucosa)

को हानि पहुंचाती हैं।

(ग) रबर (Rubber) की मूत्रनाडियां—

इस प्रकार की मूत्रनाडियों के निम्नलिखित प्रकार अधिकतर प्रयोग में लाये जाते हैं—

(i) साधारण (Ordinary) मूत्रनाडी— ये रबर की बनी हुई तथा मृदु होती हैं। ये यद्यपि अन्तःसुषिर होती हैं किन्तु इनका परवर्ती प्रान्त (Distal end) कठोर होता है जिससे इनको अन्दर प्रविष्ट करने में सुविधा होती है। इनका आकार साधारणतः नं० ४ से नं० १८ तक होता है। जब कभी मूत्रनाडी प्रविष्ट करनी हो तो पहिले सदा रबर की मूत्रनाडी ही प्रविष्ट करनी चाहिये। यदि यह प्रविष्ट न हो तो गम-इलास्टिक मूत्रनाडी को प्रविष्ट करें, अन्त में धातविक मूत्रनाडी को प्रविष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिये।

(ii) स्वतोनिरोधन (Self-retaining) मूत्रनाडी—मूत्राशय के निरन्तर स्रावण के लिये इसका प्रयोग होता है। इसका यह लाभ है कि बांधने की व्यवस्था के बिना ही यह अपने आप, दूरवर्ती मोड़ (Distal bulging) के कारण, स्वतः टिकी रहती है तथा यह आवश्यक नहीं कि रोगी शय्या पर विश्राम करता रहे। ये नं० १८ से नं० २४ तक की होती हैं तथा इनका आकार-प्रकार भिन्न २ होता है। इस प्रकार की मूत्रनाडियों की उपयोगिता यह है कि ये क्षोभ उत्पन्न नहीं करती हैं और न रक्तस्राव ही होता है। इससे अप्राकृत मार्ग (False passage) के होने का भय भी नहीं होता है। इनकी अनुपयोगिता यह है कि ये (i) मृदु (Flexible) होने से निरुद्धता (Stricture) में कम प्रविष्ट हो पाती हैं और (ii) बार २ उबालने से इनकी रबर नष्ट हो जाती है।

मूत्रनाडियों का विसंक्रमण (Sterilisation)—

(i) धातविक मूत्रनाडियों को पांच मिनट तक उबालना (ii) गम-इलास्टिक की मूत्रनाडियों को फार्मोलीन वाष्प (Vapour) या कार्बोलिक घोल (१-२०) में आधे घन्टे तक रखना और उपयोग में लाने से पूर्व लवण द्रव (Saline) से धो लेना चाहिये जिससे क्षोभक फार्मोलीन आदि धुल जाएं। इन्हें कभी भी उबालना नहीं चाहिये।

मूत्रनाडी का प्रयोग (Uses)—

मूत्रनाड़ियां मूत्रमार्गीय शस्त्रकर्म में प्रयुक्त होने वाला नितान्त महत्व पूर्ण यन्त्र है जो रोगनिर्णय (Diagnosis) और चिकित्सा दोनों में

प्रयुक्त किया जाता है; जैसे—

(i) मूत्रावरुद्धता में मूत्राशय से मूत्र निकालने के लिये इनका प्रधानतया उपयोग होता है।

(ii) सापेक्ष (Differentiating) रोग निर्णय के लिये "अमूत्रता (Suppression of urine)" से कम भयानक विकार "मूत्रावरुद्धता (Retention of urine)" को पृथक् करना। यदि रोगी ने काफी समय से (कुछ दिनों से भी) मूत्र त्याग न किया हो और मूत्रनाडी प्रविष्ट करने पर भी मूत्र न आवे तो "अमूत्रता" निर्णीत होती है।

(iii) मूत्राशय के अभिघात ग्रस्त होने पर निर्णय करना—मूत्रनाडी प्रविष्ट करते समय मूत्राशय रिक्त हो और यदि विसंक्रमित जल मूत्राशय में प्रविष्ट कर दिया जाये तथा जल की कुछ मात्रा ही अथवा कुछ भी बाहर न आवे तो मूत्राशय के विदरण (Rupture) का होना निश्चित होता है। ऐसी अवस्था में कुचले जाने का इतिवृत्त सदा उपस्थित होता है अथवा मूलाधार (Perineum) के सहारे गिरने से मूत्राशयविदरण का संदेह होता है।

(iv) मूत्राशय की संक्रमणग्रस्त अवस्थाएं (Infective Conditions)--

इसमें मूत्रनाडी को मूत्राशय के प्रक्षालन के लिये प्रयुक्त करते हैं। आवश्यकता पड़ने पर मूत्राशय का स्रावण और उसमें अन्तर्निक्षेपण (Instillations) भी किये जाते हैं। जीर्ण उष्णवात (Cystitis) के अमीमांस्य (Intractable) रोगियों में जब मूत्र का कैटाणविक परीक्षण (Bacteriological examination) आवश्यक होता है तो मूत्रनाडी द्वारा मूत्राशय से मूत्र निकाला जाता है जिससे वह बाह्य जननांगो (Genitals) के सम्पर्क (Contamination) में न आने पावे। तथापि, तीव्र उष्णवात में मूत्रनाडी को प्रविष्ट नहीं करना चाहिये।

(v) मूत्रनाडी द्वारा बढ़ी हुई पौरुषग्रन्थि का निर्णय भी किया जाता है। जब साधारण: मूत्रनाडी प्रविष्ट नहीं हो पाती है तो विशेष प्रकार की 'कूड़े (Coude)' मूत्रनाडी प्रविष्ट की जाती है। बाद में निकाले गये अवशिष्ट (Residual) मूत्र से पौरुषग्रन्थि के बढने की धारणा सत्य हो जाती है। पहिले रोगी मूत्रत्याग कर मूत्राशय को रिक्त कर लेता है और बाद में मूत्रनाडी प्रविष्ट कर अवशिष्ट मूत्र को निकालते हैं जिसकी मात्रा इस बात की सूचना देती है कि पौरुषग्रन्थि का आशयान्तरिक उत्सेध (Intra vesical projection) तथा पश्चात्पौरुष पोटली (Post prostatic

Pouch) का आकार कितना है।

(vi) साधारण आकार की (No. 12 E.) रबर सूत्रनाड़ी प्रविष्ट न हो सके तो निरुद्धता की अशंका होती है।

इसी प्रकार मूत्रनाड़ियों के अन्य भी अनेक प्रकार के उपयोग होते हैं।

प्रक्रिया (Technique.)— मूत्रनाड़ी को प्रयोग में लाने से पूर्व निम्नलिखित को ध्यानपूर्वक जान लेना चाहिये :— (i) तीव्र मूत्रप्रसेक शोथ (Urethritis) या उष्णवात (Cystitis.) से पीडित व्यक्तियों में मूत्रनाड़ी का प्रयोग कभी न करें (ii) शिश्नमणि (Glans.), शिश्नाग्र त्वचा आदि की स्वच्छता (Asepsis.) में पूर्ण सावधानी से काम लें, विसंक्रमित मूत्रनाड़ी का ही प्रयोग करें, प्रयुक्त करने से पहिले उसे विसंक्रमित स्निग्ध पदार्थ से स्निग्ध करलें (iii) अनभ्यस्त व्यक्ति को चाहिये कि वह सर्व प्रथम रबर की मूत्रनाडी का तदनन्तर गम–इलास्टिक का ही प्रयोग करे (iv) आरम्भ में बड़े आकार की ही मूत्रनाड़ी को प्रयोग में लावें, यदि वह प्रविष्ट न हो सके तो अपेक्षाकृत अल्प आकार की नाडी प्रयुक्त करनी चाहिये; अप्राकृत मार्ग न बन जाय इससे बल का प्रयोग न करें (v) धातविक उत्तरनाड़ी के प्रयोग में निम्नलिखित स्थानों पर रुकावट आती है (१) बहिर्द्वार के छिद्र (External meatus) का छोटा होना (२) 'फोसा टर्मिनेलिस' के समीप सन्मुखीन (Anterior) मूत्रप्रसेक की छदि (Roof) में 'लोवयुना मेगना' पर, यदि मूत्रनाड़ी का अग्रभाग नीचे (Floor.) की ओर को हो तो यह अवरोध नहीं होता है (३) पौरुष ग्रन्थीय कोष (Utricle) पर, यदि नाडी का अग्रभाग ऊपर (Roof) की ओर को हो तो यह अवरोध भी नहीं होता है (vi) परिपूर्ण (Distended) मूत्राशय को एक ही प्रयास में खाली नहीं कर देना चाहिये अन्यथा तीव्र रुधिरस्राव का होना सम्भव है (vii) रोगी को उष्ण रखें और शीघ्र बाद ही क्षारीय रेचन (Alkaline purge) दें। (viii) शल्यक (Surgeon) रोगी की बाईं ओर खड़ा होता है तथा उत्तरनाड़ी को अपने दाहिने हाथ में पकड़ कर प्रविष्ट करता है।

-हानियां (Dangers)— (i) मूत्रप्रसेकीय स्तब्धता (Urethral shock)–अतः दो ड्राम नोवोकेन २ प्र. श. के घोल को मूत्रप्रसेक में प्रविष्ट करने के उपरान्त मूत्रनाड़ी प्रविष्ट करें (ii) अप्राकृत मार्ग (False passage)–अतः धातविक मूत्रनाड़ी को प्रयोग में कम से कम लावें (iii) शोणित स्राव (Haemorrhage.)–यह श्लैष्मिक कला के

क्षत होने, अप्राकृत मार्ग बनने और परिपूर्ण मूत्राशय को एकबार ही रिक्त कर देने से होता है (iv) मूत्रनाडी का अन्दर ही टूट जाना (v) अमूत्रता (Anuria) और (vi) मूत्रीय (Urinary) ज्वर; यह संक्रमण के फैल जाने से होता है।

(५) संव्यूहन (उर्ध्वीकरण मुत्तुण्डितस्य छित्वोद्धरणार्थम् – चक्रपाणिदत्तः) अर्थात्—सर्पफण, शरपुङ्ख आदि शलाका यन्त्रों की सहायता से शल्य को इस प्रकार ऊपर की ओर को उठाना जिससे उसको हटाने आदि में सुविधा हो, 'सम्व्यूहन' कहलाता है। व्रणौष्ठों को सीवनकर्म के लिये ऊपर की ओर उठाकर समीप लाना (व्रणौष्ठयोः सन्निहती करणम्—गणनाथसेनः); भेदन के उपरान्त मूत्राशयाश्मरी के सूक्ष्मकणों को अग्रवक्र से एकत्रित करना (व्यूहनं तु चूर्णिताश्मर्यादीनां ग्रहणम्—हाराणचन्द्रः; अग्रवक्रेणाददीत—सु.; व्यूहनेऽहिफणावक्त्रौ—वा.) तथा मांसाकुर, ग्रन्थि आदि को ऊपर उठाकर छेदन करना आदि का समावेश इसी में होता है। संक्षेप में शल्य का निर्हरणार्थ उर्ध्वीकरण ही 'संव्यूहन' है।

(६) आहरण (आनयनम्— डल्लणः, अनवबद्धस्याग्रे नयनम्—चक्रपाणिः) अर्थात्— कर्णगुहा आदि में स्थित मल आदि के शल्य को अथवा नासारन्ध्र में फंसे हुये पाषाण, बीज आदि विजातीय पदार्थ को या व्रण में उपस्थित शल्य को बाहर लाना 'आहरण' नामक यन्त्र कर्म है। शलाका यन्त्र से नासार्बुद का आहरण बताया है (नासार्बुदाहारणार्थमेकं कोलास्थिदलमात्र मुखं खल्लतीक्ष्णौष्ठम्—सु. सू. ७)

(७) बन्धन (रज्ज्वादिना—डल्लणः) अर्थात्—रज्जु, वस्त्र आदि से अंग अथवा रोगी को बांधना 'बन्धन' कहलाता है। सिरावेधन में सिरा के भली भांति उत्थान के लिये बन्धन किया जाता है जिससे क्रियासौकर्य होता है। सर्पदंश में बन्धन विशेष रूप से उपयोगी होता है (दंशस्योदरि बध्नीयात्—वा. उ. ३६-४२)

सुनिबन्धनी (Tourniquet. टूर्निके) बन्धन यन्त्र कर्म का ही परिष्कृत रूप है। यह धातु अथवा रबर की बनी होती है तथा इसका उपयोग किसी अंग के रक्त संचार को अस्थायी रूप से रोकने के लिये होता है। साधारणतः इस कार्य के लिये पर्याप्त दृढ रबरट्यूब को प्रयोग में लाते हैं जिसकी एक ओर हुक लगा होता है और दूसरी ओर 'चेन' होती है। अन्य भी कई प्रकार की सुनिबन्धनियां उपलब्ध होती हैं। ऊरु के रुधिरस्राव को रोकने के लिये साम्बे (Samway's) की सुनिबन्धनी उपयुक्त होती है।

रुधिर भार मापक (Sphygmomano meter) के पट्टभाग से भी रक्त के संचार को रोकने का काम लिया जाता है। 200 M. M. Hg. तक के निपीड़न से भुजा में रक्त संचार पूर्णतः अवरुद्ध हो जाता है और नाड़ी या पेशियों को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचती है। यह "Pneumatic tourniquet = वायवीय सुनिबन्धनी" कहलाती है।

प्रयोग (Application)—सुनिबन्धनी सदा ऐसे स्थान पर लगानी चाहिये जहां केवल एक अस्थि हो, जैसे—बाहू (Arm), ऊरु (Thigh) अग्रबाहू (Forearm) या जंघा (Leg) पर कभी नहीं लगानी चाहिये क्योंकि यहां जिस धमनी को निपीड़ित (Pressed) करना होता है वह फिसलकर दो अस्थियों के मध्य चली जाती है और इस प्रकार निपीडित नहीं हो पाती है। सुनिबन्धनी को लगाने से पूर्व अंग को कुछ मिनट तक ऊंचा कर रखना चाहिये जिससे रुधिर अधिक से अधिक मात्रा में शरीर के प्रमुख भाग की ओर लौट सके। किन्तु यह नियम सर्वत्र लागू नहीं होता है। इसे नग्न-त्वचा पर कभी नहीं लगाना चाहिये अपितु अंग पर तौलिया या अन्य वस्त्र रखकर लगाते हैं। सुनिबन्धनी को लगातार आधे घन्टे से अधिक समय तक भी नहीं लगाना चाहिये अन्यथा निर्जीवांगता (Gangrene) हो सकती है। यदि इससे अधिक समय तक लगाना आवश्यक हो तो इसे कुछ ढीलाकर थोड़ा रुधिर आने के बाद पुनः लगाया जा सकता है।

उपयोग (Uses)—

(i) प्राथमिक उपचार (First aid) के रूप में इसका उपयोग होता है। सड़कों, कारखानों आदि में हुई दुर्घटनाओं में होने वाले शोणित-स्राव को रोकने का यह प्राथमिक किन्तु अस्थायी साधन है। ऐसे रोगियों को चिकित्सालय में लाकर शेष आवश्यक व्यवस्था की जाती है।

(ii) अंग प्रकल्पन (Amputation) से पूर्व भी सुनिबन्धनी का प्रयोग किया जाता है जिससे रोगी के शरीर में अधिक से अधिक मात्रा में रुधिर बना रहे।

(iii) लघुशस्त्रकर्मों में भी इसके प्रयोग से शोणितप्रस्रवण (Oozing) नहीं हो पाता और इस प्रकार शल्यचिकित्सक को पूर्णतः रुधिर रहित कर्मस्थल प्राप्त होता है।

अनुपयोगिताएं (Disadvantage)—

(i) धमनी जरठता (Arterio-sclerosis) आदि वाहिनी-विकारों (Vascular diseases) में तथा वृद्ध व्यक्तियों में सुनिबन्धनी

का प्रयोग नहीं करना चाहिये। (ii) स्वस्थ अवयव में भी इसे लगातार आधे घन्टे से अधिक समय तक नहीं लगाया जा सकता है। व्रणयुक्त अंग में यदि इससे अधिक समय तक लगाया जाये तो अंग की वाहिनियां विस्तृत (Dilated) हो जाती हैं और इस प्रकार व्रण रोहण में विलम्ब होता है। (iii) यदि रुधिर स्राव ऐसे स्थल से हो रहा है जहां सुनिबन्धनी का प्रयोग नहीं किया जा सकता है, जैसे—अंस या श्रोणिसंधि तो ऐसी अवस्था में धमनी को उपयुक्त स्थल पर दबाया जाता है अथवा उस स्थल का भेदन कर धमनी बन्धन (Ligature) करते हैं। आवश्यक होने पर अंग प्रकल्पन भी सम्भव हो सकता है।

अंगुली आदि के प्रकल्पन के लिये साधारण रबर मूत्रनाडी (Rubber catheter) को सुनिबन्धनी के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

(८) पीडन (व्रणस्यपूयादि निर्गमनार्थं अंगुल्यादिना—डल्लणः) अर्थात्—व्रण में उपस्थित पूयादि को बाहर निकालने के लिये दबाना 'पीडन' नामक यन्त्र कर्म कहलाता है। रक्तभार वृद्धि नामक विकार में रक्तभार मापक यन्त्र की उपयोगिता पीडन कर्म के कारण ही है। इसी प्रकार यन्त्र औषध अथवा अंगुलियों का दबाव डालने के लिये जहां २ भी शल्य निर्हरण, क्रिया सौकर्य तथा रोग परिचयार्थ उपयोग किया जाता है वे सब 'पीडन' नामक यन्त्र कर्म के ही विषय हैं। पूयगर्भ, अणुद्वार और मर्मगत व्रणों में पीडन द्रव्यों का इसी उद्देश्य से विधान है—सू. चि. १। अन्त्र वृद्धि में 'लोहपट्ट' द्वारा पीड़न ही किया जाता है जिसका वर्णन इस प्रकार है—

अन्त्रवृद्धि लोहपट्ट
(Hernia truss)

यह पीडन कर्म द्वारा ही कार्य कर होता है। इस लोहपट्ट के तीन भाग होते हैं— (i) गद्दीदार चौड़ा भाग (Pad)—इसके बाह्य भाग पर दो 'स्टड' लगे होते हैं, यह लम्बाई में २½ इंच के लगभग और चौड़ा दो इंच होता है। इसके ऊपर चमड़ा चढ़ा होता है और अन्दर से घोड़े के बालों का बना होता है। यह चौड़ा, मृदु और स्थिति स्थापक (Elastic) होता है। वंक्षणीय (Inguinal) अंत्रवृद्धि में यह आभ्यन्तर वंक्षणीयछिद्र (Internal abdominal ring) और वंक्षणीय सुरंगा (Inguinal canal) पर दबाव (पीड़न) डालता है जिससे सुरंगा बन्द हो जाती है। (ii) लोहमयी स्प्रिङ्ग— यह भी चमड़े से ढकी होती है और इसके अन्त में

चमड़े की एक पट्टी लगी होती है जो गद्दीदार चौड़े भाग पर लगे स्टड से सम्बन्धित कर दी जाती है। इस प्रकार चौड़ा भाग (Pad) अपने स्थान पर स्थिर रहता है। लोहमयी स्प्रिंग को रोगी की कमर के चारों ओर, पीछे त्रिकास्थि (Saccrum.) के तृतीय कशेरुका पर और पार्श्वों में जघनचूड़ा (Iliac crest.) और शिखरक (Trochanter.) के ठीक मध्य में लपेटते हैं। एक ओर की अन्त्रवृद्धि (Unilateral hernia.) में, स्वस्थ पार्श्व की ओर स्प्रिंग पुरोर्ध्वकूट (Anterior superior iliac-spine.) के पीछे ही समाप्त हो जाता है और वहां से चमड़े की पट्टी (Leather strap.) का आरम्भ हो जाता है। दोनों ओर की (Bilateral.) अन्त्रवृद्धि में यह स्प्रिग दूसरी ओर के गद्दीदार चौड़े भाग से सम्बन्धित होता है। (iii) मूलाधारीय पट्टी–– यह लोह पट्ट को ऊपर की ओर खिसकने से रोकती है। यह पट्टी पीछे और मूलाधार पर से होती हुई गद्दी पर लगे नीचे की ओर के स्टड से स्थिर करदी जाती है। दोनों ओर की अन्त्रवृद्धि में दो मूलाधारीय पट्टियां होती हैं जो दोनों ओर लगायी जाती हैं।

मापन (Measurement.)— इसमें निम्नलिखित स्थानों के मध्य की दूरी नापी जाती है (१) सामने की ओर भगास्थि संधान (Symphysis pubis.) (२) दोनों पार्श्वों में जघनचूड़ा (Iliac crest.) और महाशिखरक (Greater trochanter.) का केन्द्र विन्दु (३) पीछे की ओर त्रिकास्थि की तृतीय कशेरुका।

प्रयोजकता (Indications.)–– (i) अठारह महीने से कम की आयु वाले शिशु (ii) आकार में बड़ी और चिरकालीन अन्त्रवृद्धि से पीड़ित साठ वर्ष से अधिक आयु वाले वृद्ध (iii) गुम्फन (Strangulation.) की प्रवृत्ति रहित सरल (Direct.) अन्त्रवृद्धि (iv) रोगी का शस्त्रकर्म के लिये तैय्यार न होना और (v) हृद्रोग तथा मधुमेह आदि ऐसे रोगों से पीड़ित व्यक्ति जिनमें शस्त्रकर्म प्रतिषिद्ध (Contra-indicated.) है; आदि में लोहपट्ट (Truss.) उपयोगी होता है।

लोहपट्ट की अनुपयोगिताएं (Disadvantages.)— शिशुओं को अपवाद स्वरूप छोड़ कर लोह पट्ट का प्रयोग अन्त्रवृद्धि की चिकित्सा नहीं है। यदि इसे चिकित्सा के रूप में ही प्रयुक्त करना है तो यह अनिवार्य है कि इसे दो वर्ष तक रात और दिन निरन्तर लगाए रखा जाय और इस काल में एक बार भी अन्त्र को उतरने नहीं देना चाहिये। किन्तु यह सब कुछ काम करने वाले व्यक्तियों के लिये, जिनके पास न पर्याप्त साधन हैं और न समय,

कठिन काम है। यह व्यय साध्य और असुविधाकर भी है। लोह पट्ट का चौड़ा और मृदु भाग अपने नीचे के मृदुतन्तुओं को विकृत कर देता है जिससे अन्त्र-वृद्धि की गुम्फन-अवस्था में शस्त्रकर्म अधिक कठिन हो जाता है।

लोहपट्ट निर्माता को निर्देशन (Instructions.)--इसको निम्न-लिखित आवश्यक सूचनाएं अवश्य भेजनीं चाहिये— (i) रोगी की आयु (ii) व्यवसाय जिससे स्प्रिंग की दृढ़ता का निर्णय किया जा सके। हर समय कुर्सी पर बैठे रहने वाले क्लर्क की अपेक्षा मजदूर को अधिक दृढ स्प्रिंग की आवश्यकता होती है। (iii) अन्त्रवृद्धि का प्रकार— सरल है या वक्र (Oblique.) एकतः (Single.) है या उभयतः (Double.) (iv) अन्त्र-वृद्धि का कालानुबन्ध (Duration.) (v) अन्त्रवृद्धि का आकार (Size) तथा यह अप्राप्तफलकोषा (Bubonocele.) है या प्राप्तफलकोषा (Inguino scrotal hernia.) और (vi) बाह्य वंक्षणीयछिद्र (External abdominal ring.) का आकार— इसमें दो अंगुलियां जा सकती हैं या तीन आदि।

लोहपट्ट को लगाने की विधि (Applying the truss.)— पीठ के सहारे लेटे हुए रोगी के वस्त्र हटाकर तथा वृद्धि को अन्तः प्रविष्ट (Reduce.) कर लोहपट्ट को इस प्रकार लगावें कि उसका चौड़ा और मृदु भाग वंक्षणीयसुरंगा के ठीक ऊपर उसी दिशा में हो। ततः रोगी को स्टूल के किनारे पर टांगे पूरी तरह फैलाकर बिठावें और उसे खांसने के लिये कहें। इस प्रकार यह देखें कि अन्त्रवृद्धि लोहपट्ट से पूर्णतया नियन्त्रित है या नहीं।

लोहपट्ट का कार्य सन्तोषजनक है, इसकी पहिचान यह है कि (१)- यदि रोगी टेबल या स्टूल के किनारे पर बैठ कर खांसे तो अन्त्र उतरनी नहीं चाहिये (२) पट्ट के मृदु भाग द्वारा सम्पूर्ण वंक्षणीय सुरंगा पर दबाव पड़ना चाहिये, केवल भगास्थि (Pubis.) तथा बाह्य वंक्षणीय छिद्र (Ext. Inguinal ring.) पर नहीं और (३) इससे अस्थि का कोई उभार भी अनावश्यक रूप से दबना नहीं चाहिये।

रोगी को निर्देशन—(i) लोह पट्ट को शय्या पर लेटे हुए ही लगा लेना चाहिये और पृथक् भी लेट कर ही करना चाहिये; यदि रात को खांसी का दौरा होता हो तो इसे रात को भी नहीं उतारना चाहिये, अन्यथा कास के आक्रमण के समय अन्त्रवृद्धि गुम्फित (Strangulated.) हो सकती है (ii) इसका सीधा त्वचा के ऊपर ही उपयोग करना चाहिये (iii) पट्ट को लगाने से पूर्व वृद्धि को पूर्णतः अन्तः प्रविष्ट कर लेना चाहिये (iv) यदि साव-

धानी न रखी गयी तो पट्ट के मृदु भाग के नीचे का स्थान अस्वच्छता के कारण विचर्चिकाग्रस्त (Eczematous.) हो सकता है, अतः वहां की त्वचा को सुरा (Alcohol.) से नित्य प्रति स्वच्छ कर बोरिक पाउडर लगा देना चाहिये (v) यदि अन्त्रवृद्धि अप्रवेश्य (Irreducible.) होजाय तो शल्यचिकित्सक को सूचित करें।

पीड़न नामक यन्त्रकर्म का अन्य भी कई स्थलों पर उपयोग होता है। रक्तस्राव को रोकने के उपायों में 'पीड़न' का विशिष्ट स्थान है। एतदर्थ भिन्न २ धमनियों को भिन्न २ स्थानों पर पीड़ित किया जाता है (अंगुल्यग्रेणात्र-पीड़येत्— सु. सू. १४) परिवर्तिका (Paraphimosis.) में शिश्नाग्र-त्वचा को यथास्थान लाने के लिये विशेष प्रकार का 'पीड़न' बताया है (शनैश्चर्म चानयेत्पीडयन्मणिम्— सु. चि. २०) आदि २।

(६) आचूषण (मारुतोदक सविष रुधिर दुष्टस्तन्येषु आचूषणमास्येन विषाणैर्वा सु. सू. २१) अर्थात्— विसर्प, विद्रधि, व्रणशोथ आदि में उपस्थित विकृत रुधिर, सर्पविष तथा स्तनों में विशेषकर स्त्री स्तनों में विद्रधि आदि होने पर 'आचूषण' कर्म किया जाता है। आयुर्वेद में दूषित रुधिर को निकालने का विशेष विधान है। दुष्ट रुधिर को अधिकतर आचूषण यन्त्र-कर्म द्वारा ही निकालने का वर्णन है। शृंग (सींगी लगाना) अलाबू तथा जलौका को दोषानुसार एतदर्थ प्रयुक्त किया जाता है। सर्पविष में तत्काल ही आचूषण यन्त्रों अथवा व्रणरहित मुख से (मुखेन वा— वा. उ.) विषका चूषण करना होता है। स्तन विद्रधि (Mammary abscess.) की उपस्थिति में अथवा जब शिशु दुग्ध पान नहीं करता है उस अवस्था में स्तनों में एकत्रित दुग्ध शल्य की तरह पीड़ाकर होता है; उसे दूर करने के लिये भी आचूषण यन्त्र कर्म किया जाता है (तस्याः स्तनौ सततमेव च निर्दुहीत— सु. चि.) आचूषण कर्म द्वारा रोग निर्णय भी किया जाता है, जैसे— सिरिंज (सूई लगाने की पिचकारी) से मूत्रवृद्धि (Hydrocele.) में तरल निकालना आदि। इसी प्रकार सिरिंज द्वारा आचूषण कर पूय भी निकाली जाती है और सुषुम्ना काण्ड के तरल को भी परीक्षणार्थ निकालते हैं।

(१०) उन्नमन (अधःस्थितस्य शर्करादे रूर्ध्वं नयनम्—डल्लणः) अर्थात्— पिच्चित (Depressed) आदि भग्नों अथवा स्कन्ध आदि के सन्धिमुक्तों में या अधः स्थित शल्य को ऊपर लाने की क्रिया 'उन्नमन' (Elevation) कहलाती है। कई बार मांसादि धातुओं में तिर्यक्–स्थित शल्य का संदंश की पकड़ में न आने से निकालना कठिन होता है; अतः उसके निर्हरण

के लिये भी 'उन्नमन' करना आवश्यक होता है।

(११) नामन(अधोनयनम्— चक्रपाणिदत्तः) अर्थात्—अस्थि भग्न तथा सन्धिमुक्त (Dislocation.) आदि में उपस्थित अंगवैषम्य (Deformity.) को दूर करने के लिये उभरे हुए भाग को नीचे की ओर दबाना 'नामन' Depression. कहलाता है।

(१२) चालन (स्थानात्स्थानान्तर नयनं, अन्ये शल्यकम्पनमाहुः— डल्लणः) अर्थात्— धातुओं में अवरुद्ध शल्य को निकालने के लिये उसे हिलाकर निकालना 'चालन' कहलाता है। कर्णगूथ (Earwax) को शलाका के सहारे-चलाकर निकालना सुविधाकर होता है, इसी प्रकार मांसाहारियों के गले में अवरुद्ध अस्थिशल्य को भी चालन–यन्त्रकर्म द्वारा निकालना सरल होता है (मलादावव बद्धास्थि शल्यादी नामपनयनं चालनम्—हाराणचन्द्रः) आवश्यकतानुसार चालन कर्म अष्ठीला, अश्म, मुद्गरादि के प्रहार से भी किया जाता है (अष्ठीलाश्म मुद्गराणामन्यतमस्य प्रहारेण विचाल्य— सु. सू. २७)

(१३) भञ्जन (शल्यकर्णादेर्मर्दनम्— चक्रपाणिदत्तः; शिरःकर्णादेरामर्दनं समन्ततो मर्दनमित्यन्ये—डल्लणः) अर्थात्— यदि शल्य के प्रवर्धन अथवा शल्य का आकार बड़ा होने से निकलने में अवरोधक हों तो ऐसी अवस्था में उनका "भञ्जन" यन्त्रकर्म किया जाता है। उसको सूक्ष्म भागों में विभक्त कर निकाल दिया जाता है। वार्क्ष (वृक्षनिर्मित) अथवा अस्थि आदि के शल्य का कोई भाग बाहर निकलने में रुकावट उत्पन्न करता हो तो उसे खण्डित कर शल्य का निर्हरण करते हैं। अश्मरी रोग की "अश्मरी भंजन" (Lithotrity) पद्धति आज कल बहुत प्रिय है जिसमें मूत्राशयाश्मरी को नितान्त सूक्ष्म कणों में विभक्त कर आचूषक (Begelow's evacuator) द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है (निर्हरेदश्मरीचूर्णम्— सु. चि. ७–३४)

(१४) व्यावर्तन (विकीर्णस्य वर्तुलीकरणम्-- चक्रपाणिदत्तः; विवृत्तस्य वर्तुलीकरणम्— डल्लणः) अर्थात्—शरीर में अस्वाभाविक रूप से स्थित धातु और अवयव आदि के स्थानच्युत होकर अथवा फटकर इधर–उधर हुये भागों को पूर्व स्थान पर लाना "व्यावर्तन" कहलाता है। अभिघात से फटे हुये व्रणमांस का या अस्थिखण्डों का व्यावर्तन (स्थानानयन) किया जाता है जिससे सम्यक् स्थापना (Accurate setting) होकर भली भांति रोहण हो सके। कर्णचूचुक (Lobule) में भारी आभूषण लटकाने

से छिद्र दो भागों में विभक्त हो जाता है; उन विस्तृत (विवृत्त) भागों का व्यवर्तन कर सीवनकर्म कर देते हैं ।

(१५) ऋजुकरण (कुटिलस्य— डल्लणः) अर्थात्— तिर्यक् अवस्थित शल्य को ऋजु (सीधा) करना जिससे वह सरलता से निकल सके। गले में अवबद्ध अस्थिशल्य का ऋजुकरण कर कई बार निकालने की आवश्यकता होती है। चूर्णित भग्नों (Complicated fracture) में आड़े फंसे हुए अस्थि–खण्डों को सीधा कर निकालते हैं। मूढगर्भ में भी ऋजुकरण (Straightening) प्रायः आवश्यक होता है (प्रत्यार्जवागतम्—वा. शा. २, ऋजुकरणादारणानि— सु. चि. १५–३)

वाग्भटोक्त इन पन्द्रह यन्त्र कर्मों के अतिरिक्त सुश्रुत द्वारा वर्णित यन्त्रकर्म इस प्रकार हैं :—

(१६) आञ्छन (कुञ्चितस्याङ्गुल्यादे रायामनम्—चक्रपाणिदत्तः; ईषन्मुखानयनम्, ईषन्मुखे आनयनमित्यर्थः—डल्लणः; आयामनं दीर्घतया स्थापनम्— अरुणदत्तः शा. २) अर्थात्— अंग को खेंच कर विकृत होने से पूर्व की स्वस्थ स्थिति में स्थापना करना 'आञ्छन' (Extension) कहलाता है। मूढगर्भ में शल्यनिर्हरण के लिये केवल खेंचने के अर्थ में भी इसका प्रयोग हुआ है (गात्रं च विषमस्थितम् । आञ्छनोत्पीड सम्पीड विक्षेपाक्षेपणादिभिः— वा. शा. २–२७) काण्ड भग्न और सन्धिमुक्त में सम्यक् स्थापना के लिये आञ्छन कर्म किया जाता है (आञ्छेदतिक्षिप्त मधोगतं चोपरिवर्तयेत्— सु. चि. ३–१८)

(१७) विवर्तन (कर्णेन लग्नस्य कर्णलग्नावयवमोक्षार्थं पार्श्वान्तर नयनम्— चक्रपाणिदत्तः; यन्त्रस्य भ्रमणम्— डल्लणः) अर्थात्— शल्य के उभरे हुए भागों (कर्ण) को धातुओं से पृथक् करने के लिये शल्य का आवश्यकतानुसार पार्श्व की ओर ले जाना अथवा यन्त्र को ही इस उद्देश्य के लिये घुमाना "विवर्तन" कहलाता है। कभी २ उदूखल में से दान्त को निकालने के लिये भी विवर्तन (दान्त को संदंश से पकड़ कर घुमाना) करना होता है जिससे उसका मूल दन्तमांस में से आसानी से निकल जाय।

(१८) विवरण (प्रकाशनम्— चक्रपाणिदत्तः; मांसच्छेदावकाशदानेन विवरणमित्येके— डल्लणः; 'विवरणं प्रसारणं' इति लक्ष्मण टिप्पणकेनोक्तम्— तत्रैव डल्लणः) अर्थात्— शल्यस्थल को नग्न कर देना "विवरण" कहलाता है। नाडीव्रण, भगन्दर आदि में मांस आदि को काट कर पूय केन्द्रों को नग्न कर देते हैं जिससे वहां औषध का प्रत्यक्ष प्रयोग किया जा सके।

अस्थिमुण्डों (Heads.) के भग्न होने पर उनकी कील से स्थापना करने के लिये विवरण करना अनिवार्य होता है। गम्भीर धातुओं में स्थित शल्य को पकड़ कर बाहर निकालने के लिये भी त्वङ् मांसादि का छेदन कर विवरण किया जाता है।

(१९) विकर्षण (विगृह्याकर्षणम्—चक्रपाणिदत्तः; अन्ये मांसादि प्रतिबद्ध शल्यस्य मोचनमाहु :—डल्लणः) अर्थात् जब शल्य मांसादि दृढ धातुओं में संलग्न होता है तो निकालने के लिये उसे बल पूर्वक पकड कर खेंचते हैं। यह क्रिया "विकर्षण" (Extraction) यन्त्र कर्म कहलाती है। अस्थि विदष्ट शल्य भी विकर्षण द्वारा निकाला जाता है (अस्थि विदष्टं वाऽवगृह्य पादाभ्यां यन्त्रेणापहरेत्— सु. सू. २७-१०) दन्तनिष्कर्षण के लिये भी विकर्षण करना होता है (चलमुद्धृत्य च स्थानम्— सु. चि. २२-४०)

(२०) एषण (व्रणगत्याद्यनुसरणम्— चक्रपाणिदत्तः; गण्डूपदमुखेन गतेर्व्रणोत्संग शल्यादीनाम्— डल्लणः) अर्थात्—एषणी (Probe) नामक शलाका के द्वारा व्रणमार्गों, उनके उत्संग (Pocket) आदि की खोज (एषण) करना 'एषण' (Exploration) कहलाता है। व्रण में जब पूय दूरस्थित स्थान से आती हो, शल्य गर्भ व्रणों में, उन्मार्गी भगन्दर तथा उत्संगी व्रणों की गतियों को जानने के लिये शलाका द्वारा एषण कर्म किया जाता है। एतदर्थ अंगुली, बाल आदि का उपयोग भी किया जाता है।

(२१) दारण (शिरः कर्णादि द्विधाकरणम्— चक्रपाणिदत्तः; दारणं विदारणम्— डल्लणः, सु. सू. ३६) अर्थात् — यद्यपि जब व्रणशोथ मर्म के ऊपर या स्त्री, बाल, भीरु, वृद्ध आदि में उपस्थित होता है तो उसका शस्त्र से भेदन न कर औषध प्रयोग द्वारा 'दारण' करते हैं (पक्व मभिद्यमानं भेदयेद्दारयेद् वा—– सु. सू. २७) एतदर्थ चिरविल्व (वृद्धकरंज) आदि की अपेक्षा क्षार सर्व श्रेष्ठ होता है (क्षारो वै दारणं परम्—– सु. सू. ३६) किन्तु यहां दारण से अभिप्राय शल्य के शिर और कर्ण आदि का विभक्त करना प्रतीत होता है जिससे उसे सुविधापूर्वक निकाला जा सके (दारणं विषमसंहितानामस्थ्नां द्विधाकरणम्—– हाराणचन्द्रः) पूर्ववर्णित दारण औषध कर्म है। दारण को उपयन्त्र भी माना है।

(२२) प्रक्षालन (तोयादिभिः व्रणोत्संगादीनाम्—– डल्लणः) अर्थात् —उत्संग युक्त व्रण, मल-मूत्राशय तथा कर्ण आदि में उपस्थित दोषों को दूर करने के लिये शोधन-कषाय आदि से विभिन्न प्रकार के यन्त्रों की सहायता से 'प्रक्षालनकर्म' किया जाता है। एतदर्थ बस्ति, व्रणबस्ति, उत्तरबस्ति आदि

यन्त्र प्रयुक्त होते हैं। कर्ण प्रक्षालन के लिये कर्णबस्ति (Ear syringe.) को उपयोग में लाया जाता है।

(२३) प्रधमन (चूर्णस्य नाडीयन्त्रेण प्रणयनम्-- चक्रपाणिदत्तः; श्लेष्मशल्यसङ्गे नासिकायां नाड्या चूर्णक्षेपणम् – डल्लणः) अर्थात्-- नासा कर्ण आदि की गुहा में औषध चूर्णों को नाडी यन्त्र की सहायता से इस प्रकार अन्दर प्रक्षिप्त करते हैं जिससे औषध दूर तक पहुंच सके। प्रधमननस्य में औषध प्रयोग द्विमुखी नाडी द्वारा इसी प्रकार किया जाता है (द्विमुखया नाड्या भेषजगर्भया— चक्रदत्तः)

(२४) प्रमार्जन (प्रोञ्छनं बालांगुली वस्त्रै रक्षिरजः शल्यादिषु— डल्लणः) अर्थात्-- नेत्रादि में धूल के सूक्ष्म कणादिप्रकार के शल्यों को दूर करने के लिये बाल, अंगुली तथा वस्त्र से पोंछना 'प्रमार्जन' कहलाता है (अणुन्यक्षशल्यानि परिषेचनाध्मापनै बाल वस्त्रपाणिभिः प्रमार्जयेत्— सु. सू. २७–५)

जैसाकि यन्त्र कर्मवर्णन के आरम्भ में ही उल्लेख किया गया है, यंत्र–कर्म अनेक प्रकार के होते हैं। निर्घातन आदि मार्ग दर्शन मात्र हैं। सुश्रुत के अनुसार शल्य चिकित्सक स्वबुद्धि से आवश्यकतानुसार यन्त्र कर्मों का परिगणन करले। वस्तुतः शल्य असंख्य होने से यन्त्र भी अनेक होते हैं और इस प्रकार यन्त्रकर्म भी अपरिसंख्येय हैं। भिन्न २ प्रकार के यन्त्रकर्मों की कल्पना करना शल्यक का कर्तव्य है। आजकल चिकित्सा में प्रचलित कुछ एक विशिष्ट यन्त्र कर्म इस प्रकार हैं :—

(i) नाड़ी द्वारा आहार —

कभी २ 'नाडी द्वारा आहार' रोगी की जीवन रक्षा के लिये अनिवार्य होता है। बहुत दिनों तक बेहोश रहने वाले रोगियों, हठधर्मियों और अनेकों व्याधियों में जब रोगी स्वयं अथवा विवशता के कारण मुख से भोजन नहीं कर सकता है तो उसे आहार नाडी (Feeding tube.) द्वारा आहार दिया जाता है। आयुर्वेदज्ञों के लिये यह आहार विधि कोई नवीन पद्धति नहीं है। सुश्रुत ने दन्तभग्न प्रसंग में जब रोगी अभिघात के कारण कुछ भी खा पी नहीं सकता है, ऐसी अवस्था में उसकी जीवन रक्षा के लिये उत्पल नाल को रोगी के नासा या मुख में प्रविष्ट कर क्षीरपान कराने का वर्णन किया है (उत्पलस्य च नालेन क्षीरपानं विधीयते— सु. चि. ३) तथापि नाडी द्वारा आहार' का वर्णन यन्त्र कर्मों में नहीं है।

सम्प्रति पर्याप्त लम्बाई वाले उपयुक्त आकार के रबर ट्यूब को मुख

या नाशारन्ध्र द्वारा दक्षता (Dexterity) से प्रविष्ट किया जाता है। एतदर्थ रोगी को, उसकी भुजाओं को उसके शरीर के साथ वस्त्र से लपेट कर शय्या पर लिटा देते हैं। तदनन्तर घृतादि से स्निग्ध की हुई आहार नाडी को मार्दव के साथ ग्रसनिका (Pharynx) में प्रविष्ट करते हैं तथा इसे स्वरयन्त्र (Larynx) में जाने से बचाते हैं। यदि नाडी स्वर यन्त्र में जा रही हो तो रोगी को बेचैनी होती है।

इस प्रकार रोगी को आहार-नाडी द्वारा दूध, फल रस, ग्लूकोज आदि ऐसे तरल तथा प्रीणन पदार्थ दिये जाते हैं जो आहार नाडी में से आसानी से गुजर सकें।

(ii) नाडीयन्त्र से आमाशय-प्रक्षालन*—

विषैले पदार्थों के सेवन आदि में आमाशय-प्रक्षालन प्राण रक्षा के लिये नितान्त अनिवार्य होता है। एतदर्थ प्रयुक्त नाडी यन्त्र की आकृति आहार नाडी की तरह ही होती है। इसको मुख द्वारा प्रविष्ट कर इसमें से प्रक्षालन द्रव्यों को आमाशय में पहुंचाया जाता है और इसी यन्त्र की सहायता से इन्हें बाहर निकाल देते हैं।

आमाशय-प्रक्षालन के लिये रोगी को सदा अधोमुख लिटाते हैं जिससे उसकी श्वास नलिका में आमाशय से बाहर निकलने वाले पदार्थ न जाने पावें; अन्यथा रोगी की मृत्यु हो सकती है, विशेषकर यदि वह बेहोश हो।

प्रक्षालन-नाडी लगभग ३० से ६० इंच तक लम्बी होती है और इसका २० इंच तक लम्बा भाग मुख में प्रविष्ट कर दिया जाता है। नाडी के आभ्यन्तर प्रविष्ट भाग में छिद्र होता है और दूसरी ओर का प्रान्त फनेल के आकार का होता है। इस फनेल के आकार के प्रान्त को ऊपर उठाकर उसमें से प्रक्षालन तरल को १६ औंस की मात्रा में आमाशय में पहुंचा देते हैं। तदनन्तर इस प्रान्त को नीचे की ओर को ले आते हैं और इस प्रकार आमाशय में डाला गया तरल बाहर निकल आता है। आमाशय में जैसा तरल भरा जाता है यदि उसी तरह का तरल बाहर आने लगे तो यह समझना चाहिये कि आमाशय का प्रक्षालन भली प्रकार हो गया है। आमाशय के प्रक्षालन के लिये लगभग आठ-दस सेर तरल द्रव्य आवश्यक होता है।

आमाशय-प्रक्षालन नाडी को मुख में प्रविष्ट करते समय रोगियों में अधिकतर कास और वमन होने लगते हैं जिससे प्रक्षालन कर्म कठिन हो जाता है। अतः मुख प्रसारक (Mouthgag) और जिह्वा संदंश (Tongue

*Stomach wash.

forceps) की सहायता से ग्रसनिका (Pharynx) और जिह्वा को कोकेनघोल के अवसिञ्चन (Spray) से संज्ञारहित कर लिया जाता है।

अन्त में दो–ढाई छटांक तरल को आमाशय में ही रहने दिया जाता है और नाडी यन्त्र को निकाल लेते हैं।

(iii) सूचिकाभरण (Injection) चिकित्सा— औषध को सीधा रुधिर में पहुंचाना सर्वप्रथम आयुर्वेदज्ञों द्वारा प्रस्फुटित चिकित्साजगत् की एक महान् घटना है (यावत्सूच्या मुखे लग्नं ·····क्षुरेण प्रच्छिते मूर्ध्नि तत्राङ्गुल्या च घर्षयेत्—भै. र.) तदनन्तर इस मार्ग द्वारा औषध प्रयोग का इतना विकास और प्रचार हुआ है कि सभी तरह के चिकित्सकों ने इसे अपना लिया है।

औषधका रुधिर में मिलकर सहसा सारे शरीर में व्याप्त हो जाना तथा तत्काल क्रिया करने के अतिरिक्त सूचिकाभरण का सबसे बड़ा लाभ यह है कि चिकित्सक को क्रियाकर औषध की प्रविष्ट की गई मात्रा का पूरा २ ज्ञान रहता है। मुख द्वारा दी गई औषध का आंशिक शोषण ही हो पाता है।

सूचिकाभरण को विशेष प्रकार के नाडीयन्त्र द्वारा सम्पन्न किया जाता है जिसे आंग्लभाषा में 'सिरिंज' कहते हैं तथा जो इनमें आने वाली तरल की मात्रा के अनुसार २ सी० सी०, ५ सी० सी०, १० सी० सी०, २० सी० सी०, ५० सी० सी० और १०० सी० सी० भेद से अनेक आकार–प्रकार की होती हैं। 'सिरिंज' के अग्रभाग में सूक्ष्माग्र किन्तु भीतर से खोखली सूची लगी होती है जिसे शरीर के अन्दर प्रविष्ट कर पिचकारी (सिरिंज) की सहायता से औषध को अन्दर कर दिया जाता है।

जब औषध को उपत्वचा में प्रविष्ट किया जाता है तो यह 'अधस्त्वगीय (Subcutaneous) सूचिकाभरण' कहलाता है। एतदर्थ अग्रबाहु, बाहु या ऊरु की अधस्त्वक् उपयुक्त होती है। इस मार्ग से दी गई औषध का लसिका तथा रक्तवाहिनियों द्वारा शीघ्र ही शोषण हो जाता है। जब औषध मांसपेशियों में प्रविष्ट की जाती है तो वह 'अन्तःपेशीय (Intramuscular) सूचिकाभरण' कहलाता है। यह अधिकतर नितम्बाच्छादनी (Gluteus) में दिया जाता है। जब औषध देने का यह उद्देश्य होता है कि उसकी क्रिया शनैः २ काफी समय तक होती रहे तो मांसपेशी द्वारा औषध प्रयोग किया जाता है। अन्तःपेशीय सूचिकाभरण देते समय यह सावधानी रखनी चाहिये कि कहीं कोई रक्तवाहिनी या नाड़ी (Nerve) का वेधन न हो जाये। जब सिरा में औषध को प्रविष्ट किया जाता है तो वह 'अन्तःक्षिरीय

(Intravenous) सूचिकाभरण' कहलाता है। इस मार्ग से रुधिर को भी दिया जाता है। सिरा द्वारा औषध या रुधिर का प्रयोग आत्ययिक (Emergency) अवस्था में नितान्त उपयोगी तथा प्राणरक्षक होता है। एन्टीमोनी (Antimony) के योग आदि कुछ ऐसी औषध हैं जो केवल सिरा द्वारा ही दी जा सकती हैं। इस मार्ग द्वारा दी जाने वाली औषध रुधिर के साथ पूर्णतः घुलनशील होनी चाहिये। मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis) आदि में अन्तः सौषुम्न (Intraspinal) सूचिकाभरण दिया जाता है।

(iv) कृत्रिम श्वसन

(Artificial Respiration)

शीतलेन जलेनैनं मूर्च्छन्तमवसेचयेत्।
संरक्षेदस्यमर्माणि मुहुराश्वासयेच्चतम् ।। सु. सू. २७-७।
आश्वासयेत् आसमन्तात् श्वासक्रियां कारयेदित्यर्थः।

अर्थात्—मूर्च्छित होते हुये व्यक्ति का उसके मर्मों की रक्षा करते हुये शीतल जल से अवसेचन करना चाहिये तथा आवश्यकतानुसार भली-भांति श्वासक्रिया भी करानी चाहिये।

कृत्रिमश्वसन में क्रिया को शीघ्रता से सम्पन्न करने की भूल करना स्वाभाविक बात है। दृढ़ता पूर्वक शनैः २ श्वास क्रिया कराना सर्वोत्तम होता है। वयस्क व्यक्तियों के लिये एक मिनट में दस बार श्वसन क्रिया करानी चाहिये और बालकों में कुछ अधिक बार करायी जाती है। इस क्रिया को शीघ्रता से सम्पन्न करने से रोगी को कोई लाभ नहीं होता, कर्ता को केवल श्रान्तता ही होती है। इस क्रिया को करते रहने का समय परिस्थितियों पर निर्भर करता है। साधारणतः यह समझा जाता है कि इस क्रिया को कम से कम २० मिनट तक करते रहना चाहिये किन्तु इससे अधिक समय तक श्वसन-क्रिया करते रहने से भी सफलता प्राप्त हुई है। वैद्युतस्तब्धता से पीड़ित एक रोगी में आठ घन्टे तक कृत्रिम श्वसन करते रहने से सफलता प्राप्त होने का उदाहरण भी है।

एतदर्थ प्रयोग में लाई जाने वाली अनेकों कृत्रिम श्वसन विधियों में से कुछ एक विधियों का वर्णन यहां किया जा है—

(क) अधोमुख पद्धति— जल में डूबने से मूर्च्छित हुये व्यक्ति को होश में लाने के लिये यह पद्धति सर्वोत्तम है। अधोमुख लिटाये हुये मूर्च्छित व्यक्ति के शिर से छः इंच दूरी पर चिकित्सक सुविधानुसार एक या दोनों घुटनों को

मोड़ कर बैठता है। मूर्च्छित व्यक्ति की भुजाओं को उसके हाथों पर चेहरे को किसी एक ओर को घुमाकर, टिका देते हैं। तदनन्तर निम्नलिखित वर्णन के अनुसार कृत्रिम श्वसन कराया जाता है—

(१) (एक क्षण तक) चिकित्सक अपनी हथेलियों को रोगी के अंसफलकों (Scapulae) पर इस प्रकार टिकाता है कि अंगुलियां बाहर और नीचे की ओर होती हैं।

(२) (दो क्षण तक) तदनन्तर चिकित्सक अपनी कोहिनियों को सीधा ही रखकर शनैः २ आगे की ओर को झुकता है जब तक कि उसकी भुजाएं ऊर्ध्वाधर रेखा में नहीं हो जातीं। इससे रोगी के वक्षःस्थल पर सीधा दबाव पड़ता है।

(३) (एक क्षण तक) तत्पश्चात् चिकित्सक शनैः २ पीछे को हटता है और अपने हाथों को रोगी की कोहिनियों की ओर लाकर, पीछे को हटता हुआ ही, उसकी भुजाओं को पकड़ लेता है।।

(४) (दो क्षण तक) चिकित्सक रोगी की भुजाओं को, खिचाव की प्रतीति होने तक, ऊपर उठाता है और कुछ अपनी ओर को खींचता है। अन्त में रोगी की भुजाओं को यथावत् नीचे ले आते हैं और इस प्रकार एक क्रम (Cycle) सम्पन्न किया जाता है। यह "एच० नेलसन की पद्धति" भी कहलाती है।

यह कृत्रिम श्वसन–क्रम एक मिनट में दस बार करना चाहिये।

(ख) प्रत्यक्ष पद्धति — एलिशा (Elisha) द्वारा आविष्कृत इस पद्धति में चिकित्सक अपने मुख को बारीक वस्त्र से ढके हुए रोगी के मुख पर रखता है और वायु को रोगी के फुपफुसों में अन्तः प्रविष्ट करने का प्रयत्न करता है। यह पद्धति शिशुओं (Infants) और बालकों (Children) में विशेष रूप से उपयोगी है। भग्न पार्शुका वाले व्यक्तियों में भी जहां वक्षः-स्थल पर दबाव डालना निषिद्ध है, इस पद्धति को अपनाया जाता है। नासा या मुख पर रूमाल रख कर इसके द्वारा हवा फूंकी जाती है। बालकों में मुख द्वारा ही हवा फूंकना उपयोगी है क्योंकि इस मार्ग में ग्रसनिका ग्रन्थि (Ad-enoid) के तन्तुओं द्वारा अवरोध की सम्भावना नहीं होती है। मुख मार्ग से हवा भरते समय नासा-रन्ध्रों को बन्द कर देते हैं तथा हनु को आगे की ओर को ले आते हैं। इसी तरह नासा द्वारा हवा भरते समय मुख को बन्द रखा जाता है। इस प्रकार वायु फुपफुसों में प्रविष्ट हो जाती है तथा उसे निकालने के लिये वक्षःस्थल पर हल्का दबाव डालना पर्याप्त होता है। इस विधि को

प्रत्येक पांच क्षण के उपरान्त दुहराया जाता है।

(ग) ऊर्ध्व मुख पद्धति— यदि रोगी को पीठ के सहारे लिटाने में किसी प्रकार की निषिद्धताएं न हों (जैसे— डूबना, वात अन्तःशल्यता) (Air Embolism) तो यह पद्धति बहुत उपयोगी प्रमाणित हुई है। यद्यपि दो व्यक्तियों की सहायता से यह आसानी से की जा सकती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति रोगी की भुजा को पकड़े रखता है और दोनों एक साथ कृत्रिम श्वसन–क्रिया की इस पद्धति को सम्पन्न करते हैं, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर एक व्यक्ति भी इस पद्धति को प्रयुक्त कर सकता है। यह आवश्यक है कि रोगी की जिह्वा को बाहर पकड़ कर रखा जाय।

इसमें रोगी को पीठ के सहारे लिटाते हैं और चिकित्सक रोगी के सिर की ओर अपने घुटनों के सहारे बैठ जाता है। तदनन्तर अन्तः श्वसन (Inspiration) के लिये चिकित्सक रोगी के अग्रबाहुओं को पकड़ कर तथा ऊपर की ओर ले जा कर अपनी जंघाओं के पास ले आता है, रोगी का चेहरा किसी एक ओर को घुमाया हुआ होता है। तत्पश्चात् अग्रबाहुओं को उसके वक्षःस्थल के अधोभाग में ला कर मध्यरेखा में मिला देते हैं। ऐसी अवस्था में चिकित्सक आगे की ओर को झुकता है। इस प्रकार एक क्रम पूरा होता है। यही क्रम प्रति मिनट आठ–दस बार करना चाहिये। कृत्रिम श्वसन की ऊर्ध्व-मुख पद्धति Silvester's method भी कहलाती है।

(घ) पार्श्वीय पद्धति— इसमें रोगी को वाम पार्श्व पर लिटाते हैं जिसमें रोगी की वाम भुजा और टांग साधारण रूप से कुछ मुड़ी हुई होती है। शिर को तकिए के सहारे टिका दिया जाता है। चिकित्सक रोगी के पीठ पीछे बैठ कर तथा उसके वक्ष के बहिःपार्श्व पर अपने दोनों हाथों से दबाव डाल कर बहिःश्वसन (Expiration) उत्पन्न करता है और तत्पश्चात् अन्तः-श्वसन के लिये उसकी दाहिनी पश्चाद्भुजा (Humerus) को ऊपर और पीछे की ओर को उठाता है। इस प्रकार एक क्रम पूरा होता है जिसे प्रति मिनट आठ–दस बार किया जाता है। यह पद्धति Copenhagen method भी कहलाती है।

(ङ) विधूनन पद्धति— यदि रोगी का स्वास्थ्य उत्तम हो तो उसे स्ट्रेचर के ऊपर बांध देते हैं और उसे प्रति मिनट बीस बार ५०°, कोण पर से नीचे ऊपर करते हैं। रोगी डूबने से बेहोश हुआ हो तो उसे अधोमुख लिटाते हैं अन्यथा ऊपर की ओर को मुख करके ही लिटाना चाहिये। यह पद्धति Eve's method भी कहलाती है।

सुश्रुत ने पानी में डूबने से मूर्च्छित और उदकपूर्णोदर व्यक्ति को होश में लाने के लिये लगभग इसी प्रकार की पद्धति का उल्लेख किया है, जैसे —

"उदकपूर्णोदरमवाक्शिरसमवपीडयेत् धुनीयात् वामयेद्वा...... सु. सू. २७–१५"; अवाक् शिरस मधोमुखी कृतम्, अवपीडयेत् उदरम्, धुनुयात् कम्पयेत्, घर्षणैरवाक् शिरस मेव— डल्लणः।

अर्थात् — उदकपूर्णोदर व्यक्ति को अधोमुख लिटा कर उसका (वक्षः-स्थल का) अवपीडन करना चाहिये अथवा विशिष्ट विधि द्वारा (जैसे—ईव की पद्धति) उसका विधूनन (कम्पन) कराना चाहिये या वमन करावें।

यह वर्णन उपलक्षण मात्र है । वास्तव में ऊपर वर्णित सभी कृत्रिम श्वसन–पद्धतियों में रोगी को अवपीडन या विधूनन द्वारा ही होश में लाने का प्रयत्न किया जाता है।

श्वास–केन्द्र शरीर का नितान्त महत्त्वपूर्ण मर्म है। कृत्रिम श्वसन इसी की रक्षा का एक प्रयत्न है (संरक्षेदस्य मर्माणि मुहुराश्वासयेच्चतम्— सुश्रुतः)

इसी प्रकार रक्त भार (Bloodpressure.) मापन, रुधिरान्तः-क्षेप (Blood transfusion.) आदि अन्य भी अनेक प्रकार के यन्त्र कर्मों का आजकल चिकित्सा में बहुलता से प्रयोग होता है ।

उपयन्त्र अथवा अनुयन्त्र,

"उपयन्त्राणीति यन्त्रसमीपवर्तीनि, हीनयन्त्राणीत्यन्ये"—डल्लणः

अर्थात्—जो यन्त्र न होते हुये भी यन्त्रों की तरह कार्य करते हैं, अथवा उनकी सहायता करते हैं वे 'अनुयन्त्र' या 'उपयन्त्र' कहलाते हैं। सुश्रुत ने २५ प्रकार* के अनुयन्त्र' गिनाये हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) रज्जु (२) वेणिका (३) पट्ट (४) चर्म (५) अन्तर्वल्कल (६) लता (७) वस्त्र (८) अष्ठीलाश्म (९) मुद्गर (१०) पाणि तथा पादतल (११) अंगुली (१२) जिह्वा (१३) दन्त (१४) नख (१५) मुख (१६) बाल (१७) अश्वकटक (१८) शाखा (१९) ष्ठीवन (२०) प्रवाहण (२१) हर्ष (२२) अयस्कान्त (२३) क्षार (२४) अग्नि (२५) दारण।

*उपयन्त्राण्यपि—रज्जुवेणिका पट्ट चर्मान्तर्वल्कल लतावस्त्राष्ठीलाश्म मुद्गर पाणिपादतलाङ्गुली जिह्वा दन्तमुखं नख बालाश्व कटक शाखा ष्ठीवन प्रवाहण हर्षायस्कान्त मयानि क्षाराग्नि भेषजानि चेति—सु. सू. ७।

इनका तथा कुछ एक अन्य उपयोगी उपयन्त्रों का वर्णन इस प्रकार है–

(१) रज्जु—(मुञ्जादिविरचितोगुणः—डल्लणः) यह मूंज आदि के रेशों से बनाई गई रस्सी होती है जो बन्धन के कार्य आती है। रज्जु द्वारा बन्धन कर्म की आवश्यकता सर्पदंश आदि में होती है। विष को फैलने से रोकने के लिये तत्काल दंश स्थान से हृदय की ओर के भाग पर कस कर 'अरिष्टा' लगाने का उल्लेख है (दंशस्योपरि बध्नीयादरिष्टां चतुरंगुले--वा. उ. ३६-४२ सातु रज्वादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी मता—सु. कल्प. ५–६; तत्रविषे रज्वा अरिष्टा बन्धो वक्तव्यः— चक्रपाणि सु. सू. १८)

(२) वेणिका—(सन्दष्ट गुणत्रयकृता—चक्रपाणिः) यह विशेष प्रकार की रज्जु है जो तीन रस्सियों को वेणी की तरह गूंथ कर (वेणिका गुणत्रय ग्रथिता—ड.) बनाई जाती है (अत्र वेणिका रचनाविशेष रचिता केशावली वा—हाराणचन्द्रः) इसका उपयोग भी बन्धन के लिये होता है, विशेषकर जहां दृढ बन्धन की आवश्यकता होती है।

(३) पट्ट - यह व्रणबन्धन में प्रयुक्त किया जाने वाला वस्त्र है (मृदुपट्टं निवेश्य बध्नीयात्—सु. सू. १८) एतदर्थ कई प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख व्रण बन्धन द्रव्यों के प्रकरण में किया गया है, जैसे —चीन पट्ट (चीन-देशभवं वस्त्रम्—चक्रपाणिः) क्षौम (शणतन्तु वस्त्रम्) कार्पास वस्त्र, आविक (मेषलोमकृतम्) दुकूल (बल्कल विशेषभवम्) कौषेय (कोषाकार जन्तुकृत-तन्तुमयम्) आदि। भग्न चिकित्सा में भी पट्ट का प्रयोग कर कुशा लगाने का उल्लेख है (पट्टोपरि कुशान् दत्वा—सु. चि. ३; दत्वा वृक्षत्वचः शीता वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत्—सु. चि. ३)

(४) चर्म—इसकी बनी रज्जुओं का उपयोग भी बन्धन के लिये होता है। ये कई तरह की होती हैं। चपटे चर्म पट्ट के मध्य में छिद्रकर उससे गुद-भ्रंश (Rectal Prolapse) में गोफणाबन्ध (T–shaped bandage) बांधते हैं (कारयेद् गोफणाबन्धं मध्यच्छिद्रेणचर्मणा—सु. चि. २०) इसी प्रकार चौड़े चर्मवस्त्र से निस्रुतजलोदर में उदर को बांधा जाता है (आविक कौशेय चर्मणामन्यतमेन परिवेष्टयेदुदरम्—सु. चि. १४) व्रण बन्धन द्रव्यों में चर्म का उल्लेख किया है। सर्पदंश में अरिष्टाबन्ध के लिये चर्मरज्जु से बांधने का वर्णन है। आज कल भी गुद के शस्त्र कर्मों, भगंदर, अर्श आदि में पैरों को बांधने के लिये चर्म पट्ट का उपयोग होता है जो लिथोटोमी स्ट्रेपस (Lithotomy straps) कहलाते हैं।

(५) अन्तर्वल्कल—(तरु वल्कल मध्यभवं वल्कलं—चक्रपाणिः सु.

सू. १८) काञ्चनार आदि वृक्षों के बल्कलों (छाल) का आभ्यन्तर भाग जो काण्ड से लगा होता है वस्त्र की तरह मृदु और दृढ़ होता है उसको बन्धन-कार्यों में प्रयुक्त करते हैं तथा आवश्यकतानुसार व्रण सीवन में भी यह व्यवहृत होता है (बल्कलेनाश्मन्तकस्य च । सीव्येत्—सु. सू. २५) भग्नकुशाओं में बाह्य वल्कल प्रयुक्त होता है अन्तर्वल्कल नहीं।

(६) लता—ये मृदु, दृढ़ तथा लचकीली बल्लियां (बेलें) होती हैं जो आवश्यकता पड़ने पर बन्धनार्थ प्रयुक्त होती हैं।

(७) वस्त्र—इसका नाना प्रकार का उपयोग होता है। शस्त्रकर्म में विसंक्रमित वस्त्र खण्डों को रोगी के अतिरिक्त भाग को ढकने में प्रयुक्त करते हैं। बन्धन वस्त्र (Bandage) के रूप में इसका प्रमुख उपयोग होता है। इसके अतिरिक्त विकेशिका (कल्क मधुघृताभ्यक्त वस्त्रस्य सूत्रस्य वा वर्तिः—ड.) तथा कवलिका (बहुवस्त्रखण्ड पुटनिर्वर्तिता कवलिका—अरुण-दत्तः) का निर्माण भी वस्त्र के द्वारा ही सम्पन्न होता है। पिचु भी वस्त्र निर्मित ही बताया गया है (कार्पासमयो नक्तक श्चैलखण्डः—अ. द.)

(८) अष्ठीलाश्म—(अष्ठीला उत्तरापथे वर्तुलः पाषाण विशेष, इति जेज्जट मतानुवादी कार्तिकः, कर्मकाराणां वर्तुला दीर्घा लौह भाण्डीति गयदासः—डल्लणः सु. नि. १) यह दृढ़ बना हुआ पाषाण है जिसके अनेकों उपयोग हैं। सुश्रुत ने कुछ विकारों का स्वरूप प्रदर्शन करने के लिये अष्ठीला की उपमा दी है, जैसे—अष्ठीला (अष्ठीलावद्घनो ग्रन्थिः—सु. नि.) और प्रत्यष्ठीला वात–व्याधियां तथा अष्ठीला नामक मूत्राघात विकार (कुर्यात्तीव्रार्ति मष्ठीलां मूत्रविण्मार्ग रोधिनीम्—माधवः) अस्थि में दृढ़ता पूर्वक फंसे शल्य को अष्ठीला से प्रहार कर विचलित करने के उपरान्त यथा मार्ग से निकालने का भी वर्णन है (अस्थिदेशोत्तुण्डित मष्ठीलाश्म मुद्गराणामन्यत मस्य प्रहारेण विचाल्य यथामार्गमेव—सु. सू. २७)

(९) मुद्गर का उपयोग भी अस्थि विदष्ट शल्य को चलाने के लिये होता है जिससे वह आसानी से निकाला जा सके।

(१०) पाणितल तथा पादतल और (११) अंगुली—हस्ततल या हस्त को उपयन्त्रों में परिगणन करने के अतिरिक्त उसे सभी प्रकार के यन्त्रों से सर्वश्रेष्ठ भी बताया है क्योंकि यन्त्रों तथा उपयन्त्रों को प्रयोग में लाना हाथों के ही अधीन होता है (अत्र हस्तमेव प्रधानतमं यन्त्राणामवगच्छ, किं कारणं ? यस्माद्धस्तादृते यन्त्राणामप्रवृत्तिरेव तदधीनत्वाद्यन्त्र कर्मणाम्—सु. सू. ७) व्रण शोथ की आमावस्था में सात प्रमुख उपक्रमों में प्रथम विम्ला-

पन उपक्रम में (विम्लापन मंगुल्यादिना मर्दनम्— च. पा.) अंगुलियों द्वारा पीड़ित स्थान का मर्दन कर किया जाता है (आदौ विम्लापनं कुर्यात्—सु. सू. १७-१७) ग्रास शल्य से छुटकारा पाने के लिये सहसा मुष्टि प्रहार बताया गया है (ग्रास शल्ये कण्ठासक्ते निःशंकमनवबुद्ध स्कन्धे मुष्टिनाऽभिहन्यात सु. सू. २७-१७) भग्न और संधिमुक्त में हस्तकौशल का प्रमुख स्थान है। श्रोणिसंधिमुक्त (Dislocation of hip-joint) में चक्रवद्भ्रमण (Circumduction) और आञ्छनपद्धति (Traction Method) हस्त-व्यापार से ही सम्पन्न होते हैं (मतिमान् चक्रयोगेन ह्याञ्छेदूर्वस्थिनिर्गतम्-सु. चि. ३) अधोहन्वस्थि के संधिमुक्त की चिकित्सा में अंगुष्ठ और अंगुलियों का विशेष उपयोग किया जाता है (अंगुष्ठाभ्यां प्रपीड्य च । प्रदेशनीभ्यां चोन्नाम्यचिबुकोन्नामनंहितम्-च. चि. २८)

इसी प्रकार कृत्रिम श्वसन क्रिया (Artificial Respiration) के लिये भी हस्तकौशल अपेक्षित है। अपरा का पात न हो तो केशवेष्टित अंगुली को प्रसूता के गले में फेरा जाता है (तस्मात्कण्ठ मस्याः केशवेष्टितयाऽङ्गुल्या प्रमृजेत्-सु. शा. १०) रोगपरीक्षण में अंगुली आदि विशेष रूपसे सहायक होते हैं। पौरुषग्रंथि की वृद्धि (Enlargement of the prostate) का ज्ञान मलद्वार से प्रविष्ट अंगुली से ग्रन्थिका स्पर्श करने पर भी होता है। इसी प्रकार पुच्छान्त्रशोथ (Appendicitis) आदि के रोग, निर्णय में भी अंगुली-प्रयोग उपयोगी होता है। दूसरे और तीसरे मास की गर्भस्थिति के निर्णयार्थ अंगुली प्रयोग द्वारा सफलता प्राप्त होती है, यह विधि हेगार का चिन्ह (Hegar's sign) कहलाती है। इसी प्रकार के अन्य भी कई उदाहरण हैं जिनसे हस्त और अंगुलियों की उपगोगिता सिद्ध होती है। विद्रधि में पूयनिर्मिति का निर्णय दोनों ओर अंगुलियों को रख कर एक ओर से धकेलने से होना बताया है (बस्ताविवाम्बुसंचारः स्वाच्छोथेंऽगुलिपीड़िते-वा.)

पादतल के सहारे अस्थिविदष्ट शल्य को निकालने का निर्देश किया है (अस्थिविवर प्रविष्ट मस्थि विदष्टं वाऽवगृह्य पादाभ्यां यन्त्रेणापहरेत्-सु. सू. २७) अंस संधिमुक्त की आञ्छन चिकित्सा में शल्यचिकित्सक प्रत्याञ्छन (Counter extension) के लिये रोगी की कक्षा में अपने नंगे पैर को रख कर खैंचता है। इसी प्रकार कूर्पर संधिमुक्त (Elbow dislocation.) में चिकित्सक अपने जानु का उपयोग करता है।

(१२) जिह्वा—जिह्वा का प्रत्यक्ष प्रयोग अस्वास्थ्य कर होता है. अतः मधुमेह की उपस्थिति के ज्ञानार्थ चींटियों के समूह को देखकर अनुमान

से अप्रत्यक्ष जिह्वा प्रयोग को उपयोग में लाते हैं (षट्पद पिपीलिकाभिश्च शरीर मूत्राभिसरणम् –च. नि. ४–४६) चक्रपाणि ने रसज्ञानार्थ जिह्वा के प्रत्यक्ष प्रयोग का स्पष्ट निषेध किया है (पिपीलिकोपसर्पणेन यन्माधुर्यानुमानान्मेहविशेषावधारणं तदप्यनुमतं सूचितं भवति। रसन प्रत्यक्षं तु आतुरगतं नेच्छन्ति–एव । यदाह चरकः—मनुष्योहि मनुष्यस्य कथं रसमवाप्नुयात्। तमनेनानुमानेन विद्यात् विकृतिमागतम्—चं. इ. अ. २–२०) अतः अनुमान से, अप्रत्यक्षरूप में जिह्वा का रोगनिर्णयार्थ यन्त्र की तरह उपयोग होता है।

नेत्रगत शल्य के लिये भी जिह्वा का उपयोग बताया गया है (जिह्वाऽक्षिरजः शल्यादीनामवलेहनेनापनयनार्थम्—चक्रपाणिः, सु. सू. ७) जब धूल आदिका सूक्ष्मकर्ण नेत्रच्छद की श्लैष्मिककला में अथवा कनीनिका (Cornea) में चुभकर बैठ जाता है तो उसे दूर करने के लिये आवश्यकतानुसार जिह्वा का उपयोग भी बताया गया है।

उपमा द्वारा प्रतिपाद्य विषय को अधिक स्पष्ट करने के हेतु भी जिह्वा का उल्लेख किया गया है, जैसे–पैत्तिक अर्शोऽकुर की शुक जिह्वासदृश आकृति होती है (शुक जिह्वा यकृत्खण्ड—वा. ३–७), शुद्धव्रण जिह्वातलाभ होता है (जिह्वातलाभोऽति मृदुः—माधवः) आदि २।

चक्रदत्त ने व्रण शोथ चिकित्सा में कुक्कुरजिह्वा को क्षत और विद्ध में परम रोपण बताया है।

(१३) दन्त— "तत्प्रतिरूपकाणि वेति, दन्तशृंगादिकृतानि च यन्त्राणि भवन्तीत्यर्थः—चक्रपाणिः" अर्थात्—यन्त्रादि के निर्माण के लिये यद्यपि प्रधानतया लोह का उपयोग होता है किन्तु आवश्यकतानुसार ये दन्त, विशेषरूप से गजदन्त, आदि के भी निर्मित होते हैं। अर्शोयन्त्र के निर्माणार्थ दन्त के उपयोग का सुझाव भी है (तत्र यन्त्रं लौहं दान्तं शार्ङ्गं वार्क्षं वा—सु. चि. ६–६)

व्रणचिकित्सा में व्रण वस्तु (Scar) पर बाल उगाने के लिये जो रोमसंजन उपाय बताया है उसका मुख्य घटक हस्तिदन्त मसी है (हस्तिदन्त-मसीं कृत्वा—सु. चि. १) जिसके संबंध में लिखा है कि यह हस्ततल पर भी बाल उगा देता है (रोमाण्येतेन जायन्ते लेपात्पाणि तलेष्वपि—सु. चि. १) और डल्लण ने इस गुण के प्रत्यक्ष दर्शन भी किये है (अयं योगः केश शाते सति बहुशो दृष्ट प्रत्ययः— ड०)

दारण (शस्त्र के बिना केवल औषधयोगों से विद्रधि को फाड़ना)

कर्म के लिये गोदन्त की बहुत प्रशस्ति लिखि है कि रगड़ कर लगाए गये इसके बिन्दु मात्रप्रलेप से विद्रधि फट जाती है (गवां दन्तं जलेघृष्टं बिन्दु-मात्र प्रलेपनात् । अत्यर्थकठिने वापि शोथे पाचन भेदनम्—चक्रदत्त:, व्रणशोथ चिकित्सा)

वातिक अश्मरी की असह्यवेदना के परिणाम स्वरूप रोगी दान्त कट कटाता है (भृशं चार्तो दन्तान्खादति वेपते–वा० ३–६) निष्प्रयोजन दांत कट कटाना असभ्यता माना जाता है (नदन्तान् विघट्टयेत्—च. सू. ८)

(१४) नख—दृश्य सूक्ष्म शल्यों को नख से पकड़ कर निकाला जाता है। शस्त्रकर्म में मांसस्तरों को पृथक् करने में नख प्रयुक्त होता है। नखों द्वारा संक्रमण न फैल जाय एतदर्थ शल्यचिकित्सक को "क्लृप्तनख" होना बताया है। नखों के व्रण विषावत हो जाते हैं अतः उन्हें कृच्छ्रव्रणों में सम्मिलित किया है।

नखों का वर्ण रोग निर्णायक होता है। हारिद्रवर्ण नख कामला के परिचायक हैं (हारिद्रत्वङ् नखानन:—च. ६–१६) नखों को परस्पर बजाना अशिष्टता है (ननखान् वादयेत्—च. सू. ८–१८) स्वास्थ्य की दृष्टि से पंद्रह दिन में तीन बार नाखून कटवाने चाहिये (त्रि: पक्षस्य केश श्मश्रु-लोम नखान् संहारयेत्—च. सू. ८) विषदाता व्यक्ति नाखूनों से नोचने का अभिनय करता है (नखैः किञ्चिद् छिनत्यपि—सु. कल्प १)

(१५) मुख—आचूषण यन्त्रक्रिया में मुख का प्रमुख रूप से उपयोग होता है। आजकल Clapp's Suction Ball तथा अन्य इसी प्रकार के यन्त्र भी प्र युक्त होते हैं। सर्पविष के स्थान का व्रण रहित मुख द्वारा, आवश्यकता पड़ने पर, आचूषण बताया है। Enumeration of Red blood Corpuscles के लिये जो Haemocytometer प्रयुक्त होता है उससे रुधिर प्रायः मुख द्वारा ही खेंचते हैं। शृंग नामक उपयन्त्र का उपयोग मुख द्वारा ही होता है।

कृत्रिम श्वसन क्रिया (Artificial Respiration) के लिये भी मुख का प्रयोग होता है। मूर्च्छित रोगी के पुनश्चैतन्य (Resuscitation) के लिये जो मुख द्वारा श्वसन क्रिया कराई जाती है वह "प्रत्यक्ष पद्धति" (Direct Method) कहलाती है। यह पद्धति सर्व प्रथम Elisha द्वारा व्यवहृत हुई थी। (पृष्ठ २४३ पर देखें)

(१६) बाल—अनेक प्रकार से प्रयोग में लाये जाने पर बाल यन्त्र की तरह क्रिया करने के लिये व्यवहृत होते हैं। (i) सीवन (Suturing)

उपकरणों में बाल का पाठ है (स्नायुवा बालेन वा पुनः– सु. सू. २५) एतदर्थ अश्वबाल विशेष रूप से उपयोगी होता है। (ii) शिरोव्रण में 'बाल वर्ति' के रूपमें बालों का उपयोग बताया है अन्यथा मस्तुलुंग के निकल आने की संभावना होती है (बालवर्त्यामदत्तायां मस्तुलुंगत्रणात्स्रवेत्— सु. चि. २) (iii) किसी अस्थि खण्ड के गले में फंस जाने पर केशोण्डुक (Probang) नामक यन्त्र की सहायता से उसे निकालने का वर्णन है जो बालों का ही बनाया जाता है। (iv) जब प्रसव के पश्चात् अपरा पतन न हो रहा हो तो अंगुली पर केश लपेट कर उसे रुग्णा के गले में घुमाने का वर्णन है (केशवेष्टितयाऽगुंल्या प्रमृजेत् – सु. शा. १०) इससे प्रसूता वमनार्थ बलप्रयोग करती है जिसके परिणाम स्वरूप उदर के अधोभाग में दबाव पड़कर अपरा पातन में सहायता मिलती है। (v) बालों की प्राकृतिक पंक्ति को 'रोमराजी' कहा है और यह शरीर के आभ्यन्तर अवयवों की स्थिति को बताने में सहायक होती है जिससे शल्यकर्म आदि करते समय वे क्षतिग्रस्त न होने पावें, जैसे–जलोदर में वेधनार्थ रोमराजी से बांई ओर चार अंगुल स्थान छोड़ने के लिये कहा है (अधोनाभेः वामत श्चतुरंगुल-मपहाय रोमराज्याः—सु. चि) (vi) मांसाकुर आदि को बाल से बांध कर भी उनका छेदन किया जाता है (vii) अक्षिपक्ष्मों के सम्मीलन को सद्यो गृहीत गर्भ का लक्षण बताया है (अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः समील्यन्ते विशेषतः- सु. शा.) आदि २।

(१७) अश्वकटक—*(घोटक कविका चूडकम्–ड.) अश्वकटक घोड़े की लगाम का कुण्डलाकार लोह निर्मित भाग होता है जो मुख के नीचे लटक रहता है। जब अस्थि में शल्य दृढता पूर्वक अन्तरासक्त हो जाता है तो उसे मनुष्य शक्ति (Man power.) से खेंचना असंभव होता है अतः ऐसी अवस्था में अश्वबल (Horse power.) अपेक्षित होता है। अस्थिगत शल्य को पंचांगी बन्धसे अश्वको स्थिर करने के उपरान्त कटक से बांध दिया जाता है और तत्पश्चात् अश्वको चाबुक से इस प्रकार ताड़ित करते हैं कि वह स्वभाववश झटके से गर्दन को ऊपर करता है और इस प्रकार शल्य बाहर निकल आता है। (अथैनं कशया ताड़येत् यथोन्नामयन् शिरो वक्त्रं वेगेन शल्यमुद्धरति— सु. सू. २७)

(१८) शाखा—अस्थिविदष्ट शल्य को निकालने के लिये वृक्ष की शाखा भी आवश्यकतानुसार प्रयोग में लायी जाती है क्योंकि ऐसे शल्य को

* कटको वलयोऽस्त्रियाम्–अमर कोषः, कविकातु खलीनोऽस्त्री—अमरकोषः।

निकालने के लिये मनुष्यबल से अतिरिक्त बल की आवश्यकता होती है। आरम्भ में पैरों अथवा यन्त्र की सहायता द्वारा ऐसे (अस्थि विवर प्रविष्ट) शल्य को निकालने का प्रयत्न किया जाता है (अवगृह्य पादाभ्यां यन्त्रेणाप-हरेत्–सु. सू. २७) इस प्रकार सफलता प्राप्त न होने पर ही (अशक्यमेवं वा–सु.) शाखादिका उपयोग किया जाता है। इसमें भी शल्यको बांध कर वृक्ष की शाखा को सहसा छोड़ दिया जाता है जिससे शल्य बाहर निकल आता है (दृढां वा शाखा मवनम्य तस्यां पूर्ववद बध्वो द्धरेत्–सु. सू. २७)

(१६) ष्ठीवन— (कण्ठगत श्लेष्मादि शल्यनिरसनार्थम्–च. पा.) जब श्लेष्मा कण्ठ में रुक कर श्वासावरोधादि कष्ट का कारण बनने लगता है तो उसे दूर करने के लिये 'ष्ठीवन' प्रक्रिया यन्त्र की तरह कार्य करती है। श्वासरोग में श्लेष्मा द्वारा इस प्रकार का कष्ट देखा जाता है (श्लेष्मण्यमुच्य मानेतु भृशं भवति दुःखितः–च. चि. १६) निष्ठीवन, चक्रपाणि के अनुसार सान्निपातिक चिकित्सा का एक प्रमुख अङ्ग है * (आकण्ठं धारये दास्ये निष्ठीवेच्च पुनः पुनः–च. पा.)

(२०) प्रवाहण—(पुरीषाश्रु श्लेष्मादि निर्हरणाय यत्नः–च. पा.) अनवबद्ध शल्य को निकालने के लिये बताये गये पञ्चदश हेतुओं में भी 'प्रवाहण' का उल्लेख है। वहां पर भी प्रवाहण का यह उपयोग बताया है कि वात, मूत्र, पुरीष, गर्भसङ्ग आदि में कष्ट से छुटकारा पाने के लिये 'प्रवाहण' उपयोगी होता है (वातमूत्र पुरीष गर्भसंगेषु प्रवाहणमुक्तम्–सु. सू. २१) उरःस्थित श्लेष्मा को निकालने के लिये वमन, पुरीष को निकालने के लिये विरेचन, नेत्र में गिरे हुए रज धूल) आदि को दूर करने के लिये अश्रु आदि सबमें प्रवाहण क्रिया द्वारा ही शल्य का निराकरण होता है। गर्भशल्य से छुटकारा पाने के लिये भी प्रजनयिष्यमाणा (जिसके प्रसव होने ही वाला है) स्त्री को प्रवाहण के लिये कहा जाता है (सुभगे प्रवाहस्वेति—सु. शा. १०)

(२१) हर्ष – (क्रोधादि शल्यापहरणार्थः—च. पा.) अनवबद्ध शल्य को निकालने के लिये वर्णित पंचदश उपायों में भी 'हर्ष' का उल्लेख है। यह आयुर्वेद की मान्यता है कि शोक शल्य की अवस्थिति हृदय में होती है (हृदयं चेतनास्थान मुक्तं सुश्रुत देहिनाम्—सु. शा.) इसी हेतु हृदयस्थित शोकशल्य को निकालने में हर्ष यन्त्र की तरह कार्य करता है (हृद्यवस्थित-मनेककारणोत्पन्नं शोकशल्यं हर्षेण—सु. सू. २१)

---

*लंघनं वालुका स्वेदो नस्यं निष्ठीवनं तथा। अवलेऽह्योञ्जनं चैव प्राक् प्रयोज्यं त्रिदोषजे–च. पा.।

हर्षण द्वारा शस्त्रकर्म में सुविधा होती है। आज कल मनोवैज्ञानिक पद्धति (Psychology.) का चिकित्सा शास्त्र में अधिक उपयोग होने लगा है किन्तु संहिताग्रन्थों में अनेकों स्थलों पर रोगी की मानसिक स्थिति का अध्ययन कर उसे प्रसन्न रखने का उल्लेख है। भग्न प्रसंग में रोगी की मानसिक दशा को ग्लानि रहित रखने का आदेश किया है (ग्लानिर्नशश्यते तस्य भग्नविश्लेषकृद्धि सा— च. चि. २४) व्रण से छुटकारा पाने के लिये भी रोगी की मानसिक स्थिति उत्तम होनी चाहिये (आशावान् व्याधि मोक्षाय शीघ्रं व्रणमपोहति— वा. सू. २९) विकृतगर्भ का कारण भी दौहृद की अप्राप्ति से हुई मानसिक खिन्नता ही है (दौहृदे चावमानिते— सु. शा. २; गर्भिण्याः श्रद्धायां खण्डितायाम्— ड.)

(२२) अयस्कान्त–(पाषाण भेदो लोह भेदः--च. पा.) यह 'चुम्बक' कहलाता है और विशेष प्रकार का लोहा होता है जो लोहे को अपनी ओर खेंचता है। लोहे में विद्युत् प्रवाह द्वारा अस्थायी चुम्बकता भी उत्पन्न की जाती है। यह Electromagnet. कहलाता है। डल्लण और चक्रपाणि के काल में चार प्रकार का अयस्कान्त ज्ञात था जो आकर्षक, द्रावक, भ्रामक और चुम्बक कहलाता था । सुश्रुत ने ऐसे लोह शल्य को जो अनुलोम, अनवबद्ध, प्रकर्ण और अनल्पव्रणमुख वाला हो उसे अयस्कान्त से निकालने का आदेश दिया है (अनुलोम मनवबद्धमकर्णं मनल्प व्रण मुख मयस्कान्तेन— सु. सू. २७) आज कल भी नेत्रादि के लोह शल्य को निकालने के लिये 'वैद्युद् चुम्बक' का प्रयोग किया जाता है।

(२३) क्षार (१५४ पृ० पर) और (२४) अग्नि (१६७ पृ० पर) नामक उपयन्त्रों का वर्णन तत्तत्स्थलों में विस्तार से किया गया है जो वहीं द्रष्टव्य हैं।

(२५) दारण–अर्थात् शस्त्र प्रयोग के बिना ही पक्व व्रणशोथ का भेदन कर देना भी पूयशल्य से छुटकारा दिलाने के कारण उपयन्त्र है। पक्वशोथ का दारण दो प्रकार का होता है (i) सुकुमार और (ii) कृच्छ्र। इनमें कपोतपुरीषादि सुकुमार और क्षार कृच्छ्रदारण हैं— डल्लणः। मूढगर्भ चिकित्सा में भी दारण बताया है— सु.। दारण यन्त्र कर्म भी है।

संहिता ग्रन्थों में कुछ अन्य उपयोगी उपयन्त्रों का उल्लेख भी है, जैसे —

(२६) भय–(क्रोधापस्मारादि शल्याहरणार्थम्— च. पा.) चिकित्सा में भय का विशेष स्थान है। रोगादि के भय से ही मनुष्य पथ्य सेवन में निरत रहता है। भय की तीव्रता होने पर शरीर की मांस पेशियां शिथिल हो

जाती हैं। गर्भ शल्य से छुटकारा दिलाने के लिये आज भी आसन्नप्रसवा को* भयभीत करने का प्रचलन है। कभी २ शल्यकर्मार्थ रोगी को भय दिखा कर शान्त करना आवश्यक हो जाता है। उन्माद चिकित्सा प्रकरण (अध्याय ९) में चरक ने भय-त्रासनादि को मन को प्रकृतिस्थ करने वाला बताया है (तर्जनं त्रासनं दानं हर्षणं सान्त्वनं भयम्। विस्मयोविस्मृते र्हेतोर्नयन्ति प्रकृति मनः—च. चि. ९)

(२७) काल— कुछ एक रोग ऐसे हैं जो केवल समय साध्य होते हैं, अर्थात्— समय की अवधि समाप्त होने पर ही चिकित्स्य होते हैं, जैसे—गुल्म (स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः— च. चि. ४-१९) गर्भावस्था में होने वाले साधारण कष्टों से छुटकारा भी नवम या दशम मास का समय बीत जाने पर ही मिलता है (नवम दशमैकादश द्वादशानामन्यतमस्मिञ्जायते— सु. शा. ३) तरुणज्वर में मुख्य भेषज संबन्ध को निषिद्ध बताया है (मुख्य भेषज संबन्धोनिषिद्ध स्तरुणे ज्वरे— च. पा.⊕) अतः विशिष्ट औषध ज्वर होने से एक सप्ताह का समय बीत जाने पर ही दी जानी चाहिये। क्षार की सम्यक् क्रिया के लिये १०० मात्रा के उच्चारण काल तक प्रतीक्षा करना आवश्यक होता है (वाक् शतमात्र मुपेक्षेत— सु. सू. ११) सीवन कर्म में प्रयुक्त स्यूत सूत्रों (Stitches.) को निश्चित काल (सामान्यतः ९-१० दिन में) ही काटा जाता है।

(२८) पाक— वह शल्य जो मांस में संसक्त हो तथा जिसका अन्य उपायों द्वारा निकालना सम्भव न हो उसे पाकोत्पादन द्वारा निकाला जाता है। ऐसे शल्य की चारों ओर की अवरोधक धातुएं गल जाती हैं जिससे शल्य पूयशोणितवेग या गौरव से स्वतः निकल जाता है (मांसावगाढं शल्य मविदह्यमानं पाचयित्वा प्रकोथात्तस्य पूयशोणित वेगाद् गौरवाद्वा पतति— सु. सू. २७)

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य उपयन्त्र भी इसी श्रेणी में समाविष्ट किये जा सकते हैं, जैसे—

---

*एक प्रजनयिष्यमाणा स्त्री के प्रथम प्रसव में जब काफी विलंब हो गया तो उसकी शय्या के समीप से, सिरहाने की ओर से बन्दूक छोड़ी गयी जिसके कुछ क्षण उपरान्त ही प्रसव सुखपूर्वक हो गया— लेखक

⊕आसप्त रात्रं तरुणं ज्वरमाहु र्मनीषिणः।
मध्यं द्वादश रात्रं तु पुराणमत उत्तरम्॥ च. द.॥

मुद्रा (Positions) उपयन्त्र

संहिता ग्रन्थों के अनुसार हस्त सर्वोत्तम यन्त्र है (अत्रहस्तमेव प्रधानतमं यन्त्राणामवगच्छ, तदधीनत्वात् यन्त्रकर्मणाम्— सु. सू. ७) और शोकशल्य को निकालने वाले हर्ष को उपयन्त्र कहा गया है (हृद्यवस्थितमनेककारणोत्पन्नं शोकशल्यं हर्षेण— सु. सू. २७) क्योंकि यन्त्र या उपयन्त्र श्रेणी में परिगणन इस आधार पर किया जाता है कि शल्यनिर्हणार्थ कौन कितना "क्रियासौकर्यकर" है (शरीराबाधकराणिशल्यानि तदाहरणोपायानि यन्त्राणि — सु. सू. ७)

शरीर के विभिन्न अंगों की सिराओं के वेधन के लिये, अर्श के शल्यकर्म में, जल में डूबे हुए के उपचार में और उदर आदि के शस्त्रकर्म में शरीर की भिन्न-भिन्न मुद्राएं (Postures.) शल्य के निकालने में नितान्त उपकारक होती हैं अतः इनका उपयन्त्रों में परिगणन किया जाता है। संहिता ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रसंगों में इन मुद्राओं का उल्लेख है जिनका वर्णन इस प्रकार है :—

(१) उद्ङमुद्रा (Dorsal supine Position.) इसमें रोगी को पीठ के सहारे ऊपर की ओर मुख कर लिटाया जाता है। यह उत्तान मुद्रा भी कहलाती है। स्त्रियों में बीज ग्रहणार्थं यही मुद्रा बतायी गई है (तस्मादुत्ताना बीजं गृह्लीयात्— सु.) कृकाटिकाच्छिन्न होने पर भी उत्तान मुद्रा में रोगी को लिटाना ही कार्यकर तथा सुखकर होता है, उसे भोजनादि भी लेटे-लेटे ही देना चाहिए। (उत्तानोऽन्नानि भुंजीत शयीत च सुयन्त्रितः— वा. उ. २६) यदि कोई व्यक्ति पृष्ठ प्रदेश में स्थित व्रण से पीड़ित हो तो उसके लिये भी उत्तान-मुद्रा ही हितकर होती है; इसका लाभ दोष-स्रुति बताया है (पृष्ठे व्रणो भवेद्यस्य चोत्तानं शाययेन्नरम् – सु. चि. २) चक्रदत्त ने दाह शान्ति के लिये जो अम्बुधारा बतायी है उसमें रोगी को उत्तानमुद्रा में ही लिटाया जाता है (उत्तान सुप्तस्य गभीर ताम्रकांस्यादिपात्रं प्रणिधाय नाभौ— च. द.) नस्यार्थ भी रोगी को उत्तान लिटाया जाता है (उत्तान शायिनो किंचित्— शा.)

(२) अवाङ्मुद्रा* (Prone position) इसमें रोगी को नीचे की ओर मुखकर लिटाया जाता है। यह 'अनुत्तान' 'अधोमुख' या 'अवाक्शिरस्क' मुद्रा भी कहलाती है। वक्षःस्थल में व्रण हो तो रोगी को दोषस्रवणार्थ

*अवाञ्ची वाऽप्युदञ्ची वा क्षीणमांस बलोनरः— सु. सू. ३३; अवाञ्ची अवाङ्मुखः, उदञ्ची उदङ्मुखः— चक्रपाणिः।

अधोमुख लिटाते हैं (अतोऽन्यथा चोरसिजे—सु चि. २) गयी ने वक्षों के व्रणों में इससे विपरीत मुद्रा में लिटाने का उल्लेख किया है (पृष्ठे व्रणो यस्यभवेत् उत्तानः शयीत सः। अतोऽन्यथा चोरसिजे शयीत पुरुषो व्रणे—सु. चि. २; डल्लणः) अष्टांगसंग्रहकार ने अन्तर्मुख (मुखाभ्यन्तरस्थ) रोगों का कारण 'अवाक्शय्या' बताया है (अवाक् शय्यां च भजतः—अ. सं. उ. २४; अवाक्शय्या अधोमुखस्य शयनम् —इन्दुः) पानी में डूबे हुये व्यक्ति को अधोमुख लिटाने से पिया हुआ पानी निकल जाता है और ऐसी अवस्था में 'अवाक्शिरस्क मुद्रा' कृत्रिम श्वसन के लिये भी उपयोगी होती है (उदक पूर्णोदरं अवाक्शिरस्कमवपीडयेत् धुनीयात् वामयेत् वा—सु. सू. २७) गर्भाशय में भ्रूण की स्वाभाविक मुद्रा भी अधोमुख होती है (भुग्नोऽधो मुखः शेते गर्भो गर्भाशये स्त्रियाः—सु.)

(३) पृष्ठोर्ध्वजानुमुद्रा (Dorsal Recumbent position) इसमें रोगी पृष्ठ के सहारे लेटता है और अपनी शाखाओं को कुछ मोड़कर ऊपर की ओर कर लेता है तथा पादतलों को शय्या पर टिकाये रखता है। टांगों को सीधा भी किया जा सकता है। इस मुद्रा में जब अधः शाखाएं सीधी होती हैं तो यह वक्षःस्थल, उदर तथा शरीर के अधोभाग के परीक्षण में उपयोगी होती है। जब टांगे कुछ सिकोड़ ली जाती हैं तो इस मुद्रा का उपयोग उत्तरबस्ति, स्नान, मूत्रनाड़ी प्रयोग और उदर के स्वेदन में होता है। योनि-परीक्षण और प्रसवकालीन विदरण को ठीक करने के लिये भी रोगी को इस मुद्रा में लिटाना क्रियासौकर्यकर होता है। वाग्भट के अनुसार 'पृष्ठोर्ध्व जानु मुद्रा' साधारण प्रसव में लाभकर होती है। गर्भोदकस्रुति के पश्चात् जब स्त्री उपस्थितगर्भा हो तो उसे भूमि-आसन पर टांगे सिकोड़ कर तथा ऊपर की ओर को मुंह कर पीठ के सहारे लेट जाना चाहिये (ततो भूशयने स्थिताम्। आभुग्न सक्थिमुत्तानामभ्यक्तांगीं पुनः पुनः—वा. शा. १) उत्तरबस्ति के लिये स्त्रियों में यह मुद्रा विशेष उपयोगी है (उत्तानायै स्त्रियै दद्यात् ऊर्ध्वजान्वै विचक्षणः—शार्ङ्गधरः)

(४) पादोर्ध्वजानु या त्रिक्-पृष्ठ मुद्रा (Lithotomy or Dorsosacral Position)—इसमें रोगी को पृष्ठ के सहारे लिटाकर उसकी जंघाओं को उसके उदर पर मोड़ देते हैं। यह मुद्रा प्रजनन अंगों के शल्यकर्म, योनिमार्ग द्वारा गर्भाशय का आंशिक छेदन (Hyseterectomy) करना और मूत्रप्रसेक तथा मूत्राशय के रोग निर्णयार्थ प्रयुक्त होती है। संहिता ग्रन्थों में अर्श की क्षार या अग्नि चिकित्सा करने के लिये रोगी को

इसी मुद्रा म लिटाने का आदेश दिया है (···उत्तानं प्रत्यादित्य गुदं समम्। समुन्नम्य कटिदेशमथ यन्त्रेण वाससा—वा. चि. ८) अश्मरी के मूलाधारीय भेदन तथा भगन्दर की शस्त्र चिकित्सा के लिये भी यह मुद्रा उपयोगी होती है।

(५) ऊर्ध्व देहार्ध मुद्रा (Fowler's position)—जब लेटे हुये रोगी की शय्या के शिर को लगभग डेढ़ फुट ऊंचा उठा दिया जाता है तो रोगी की यह मुद्रा 'ऊर्ध्व देहार्ध मुद्रा' कहलाती है। इससे रोगी अर्धोपवेशन (Semi-sitting) स्थिति में हो जाता है। रोगी को इस मुद्रा में रखने के लिये चार पांच तकियों को भी प्रयोग में लाया जा सकता है। आज कल इस प्रकार की लोह-निर्मित शय्याएं भी प्राप्य हैं जिनमें इस प्रकार की व्यवस्था होती है।

रोगी को ऊर्ध्व देहार्ध मुद्रा में लिटाने की आवश्यकता श्वास काठिन्य, आन्त्रिक (मन्थर) ज्वर के उपरान्त तथा औदरिक शल्य कर्मों के पश्चात् होती है। इससे उदर तथा वक्षःस्थल का तनाव कम हो जाता है और रोगी को सुविधा होती है। सुश्रुत ने बद्धोदर के शल्य कर्म के पश्चात् तैल द्रोणी अथवा सर्पि द्रोणी में रोगी को लिटाने का आदेश दिया है (निवातमागारं प्रवेश्य आचारिकमुपदिशेत्। वासयेच्चैनं तैलद्रोण्यां सर्पिर्द्रोण्यां वा सु. चि. १४) पर्शुका भग्न में भी रोगी को तैलपूर्ण कटाह अथवा द्रोणी में शयन हितकर बताया है (तैलपूर्णे कटाहे वा द्रोण्यां वा शाययेन्नरम्—सु. चि. ३; द्रोणी काष्ठविरचिता नौरिव—डल्लरण.)

(६) जानूरो मुद्रा (Genupectoral or Knee-chest position)—इसमें रोगी अधोमुख होकर घुटनों के सहारे इस प्रकार लेटता है कि अधो शाखाएं मुड़ी होती हैं और भुजाओं को शिर के ऊपर मोड़ दिया जाता है। इसका उपयोग गर्भाशय गात्र (Fundus) की स्थान च्युति, प्रसवकाल में अन्तरासक्त (Impacted), स्थिर, गर्भ के तिर्यक्—उदय में और बीज ग्रन्थि (Ovary) के स्थान—भ्रंश में होता है।

(७) जानकूर्पर मुद्रा (Genucubital or knee-elbow position)—जब 'जानूरो मुद्रा' में रोगी को लिटाना सम्भव नहीं होता है तो 'जानु कूर्पर मुद्रा' का प्रयोग किया जाता है। इसमें रोगी अधोमुख होकर अपने शरीर के भार को घुटने और कोहनियों पर टिका देता है तथा उसका शिर उसके हाथों पर रहता है। इसका उपयोग भी 'जानूरो मुद्रा' की तरह होता है।

(८) निम्नशिरो मुद्रा (Trendelenburg position)—

इसमें रोगी की शय्या या टेबल को पैरों की ओर से इस प्रकार ऊंचा उठा दिया जाता है कि घुटनों से नीचे का भाग नीचे की ओर को लटक जाता है। इस मुद्रा में शरीर ४५° का कोण बनाता है। गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त के आधार पर रोगी को इस मुद्रा में लिटाने से उदर के अवयव वक्षःस्थल की ओर को हो जाते हैं और इस प्रकार उदर के शल्यकर्म में सुविधा होती है। शिर नितम्ब और अधःशाखाओं के स्तर से नीचे होता है जिससे शिर की ओर को रुधिर का संचार अधिक हो जाता है। अतः स्तब्धता (Shock) तथा अल्परक्तभार में रोगी को इस मुद्रा में लिटाना लाभकर होता है।

चरक ने इसी दृष्टि से गर्भिणी के रुधिर स्राव होने की अवस्था में उसकी शय्या को पैरों की ओर से ऊंचा करने को लिखा है, जिससे उदर के अधोभाग पर दबाव कम हो जाय (पुष्पदर्शनादेवैनां ब्रूयात्–शयनं तावन्मृदु-सुख शिशिरास्तरण–संस्तीर्णमीषदवनतशिरस्कं प्रतिपद्यस्वेति—च. शा. ८)

(९) क्षैतिज मुद्रा (Horizontal position)–इसमें रोगी ऊपर की ओर को मुड़कर इस प्रकार लेटता है कि उसके पैर लम्बाई के रुख खिंचे होते हैं। इसका उपयोग हृदय की स्पर्श तथा श्रवण परीक्षा में होता है। यह शस्त्रकर्म करने के लिये भी सुविधाकर है।

(१०) वामपार्श्वीय मुद्रा (Left lateral recumbent position)–इसमें रोगी अपने वामपार्श्व के सहारे लेटता है तथा दाहिनी अधः शाखा को जानु तथा श्रोणि सन्धि पर से ऊपर की ओर को मोड़ लेता है। चरक वर्णन के अनुसार रोगी अपनी वामभुजा का तकिया बना लेता है। प्रसवकाल में यह मुद्रा उपयोगी होती है। चरक ने इस मुद्रा को बस्ति कर्म के लिये नितान्त उपयोगी बताया है। इसका वर्णन उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—

सव्येन पार्श्वेन सुखं शयानं कृत्वर्जुदेहं स्वभुजोपधानम्।
सङ्कोच्यसव्येतरदस्य सक्थि वामं प्रसार्य प्रणयेत्ततस्तम् ।। च. सि. ३ ।।

(११) सिम की मुद्रा (Sim's Position)–इसमें रोगी को वाम पार्श्व के सहारे लिटाया जाता है तथा उसकी दाहिनी अधः शाखा को वाम अधः शाखा के ऊपर जानु और श्रोणि–सन्धि पर से मोड़ देते हैं। रोगी की वाम भुजा पृष्ठ की ओर को शय्या पर टिकी रहती है और रोगी वक्षःस्थल के सहारे विश्राम करता है।

यह मुद्रा गर्भाशय का लेखन (Curettement), प्रसवोत्तर-गर्भाशय–प्रक्षलन, योनि में पिचु (Tampon) रखना, मल द्वार को नग्नकर

परीक्षण करना तथा गर्भाशय ग्रीवा के शस्त्रकर्म में उपयोगी होती है।

(११) गर्भ-मुद्राएं (Position of the foetus)—स्वभावतः गर्भ प्रसवकाल में शिर से जन्म लेता है (सयोनिं शिरसायाति स्वभावात्प्रसवं प्रति—वा.) किन्तु विकार ग्रस्त होने पर दुष्ट हुआ वायु गर्भ की अनेक मुद्राएँ बना देता है (गर्भस्य हि गतिं चित्रां करोति विगुणोऽनिलः—वा. शा. २) गर्भ की इन विभिन्न मुद्राओं को संहिताकारों ने 'मूढ़ गर्भ' नाम दिया है (तमेव कदाचित् विवृद्ध मसम्यगागतमपत्यपथमनुप्राप्तमनिरस्यमानम् अपान-वैगुण्य सम्मोहितं गर्भं मूढ़गर्भमित्याचक्षते—सु. नि. ८) और कील, प्रतिखुर बीजक आदि अनेकों मुद्राओं का वर्णन किया है (हस्तपादशिरोभिर्यो योनिं भुग्नः प्रपद्यते। पादेन योनिमेकेन भुग्नोऽन्येन गुदं च यः - वा. शा. २) गर्भ की स्वाभाविक और विकृत मुद्राओं (उदय = Presentation) का वर्णन अति विस्तृत है।

(१३) पुष्पनेत्र मुद्रा (Reclining or jack-knife position)—यह मुद्रा जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, इस प्रकार की होती है जिससे रुग्ण या रुग्णा में मूत्रनाड़ी अथवा मूत्रशलाका (Sound) को प्रविष्ट करने में सुविधा होती है । इसमें रोगी को पीठ के सहारे लिटाकर उसकी जंघाओं को ऊरुओं पर और ऊरुओं को उदर पर मोड़ दिया जाता है। इस मुद्रा का चरकानुसार वर्णन इस प्रकार है —

उत्तनायाः शयानायाः सम्यक् संकोच्य सक्थिनी ।
अथास्याः प्रणयेन्नेत्रमनुवंशगतं सुखम् ॥ च. सि. ६ ॥

मुद्राओं का उपरोक्त वर्णन उपलक्षण मात्र है। यदि आयुर्वेद-ग्रन्थों में वर्णित मुद्रा-सम्बन्धी सम्पूर्ण साहित्य का संचय किया जाय तो न्यूनाधिक महत्त्व वाली लगभग इतनी ही मुद्राएं और होगीं, जैसे-- वमन मुद्रा (चोर्ध्व-मुखीभूतमथास्मै जानुसममसंबाधं सुप्रयुक्तास्तरणोतर प्रच्छदोपधानं सोपाश्रय-मासनमुपवेष्टु प्रयच्छेत्— च. सू. १५) स्वेदन की विभिन्न मुद्राएं, कर्णपूरण मुद्रा (स्वेदयेत्कर्ण देशं तु किञ्चिन्नु पार्श्वशायिनः— शार्ङ्गधरः) आदि, किन्तु लगभग इन सब का समावेश न्यूनाधिक परिवर्तन के साथ उपरोक्त मुद्राओं में ही हो जाता है।

(ii) मापन (Measurement.)—का समावेश उपयन्त्र श्रेणी में इस आधार पर किया गया है कि अनेक स्थलों तथा रोगों में इसके द्वारा शल्य के निराकरण में बहुत सहायता मिलती है, जैसे—

(क) शल्यापहरण के प्रमुख साधन यन्त्रों के दैर्घ्य, आयाम आदि का

निर्णय मापन द्वारा ही सम्भव है। कौन सा कार्य करने वाला कौनसा यन्त्र कैसी लम्बाई-चौड़ाई वाला होने पर भली प्रकार कार्य कर सकता है, यह मापन का ही विषय है (यन्त्रमष्टादशांगुलम्, प्रशस्तम्— सु. सू. ७)

(ख) नासार्बुद पर लगाया जाने वाला क्षार का प्रलेप पद्मपत्र की तरह पतला (पद्मपत्र तनुः— वा. सू. ३०) होना चाहिये । आलेप का उत्सेध माहिषचर्म के बराबर बताया है (तस्य प्रमाणं माहिषार्द्र चर्मोत्सेध-मिच्छन्ति— सु. सू. १८) आयुर्विज्ञान के लिये अंग-प्रत्यंग का प्रमाण जानना आवश्यक होता है क्योंकि 'आयु है' यह जानने के उपरान्त ही व्याधि-ऋतु आदि का जानना आवश्यक होता है (सविंशमगुलशतं पुरुषायाम इति — सु. सू. ३५)

(ग) भग्न में मापन बड़ा उपयोगी होता है। सुश्रुत ने उस भग्न को भली प्रकार रोहित हुआ माना है जो अहीनांग हो (अहीनांगमनुल्वणम्— सु. चि. ३) कुछ भग्न ऐसे हैं जिनमें अंग छोटा हो जाता है, जैसे—ऊर्ध्वस्थि-गात्र का भग्न। श्रोणि-गवाक्षीय संधिमुक्त (Obturator dislocation.) में अधःशाखा लगभग दो इंच लम्बी हो जाती है। अन्त्रवृद्धि की अस्थायी चिकित्सा में प्रयुक्त लोहपट्ट (Truss.) की उपयोगिता केवल सही मापन पर निर्भर करती है।

(घ) भेदन (Incision.) कितना गहरा और कितना लम्बा होना चाहिये आदि का वर्णन भी मापन की अपेक्षा रखता है। यदि अधिक विस्तृत भाग पाकग्रस्त हुआ हो तो दो या तीन अंगुल का अन्तर मापकर भेदन करना चाहिये (पाटयेत् द्व्यंगुलं सम्यक् द्व्यंगुलत्र्यंगुलान्तरम्—वा. सू. २९) जलो-दर में नाभि से नीचे बाईं ओर रोमराजी से चार अंगुल स्थान छोड़ कर वेधन बताया है (वामतश्चतुरंगुलमपहाय— सु. चि. १४)

(iii) मान* (Weight.)— चिकित्सा मात्र में मान का विशिष्ट महत्त्व है क्योंकि मान ज्ञान के बिना औषध प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठता है (न मानेन विना युक्ति द्रव्याणां जायते क्वचित्— प. प्र.) शरीर की लम्बाई और आयु से भी मान का घनिष्ट सम्बन्ध है⊙। इस अनुपात से

*मानं तुलांगुली प्रस्थै गुञ्जाः पञ्चाद्यमाषकः— अमरकोषः

⊙यदि मनुष्य की ऊंचाई ५ फुट ६ इन्च हो और उसकी छाती की परिधि ३२ इन्च हो तो उसका भार नियमानुसार इस प्रकार होता है- $\frac{66}{17} \times 32 = 124$ पौण्ड।

अल्प और अधिक भार वाले दोनों ही उत्तम स्वास्थ्य वाले नहीं होते हैं। चरक ने स्थूल और कृश दोनों को अत्यन्त गर्हित बताया है (अत्यन्तं गर्हितावेतौ-सदास्थूल कृशौ नरौ— च.)

विस्रावण (Blood lettihg.) में निकाले गये रुधिर की मात्रा के लिये विशेष मान निश्चित किया गया है। सामान्यतः १३ पल का प्रस्थ होता है किन्तु रक्त मोक्षण में १३॥ पल माना गया है (प्रस्थं शोणितमोक्षणे—सु. शा. ८, वमने च विरेके च तथा शोणित मोक्षणे। सार्धं त्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः)

चरकानुसार शरीर में अपनी दस अञ्जलियां जल की, आहार परिणाम धातु की नौ, आठ रुधिर की, सात पुरीष की और मूत्र की चार अञ्जलियां आदि का वर्णन किया है— च. शा. ७।

इसी प्रकार 'संख्या' आदि को भी शल्यापहरण में उपकारक होने के कारण उपयन्त्रों में परिगणित किया जा सकता है।

(५६) आहार—उपक्रम—

लघुमात्रो लघुश्चैव स्निग्ध उष्णोऽग्नि दीपनः ।
सर्वव्रणिभ्यो देयस्तु सदाऽऽहारो विजानता ॥ सु. चि. १ ॥

अर्थात्— मात्रा में लघु (अल्प), प्रकृतितः लघु, स्निग्ध, उष्ण और अग्नि को बढ़ाने वाले आहार का सेवन सभी प्रकार के व्रण पीडित व्यक्तियों को सदा कराया जा सकता है।

व्रणित व्यक्तियों को दिया जाने वाला आहार ऐसा होना चाहिये जो दोष प्रकोपक और पूयवर्धन न हो। तक्रान्त और नव धान्यादि वर्ग को दोष प्रकोपक और पूयवर्धक बताया है (तक्रान्तो नव* धान्यादि योऽयं वर्ग उदाहृतः। दोषसंजननो ह्येष विज्ञेयः पूयवर्धनः— सु. सू. १६)

मद्य का सेवन सर्वथा निषिद्ध है। मद्यप व्यक्ति को भी सौरेय, अरिष्ट, आसव, सीधु, सुरादि का परित्याग कर देना चाहिये। मद्य अम्ल, रूक्ष, तीक्ष्ण तथा वीर्य से उष्ण होता है और यह आशुकारि होने से व्रण में व्यापद् उत्पन्न करता है (मद्य मम्लं तथा रूक्षं तीक्ष्ण मुष्णं च वीर्यतः। आशुकारिचतत्पीतं क्षिप्रं व्यापादयेद् व्रणम्— सु. सू. १६)

*नवधान्य माष तिल कलाय कुलत्थ निष्पाव हरितक शाकाम्ल लवण कटुक गुड़पिष्टविकृति वल्लूर शुष्कशाक अजाविका आनूप औदकमांस वसा शीतोदक कृशरा पायस दधि दुग्ध तक्र प्रभृतीन् परिहरेत्—सु. सू. १६।

निम्नलिखित प्रकार के आहार का सेवन करने वाले व्रणित का व्रण शीघ्र रोहित होता है :--

यव, गोधूम, षष्ठिक, मसूर, मुद्ग, तुवरी, जीवन्ती, सुनिषण्णक, बालमूलक, वार्ताक, तण्डुलीयक, वास्तूक, कारवेल्लक, कर्कोट, पटोल, कटुकाफल, सैंधव, दाडिम, धात्री, घृत, तप्तहिम जल, जीर्णशाल्योदन, उष्ण, स्निग्ध, द्रवोत्तर* और जांगल प्राणियों का मांस–वा. सू. २६।

उपयुक्त समय पर किया गया मात्रा में उष्णपथ्य का सेवन सुख पूर्वक जीर्ण हो जाता है (अशितं मात्रया काले पथ्ये याति जरांसुखम्—वा. सू. २६) अन्यथा भुक्त अन्न का भली भांति पाक न होने से वातादि दोष अति प्रकुपित होते हैं जिससे व्रणपीड़ितव्यक्ति शोफ, रुजा, पाक, दाह, आनाह आदि से ग्रस्त हो जाता है (अजीर्णे त्वनिला दीनां विभ्रमो बलवान् भवेत्—वा. सू. २६)

निम्नलिखित प्रकार का आहार व्रणित के लिये अपथ्य है—

नवधान्य, तिल, माष, मद्य, अजांगलमांस, क्षीर, इक्षुविकार, अम्ल (मांसं दूषयति, रक्तं विदहति—च.) लवण (पित्तं कोपयति कृणाति मांसानि—च.) कटुरस, विष्टम्भि, विदाहि, गुरु, शीतल आदि व्रणदोषवर्धक हैं – वा. सू २६।

(६०) "रक्षाविधान उपक्रम" का वर्णन इस प्रकार है—

व्रणितोपासन⊕

अब तक वर्णित उपक्रमों में प्रमुख रूप से व्रण से सम्बन्धित अवस्थाओं की चिकित्सा का ही उल्लेख हुआ है जिसमें पूर्णतः सफलता प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि रोगी की परिचर्या की भी समुचित व्यवस्था की जाये। इस हेतु 'व्रणित रक्षा विधान' या 'व्रणितोपासन' नामक अन्तिम उपक्रम का वर्णन किया जाता है।

१. रोगी को जिस भवन में रखना है सर्वप्रथम उसका निर्णय करना चाहिये (व्रणितस्य प्रथममेवागारमन्विच्छेत्—सु. सू. १६) यह 'व्रणितागार' वास्तुकला में निपुण व्यक्तियों द्वारा पूर्व ही निर्मित हुआ होना चाहिये

*व्रणे च मधुमेहे च पानीयं मन्द माचरेत्--सु. सू. ४५–४४।

⊕"व्रणितस्य संजातव्रणस्य उपासनं सेवनं तच्च गृहशय्यासनादिकं, तद्विद्यते यस्मिन् स तथा"—डल्लणः।

(तच्चागारं प्रशस्त वास्त्वादिकं कार्यम् – सु.) जिसमें स्वच्छता तथा वातातप की व्यवस्था हो क्योंकि प्रशस्त वास्तु गृह में रोगी को रखने से उसका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य उत्तम बना रहता है (प्रशस्तवास्तुनिगृहे शुचावातप वर्जिते । निवातेन च रोगाःस्युः शारीरागन्तुमानसाः – सु.)

इस आगार में 'व्रणित शय्या' भी ऐसी होनी चाहिये जो असम्बाध (असंकीर्ण, पर्याप्त विस्तृत), स्वास्तीर्ण (शोभनै रास्तरणै स्तूलीगण्डोपधानै राच्छादितम्—ड.; सम्यक् कम्बलादिभि रावृतम्—च. पा.; बिछाने के लिये गद्दा, तकिया, ओढ़ने के कम्बल आदि से युक्त) और मन को प्रिय लगने वाली (मनोज्ञ) हो। इस शय्या पर व्रणित इस प्रकार सोवे कि उसका शिर पूर्व दिशा की ओर हो (प्राक्शिरस्कम्) और उसके तकिये के नीचे शस्त्र रखा हो (सशस्त्रं कुर्वीत्—सु.)। इस प्रकार सुसज्जित शय्या पर शयन करने से रोगी (व्रणी) को चेष्टाप्रचार (शयनपरिवर्तनादिगतिः—ड.; करवट लेने आदि) में सुविधा होती है।

इस प्रकार की शय्या पर विश्राम करते हुये व्रण पीड़ित व्यक्ति की सेवा–सुश्रूषा के लिये 'व्रणितोपासक' ऐसे होने चाहिये जो सुहृत् (मित्र), अनुकूल और प्रियंवद हों। इन गुणों से युक्त परिचारक भिन्न २ प्रकार की कथा वार्ताओं द्वारा तथा नाना प्रकार के आश्वासनों तथा सेवा विधियों से रोगी की व्रण वेदना को कम करने में उपकारक होते हैं (सुहृदोविक्षिपन्त्याशु कथाभिर्व्रण वेदनाः । आश्वासयन्तो बहुश स्त्वनुकूलाः प्रियंवदाः– सु. सू. १९)

आगार, शय्या और उपासक आदि के वर्णन के अतिरिक्त सुश्रुत ने 'व्रणिताचार' का भी उल्लेख किया है। व्रणी को चाहिये कि वह दिन में न सोवे (न च दिवा निद्रावशगः स्यात् – सु.) इससे व्रण में कफ से कण्डू, गौरव; वात से शोथ, वेदना, और रक्त से स्राव हो जाते हैं क्योंकि दिवास्वाप त्रिदोष प्रकोप होता है। रोगी मानसिक दृष्टि से भी स्वस्थ होना चाहिये जिससे रोग मुक्ति के सम्बन्ध में वह निराश न हो (आशावान् व्याधिमोक्षाय क्षिप्रं व्रणमपोहति– वा. सू. २९) इससे वह शीघ्र व्रणमुक्त होता है।

व्रणित व्यक्ति को चाहिये कि वह उत्थान (उठना), संवेशन (निद्रा) परिवर्तन (वामदक्षिणकटयोर्विलोटनम्— ड., करवट लेना), चंक्रमण (गतागतम्, टहलना) और जोर से बोलना (उच्चैः सम्भाषणात् वायुः शिरस्यापादयेद्रुजम्—सु. चि. ३६) आदि सभी आत्मचेष्टाओं में व्रण की रक्षा करने में सावधान रहे। निश्चेष्ट पड़े रहने से भी वात प्रकोप से अंग में रुगादि विकार बढ़ जाते हैं (शय्या चातिनिषेविता । प्राप्नुयान्मारुतादंगे

रुजस्तस्माद् विवर्जयेत्—सु. सू. १९) व्रण की वात, आतप, धूल, धूम आदि से रक्षा करनी चाहिये। रोगी अति भोजन, अनिष्ट श्रवण, अनिष्ट दर्शन, ईर्ष्या, क्रोध, शोक, चिन्ता, रात्रि जागरण आदि का भी परित्याग करे।

वह शुची, श्वेत वस्त्रधारी और बाल तथा नाखून कटवाकर (नीच नख रोम्ना) रहे। इससे वह भूतबाधा (जीवाणु संक्रमण) से बचा रहता है। एतदर्थ ऋक्, यजु, साम और अथर्व वेद विहित उपायों को प्रयोग में लाना चाहिये। रोगी अपने शिर पर लांगली, वचा, अतिविषा आदि औषध धारण करे। व्रण पर बाल व्यजन (चामर) चलाता रहे और न उसे छेड़े, न खुजावे तथा न किसी प्रकार की हानि ही पहुंचावे (व्यज्येत बालव्यजनै र्व्रणं न च विघट्टयेत् । न तुदेन्नच कण्डूयेच्छयानः परिपालयेत्—सु.)

रोगी गम्य स्त्रियों (भार्या वेश्या चेटी प्रभृतयः) के संदर्शन, सम्भाषण, संस्पर्शनादि से अपने आपको दूर रखे, क्योंकि इससे शुक्रधातु स्थिर नहीं रहती और इस प्रकार व्रणित ग्राम्यधर्म के दोषों से युक्त हो जाता है (मैथुनोपगमाद्घोरान् व्याधीना प्राप्नोति दुर्मतिः—सु. चि. ३९)

व्रण के धूमन और व्रणित के आहार का जो वर्णन उपक्रम संख्या ३४ (पृ० १५० पर) और ५९ (पृ०२६१ पर) में क्रमशः किया गया है वे भी व्रणितोपासन के ही अंग हैं।

क्षतातुर व्यक्ति की निशाचरादि से इन बताये गये रक्षा विधानों और यमों* तथा नियमों⊕ के द्वारा निरन्तर रक्षा करें—सु. चि. १।

पाश्चात्य वैद्यक में रोगी की इस प्रकार की परिचर्या 'नर्सिंग' (Nursing) कहलाती है।

*अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं तथैव च। व्यवहार निवृत्तिश्च यमाः पंच प्रकीर्तिताः।

⊕अक्रोधो गुरु सुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्। अप्रमादश्च पंचैते नियमाः परिकीर्तिता।

आगन्तुज या सद्योव्रण

(WOUNDS)

"आगन्तुः शस्त्रानुशस्त्रोपल लगुड नखदशन-
विषाण विषारुष्करादि निमित्तः"—अ. सं. उ. २६

"A wound is a solution of continuinty of the skin or mucous membrane with varying extent of associated damage"— R. & C.

अर्थात्— आगन्तुज व्रण वह कहलाता है जो शस्त्र, अनुशस्त्र, उपल, लगुड़, नख, दशन, विषाण और अरुष्करादि विषों से उत्पन्न होता है। इसमें त्वचा अथवा श्लैष्मिक कला की निरन्तरता का न्यूनाधिक मात्रा में नाश हुआ होता है* ।

ये आगन्तुज व्रण शस्त्रानुशस्त्रादि अनेकों कारणों से उत्पन्न होने के कारण यद्यपि अनेक प्रकार के होते हैं (नानाधारमुखैः शस्त्रैर्नाना स्थान निपातितैः । भवन्ति नानाकृतयः—सु. चि. २) तथापि सुविधा की दृष्टि से इनका निश्चित संख्या में विभाजन किया गया है जो भिन्न २ आचार्यों द्वारा भिन्न २ प्रकार का है, जैसेः—

सुश्रुत ने (१) छिन्न (२) विद्ध (३) भिन्न (४) क्षत (५) पिच्चित और (६) घृष्ट भेद से छः प्रकार का आगन्तुज व्रण वर्णित किया है।

वाग्भट ने (१) घृष्ट (२) अवकृत्त (३) विच्छिन्न (४) प्रविलम्बित (५) पातित (६) विद्ध (७) भिन्न और (८) विदलित भेद से आठ प्रकार के आगन्तुज व्रण का उल्लेख किया है।

अष्टांग संग्रहकार ने (१) छिन्न (२) विद्ध और (३) पिच्चित भेद से तीन प्रमुख प्रकार मानकर इन तीनों के भी क्रमशः पांच, आठ और दो भेद किये हैं; जैसे— छिन्न के प्रकार— (१) घृष्ट (२) अवकृत्त (३) विच्छिन्न (४) विलम्बित और (५) पातित; विद्ध के प्रकार— (१) अनुविद्ध, (२) उत्तुण्डित (३) अतिविद्ध (४) निर्विद्ध (५) अनुभिन्न (६) भिन्नोत्तुण्डित (७) अतिभिन्न और (८) निर्भिन्न एवं पिच्चित के प्रकार— (१) सव्रण और (२) अव्रण।

---

*आगन्तुर्बाह्य हेतुजः। वधबन्धन प्रपतनाद् दंष्ट्रा दन्त नख क्षतात्। आगन्तवोव्रणास्तद्वत् विष स्पर्शाग्नि शस्त्रजाः— च. चि. २४

इन सबके लक्षण इस प्रकार हैं—

सुश्रुतवर्णनानुसार 'छिन्न*' वह आगन्तुज व्रण है जिसमें ज़ख्म तिर्यक् (तिरछा) या ऋजु (सीधा) होता है किन्तु बड़े आकार का विस्तृत (आयत) होता है। छिन्न व्रण में अंग का पूर्णतः कट जाना भी सम्भव है (गात्रस्य पातनं चापि— सु. चि. २; चकारादपातनञ्च— ड.)

अष्टांग संग्रहकार ने 'छिन्न' को पांच भागों में विभक्त किया है; (१) घृष्ट— जिसमें केवल त्वचा ही क्षतिग्रस्त होती है (त्वक् छेदे घृष्टम् — अ. सं. उ. ३१) (२) अवकृत्त–जिसमें त्वचा के साथ मांस भी अल्पमात्रा में क्षतिग्रस्त होगया हो (किञ्चिन्मांसस्याप्यवकृत्तम्— अ. सं.) (३) विच्छिन्न — जिसमें त्वग्मांसादि अधिक मात्रा में क्षतिग्रस्त होगये हों तथा व्रण भी विशाल और दीर्घ हो (तस्यैवावगाढस्य विशेषेण विशालमायतं च विच्छिन्नम् — अ. सं.) (४) विलम्बित— जिसमें अस्थि–स्नायु आदि का कुछ ही भाग कटने से रह गया हो (किञ्चिच्छेषेष्वस्थि स्नाय्वादिषु विलम्बितम्— अ. सं.) (५) पातित—जिसमें सम्पूर्ण अंग कट गया हो (अशेषाङ्ग च्छेदे पातितम्-)

वाग्भट द्वारा वर्णित घृष्टादि पातितान्त पांच आगन्तुज व्रणों के लक्षण भी अष्टांग संग्रहकार के इन उपरोक्त लक्षणों के अनुसार ही हैं। सुश्रुत ने 'घृष्ट' का पृथक् वर्णन किया है जिसके लक्षण उपरोक्त 'घृष्ट' के सदृश ही हैं (विगतत्वग् यदंगं हि संघर्षा दन्यथापिवा । ऊषास्रावान्वितं तत्तु घृष्टमित्युपदिश्यते— सु. चि. २)

सुश्रुत ने 'विद्ध⊕' का लक्षण इस प्रकार किया है — "वह व्रण जो सूक्ष्म मुख शल्य से उत्पन्न हो, जिससे कोई आशय (कोष्ठ) क्षतिग्रस्त न हुआ हो तथा जो ऊपर को उठा हुआ हो अथवा शल्य बाहर निकल गया हो वह 'विद्ध' कहलाता है"

यदि इसी प्रकार के सूक्ष्मास्य शल्य से अथवा कुन्त (भाला), शक्ति (त्रिमुखी), ऋष्टि (सब्बल), शृंगादि के अग्रभाग से कोई आशय क्षतिग्रस्त हो गया हो तो सुश्रुत ने उसे 'भिन्न⊙' नाम दिया है। वाग्भट के अनुसार

---

*तिरश्चीन ऋजुर्वापि योव्रण स्त्वायतो भवेत्। गात्रस्य पातनञ्चापि 'छिन्न' मित्युपदिश्यते— सु. चि. २

⊕सूक्ष्मास्य शल्याभिहतं यदंगं त्वाशयं विना । उत्तुण्डितं निर्गतं च तद् विद्ध मिति निर्दिशेत् ।

⊙कुन्तशक्त्यर्ष्टि खड्गाग्र विषाणादिभिराशयः । हतः किञ्चित्स्त्रवेत्तद्धि भिन्न लक्षण मुच्यते— सु. चि. २

भी 'विद्ध' और 'भिन्न' के ये ही लक्षण हैं (सूक्ष्मास्य शल्यविद्धं तु विद्धं कोष्ठ-विवर्जितम् । भिन्नमन्यत्— वा. उ. २६)

अष्टांग संग्रहकार ने 'विद्ध' को आठ भागों में विभक्त किया है : (१) अनुविद्ध—जिसमें सूक्ष्मास्य शस्त्र से केवल मांस क्षतिग्रस्त हुआ हो (मांस मनु प्राप्ते शल्येऽनु विद्धम्— अ. सं. ३–३१) (२) उत्तुण्डित — जिसमें शल्य से दूसरी ओर की त्वचा ऊपर को उठ गयी हो (द्वितीये पार्श्वे त्वंचमुन्नाम्यो-त्तुण्डितम्— अ. सं. उ. ३१) (३) अतिविद्ध— जिसमें शल्य द्वितीय पार्श्व की त्वचा से कुछ बाहर आगया हो (किञ्चिन्निःसृते ऽति विद्धम्) (४) निर्विद्ध — जिसमें शल्य दूसरी ओर की त्वचा में से पूर्णतः निकल गया हो (सर्वथा निस्सृते निर्विद्धम्)

ये ऊपर लिखे हुये चार प्रकार के विद्ध ही यदि कोष्ठ में हुये हों अथवा चौड़े मुख वाले कुन्त (भाले) आदि शस्त्रों से हुये हों तो इनको क्रमशः (५) अनुभिन्न (६) भिन्नोत्तुण्डित (७) अतिभिन्न और (८) निर्भिन्न कहते हैं। इस प्रकार अष्टांग संग्रहकारादि के अनुसार 'विद्ध' की ही अवस्था विशेष 'भिन्न' भी कहलाती है।

मुद्गारादि के प्रहार अथवा कपाटादि से पीड़न होने पर अंग कुचला जाने के कारण चपटा हो जाता है, इसमें अस्थि भी सम्मिलित होती है तथा अंग मज्जा, रक्त आदि से व्याप्त होता है। सुश्रुतादि ने इसको 'पिच्चित' नामक आगन्तुज व्रण कहा है (प्रहार पीडनोत्पेषात्सहास्थ्ना पृथुतांगतम्— वा. उ. २६–५) वाग्भट ने 'पिच्चित' को 'विदलित' कहा है। अष्टांग संग्रह-कार के अनुसार पिच्चित दो प्रकार का होता है; (१) अव्रण और (२) सव्रण (तद्द्विविधं, सव्रणमव्रणं च — अ. सं. उ. ३१) उपरोक्त वर्णन सव्रण का है और अव्रण के लक्षण भग्न सदृश होते हैं।

यद्यपि सुश्रुत ने षड्विध आगन्तुज व्रणों में छिन्न, विद्ध, भिन्न, पिच्चित और घृष्ट के अतिरिक्त 'क्षत' नामक एक भेद पृथक् ही वर्णित किया हैं किन्तु उसका कोई विशिष्ट आकार नहीं बताया गया है। केवल उस व्रण को 'क्षत*' कहा गया है जो न अतिछिन्न हो, न अति भिन्न हो तथा जो अंग में विषम (निम्नोन्नत) स्थित हो—सु. चि. २। वस्तुतः आगन्तुज व्रण नाना प्रकार के शस्त्रादि से उत्पन्न होने पर भी संक्षेपतः तीन ही प्रकार के होते हैं (विविधाभिघात जनितैस्तु सुबद्धाकृतिभिरपि सद्योव्रणै रधिष्ठितमंगं समासात्

*नातिच्छिन्नं नातिभिन्न मुभयोर्लक्षणान्वितम् ।
विषमं व्रणमंगे यत् तत्क्षतं त्वभिनिर्दिशेत् ॥ सु. चि. २)

त्रिविधं भवति—छिन्नं, विद्धं, पिच्चित चेति—अ. सं. उ ३१)—

(१) छिन्न (Incised) (२) विद्ध (Punctured)

(३) पिच्चित (Lacerated)

सभी सद्योव्रणों में त्वचा क्षतिग्रस्त हुई होती है अतः आगन्तुज व्रण-मात्र 'क्षत' कहलाता है (त्रिविधमपि चैतत् त्वगादि क्षणनात् 'क्षत' मित्युच्यते—अ. सं. उ ३१) छिन्नादि तीन प्रमुख सद्योव्रणों का समन्वयात्मक वर्णन इस प्रकार है—

(१) छिन्नव्रण (Incised wounds)—

यद्यपि ये व्रण वृद्धिपत्र (Scalpel) आदि तीक्ष्णधार वाले शस्त्रों से अधिकतर पाये जाते हैं किन्तु कभी २ कुण्ठित पदार्थों से उत्पन्न होते भी देखे गये हैं विशेषकर जब आघात उन स्थानों पर हो जहां अधस्त्वगीय रचनाएं प्रतिरोध करने वाली हों, जैसे—शिर और शरीर के अन्य अस्थि के ऊपर के भाग।

छिन्न व्रणों के विशिष्ट लक्षणों में अधिक रक्तस्राव होना, व्रणौष्ठों का सिकुड़ना (Retraction) और व्याघात (Bruising) की अनुपस्थिति प्रमुख हैं (व्याघात शीघ्ररोहण और अल्प क्षतांक के निर्माण में सहायक होता है) इन व्रणों के मुख्य २ विकार इस प्रकार हैं—

(i) शोणित स्राव।

(ii) नाड़ियां तथा स्नायु (Tendons) क्षतिग्रस्त हो जाते हैं।

(iii) संक्रमण की सम्भावना रहती है।

(iv) शरीर की गुहाओं (Cavities) में छिद्र हो सकता है।

(२) विद्धव्रण (Punctured wounds)—

ये तीक्ष्णाग्र शस्त्रादि से उत्पन्न होते हैं (सूक्ष्मास्य शल्याभिहतम्—सु.) और शरीर की किसी गुहा का सच्छिद्र हो जाना अधिक सम्भव है। इस प्रकार के व्रणों में धनुर्वात या अपतानक (Tetanus) के हो जाने की अधिक सम्भावना होती है। सूची आदि यदि व्रण में ही रह गये हों तो स्पर्श लभ्य न होने की अवस्था में उनकी तलाश करना प्रायः अनुपयुक्त है। एतदर्थ दो भिन्न २ दिशाओं में लिये गये क्षकिरण चित्रण उपकारक होते हैं।

(३) पिच्चित व्रण (Lacerated wounds)—

ये कुण्ठित पदार्थों, मार्ग दुर्घटनाओं और कारखानों में मशीनों से उत्पन्न होने वाले व्रण हैं जिनमें तन्तुनाश (Tissue damage) अधिक हुआ होता है। इस प्रकार के व्रणों में शोणित स्राव अल्प होता है क्योंकि

बड़ी २ वाहिनियां अभिघात से बच निकलती हैं और छोटी २ वाहिनियां कट जाने के उपरान्त सिकुड़ जाती हैं (पिच्चिते च विघृष्टे च नातिस्रवति शोणितम्—सु. चि. २) आघात के अनुसार तन्तुओं का नाश न्यूनाधिक होने पर भी यह निश्चित है कि यह अवस्था विकारी जीवाणुओं की समृद्धि के लिये उपयुक्त वातावरण उपस्थित करती है विशेषकर जबकि व्रण सशल्य हो (आगच्छति भृशं तस्मिन् दाहः पाकश्च जायते—सु. चि. २) अभिघात के तत्काल बाद रोगी में स्तब्धता (Shock) और उसके उपरान्त संक्रमण की उपस्थिति से रोहण में विलम्ब विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य अवस्थाएं हैं।

विषव्रण (Poisoned wounds) भी आगन्तुज व्रण हैं (विषारुष्कर निमित्तः-- अ. सं. उ. २६) किन्तु विष विज्ञान का विषय होने से ये वहीं दृष्टव्य हैं।

सद्योव्रणचिकित्सा

आगन्तुज व्रण चिकित्सा में 'साप्ताहिक विधि' वर्णित की गई है जिस में वेदना की शान्ति के लिये बलातैल या मधुयष्टी घृत को कोष्णकर उससे बार २ सिंचन करना, क्षतोष्मा की शांति के लिये कषाय-शीत-मधुर-स्निग्ध गुण वाले लेप लगाना; आयत सद्योव्रण के सन्धान के लिये मधुसर्पि का प्रयोग और पित्तहर शीतल क्रिया करना; संरम्भ (विकार) युक्त सद्योव्रण में ऊर्ध्व तथा अधः शोधन, उपवास और रक्तमोक्षण करना तथा रुधिर के अधिक स्रुत हो जाने से होने वाले वात प्रकोप को रोकने के लिये स्नेह पान, परिषेक, स्वेद, लेप, उपनाहन तथा वातहर द्रव्यों की स्नेहबस्ति करना आदि का उल्लेख है (इति साप्ताहिकः प्रोक्तः सद्यो व्रणहितो विधिः—वा. उ. २६)

यह सद्योव्रणों की सामान्य विधि है। इनकी विशिष्ट चिकित्सा विधि इस प्रकार है—

(१) छिन्न व्रण चिकित्सा–

कटी हुई रक्तवाहिनियों का बन्धन (Ligation) करना चाहिये और केशिकाओं से निकलने वाले रुधिर को दबाकर तथा त्वचा का भली भांति सीवन कर्म कर देने से रोका जा सकता है (छिन्नानां तु चिकित्सितम्। ये व्रणा विवृताः केचित् शिरः पार्श्वावलम्बिनः। तान्सीव्येद् विधिनोक्तेन बध्नीयात् गाढमेवतु—सु. चि. २)

व्रण के अन्दर संचित तरल (Exudate) या रुधिर विकारी जीवाणुओं के पनपने में सहायक होते हैं अतः ये निकलते रहें और संचित न

होने पावें एतदर्थ रबर नलिका आदि के द्वारा स्रावण (Drainage.) की व्यवस्था करनी चाहिये ।

व्रण बन्धन में प्रयुक्त विकेशिका, पट्ट आदि स्वच्छ होने चाहिये जिससे व्रण में द्वितीयक संक्रमण न होने पावे । पीडित अंग को पूर्ण विश्राम देना आवश्यक है ।

यदि व्रण बहुत विस्तृत हो और रोहण की गति धीमी हो तो रोगी को खाद्योज 'सी' और लोह (Iron.) के योग देने चाहिये । उत्तम शोणित-संचार-व्यवस्था के कारण चेहरे के व्रणसीवन को दो से पांच दिन में और अन्य स्थानों के व्रणसीवन को सात से दस दिन में काट देना चाहिये । यदि कोई शाखा पूर्णतः कट गयी हो तो उसे तैल से दग्ध कर वहां कोशबन्ध बांध देना चाहिये (छिन्नांनिःशेषतः शाखां दग्ध्वा तैलेन युक्तितः । बध्नीयात्कोश बन्धेन ततो व्रण वदाचरेत्— वा. उ. २९)

(२) विद्ध व्रणचिकित्सा--

"कार्यः शल्यहृते विद्धे"—अ. सं.-- अर्थात् विद्धव्रण में यदि शल्य निकल गया हो तो संक्रमण को नष्ट करने की व्यवस्था के साथ २ साधारण व्रणवत् उपचार किया जाता है । जिस स्थान या आशय (कोष्ठ) का विद्ध (भिन्न) हुआ हो उसकी चिकित्सा आदि का वर्णन तत्तत्प्रसंग में किया गया है, जैसे— उदरभिन्न का उदर के शल्यकर्मों और शिरोभिन्न का शिर के शल्य कर्मों में वर्णन किया गया है ।

(३) पिच्चितव्रण चिकित्सा—

सर्व प्रथम रोगी की स्तब्धता का उपचार किया जाता है यदि वह उपस्थित हो तो; रुधिर या रुधिरवारि (Plasma.) की न्यूनता होने पर उसका अन्तःक्षेप किया जाता है । वेदना की शान्ति के लिये अहिफेन सत्व उपयुक्त है । त्वगादि के अधिक क्षतिग्रस्त होने की स्थिति में A. T. S. और Anti-gas gangrene serum. को निरोधक मात्रा में देना चाहिये । पूयोत्पादन को रोकने के लिये सल्फोनेमाइडस और पैनिसिलीन का प्रयोग किया जाता है । रोगी की वास्तविक चिकित्सा इस बात पर निर्भर करती है कि रोगी किस समय चिकित्सा के लिये उपस्थित हुआ है और शरीर रचना की दृष्टि से व्रण कहां स्थित है एवं नाडियों तथा रक्तवाहिनियों की दशा कैसी है । साबुन और स्वच्छ जल से व्रण को भली प्रकार स्वच्छ कर लेने के उपरान्त क्षतिग्रस्त तन्तुओं को काट कर पृथक् कर दिया जाता है । ऐसी अवस्था में प्राथमिक सीवन उपयुक्त नहीं होता है किन्तु विलम्बित (Delayed.)

प्राथमिक या द्वितीयक सीवन विहित है। त्वचा के अधिक मात्रा में नष्ट हो जाने की स्थिति में त्वक्–सन्धान (Skin-grafting.) उपयुक्त होता है। अंग के अधिक क्षतिग्रस्त होने पर अंगकल्पन (Amputation.) करना विचारणीय है।

गूढ प्रहाराभिहत अथवा विश्लिष्ट देह
(CONTUSIONS.)

"विश्लिष्ट देहं मथितं पतितं हत मेवच"— सु. चि. २
"गूढप्रहाराभिहते पतिते विषमोच्चकैः"— वा. उ. २६

"विश्लिष्टदेह मिति नमनाकर्षणारोहण पतन बन्धन साहसादिभिः स्वस्थानच्युता वयवं देहं, पतितं वृक्षादिभ्यः, मथितं बलीयसा पीडितं, हतं वेगवता द्रव्येण दण्डमुष्टचादिभिर्वा"— डल्लणः

यह वर्णन विश्लिष्टदेह अथवा गूढ प्रहाराभिहत का है जिसे साधारणतः 'गुम चोट' कहा जाता है। इसमें त्वचा अखण्डित रहती है किन्तु त्वचा के नीचे स्थिर रचनाओं को पर्याप्त हानि पहुंची हुई होती है। यह सब बाह्य-अभिघात (External violence.) से होता है। अधस्त्वगीय तन्तुओं में शोणित स्राव हुआ होता है और महत्त्वपूर्ण आभ्यन्तर अवयवों का क्षतिग्रस्त होना भी सम्भव है। आरम्भ में वेदना और सूजन (Swelling.) होती है किन्तु बाद में व्याघात (Bruising.) के कारण पीडित भाग का रंग परिवर्तित (Discoloration.) हो जाता है। शिथिल तन्तुओं में तरला-यात (Effusion.) अधिक होता है। वृद्ध, कर्षित (Cachectic.) और खाद्योज 'सी' के अभाव से पीडित व्यक्तियों में शोणितस्रावशीलता वालों (Haemophiliacs.) की तरह अधिक रुधिरस्राव की प्रवृत्ति होती है। जहां स्रवित होने के उपरान्त रुधिर अधिक मात्रा में संचित हो जाता है उसे "शोणित स्रावार्बुद" (Haematoma.) कहते हैं। आरंभ में यह मृदु, तरंगमय (Fluctuant.) और स्पर्शासहिष्णु होता है किन्तु बाद में यह कठोर होता जाता है। यदि यह संक्रमण ग्रस्त न हो तो यह पूर्णतः आचूषित हो जाता है अथवा इसका सुधाभवन (Calcification.) भी हो सकता है।

इसके उपचार के लिये वात-रक्तजित चिकित्सा की जाती है (कार्य-वातास्रजित् तृप्ति मर्दनाभ्यञ्जनादिकम्— वा. उ. २६) जिसमें अल्प अभि-

घातों में पीडित भाग को दृढता पूर्वक बांध दिया जाता है। इस प्रकार रुधिर का अमार्ग प्रसरण नहीं हो पाता। बड़े अर्बुदों में अन्तःसुषिर सूची द्वारा संचित रुधिर को बाहर निकाल देते हैं। शरीर द्वारा संचित रुधिर के आचूषणकाल में संक्रमण की उपस्थिति के बिना भी ज्वर हो सकता है। अति विस्तृत शोणित स्रावार्बुद में कामला (Jaundice.) होते देखा गया है।

सारा ही शरीर अभिघात ग्रस्त हो तो रोगी के लिये सुश्रुत ने द्रोणी-शयन हितकर बताया है (वासयेत्तैल पूर्णायां द्रोण्यां मांस रसाशिनम्— सु. चि. २)

नाडी व्रण

(Sinus.)

गतिः सा दूरगमनात् नाली *नालीव संस्रुतेः।
नाल्येका ऽनृजु रन्येषां सैवानेकगतिर्गतिः॥ अ. हृ. उ. २९॥

अर्थात्— पक्व व्रणशोथ की उपेक्षा करने पर (यः शोथ माममति-पक्व मुपेक्षतेऽज्ञः— सु.) अथवा प्रचुरपूय व्रण की चिकित्सा न करने या व्रणावस्था में अपथ्य सेवन से सञ्चित पूय दूर तक मार्ग बना लेती है। यदि यह पूय निर्मित मार्ग एक ओर तिरछा (अनृजु) हो तो 'नाली' या 'नाडी' और अनेक प्रकार का मार्ग "गति" कहलाता है (तस्याति मात्रगमनात् गति-रिष्यते तु नाडीवयद्वहति तेन मतातु नाडी— सु. नि. २) साधारण बोल चाल में इस रोग को 'नासूर' कहते हैं।

पक्व विद्रधि के अनुपयुक्त भेदन के परिणाम स्वरूप नाडीव्रण और भगन्दर हो जाते हैं। दोनों में परस्पर अन्तर यह है कि नाडीव्रण (Sinus.) का पूयमार्ग रोहणांकुरों से व्याप्त और संकुचित होने के अतिरिक्त शरीर के बहिःपृष्ठ पर कहीं खुला होता है जबकि भगन्दर (Fistula.) का पूयमार्ग दो आशयों (Cavities.) को परस्पर मिलता है अथवा इसका एक ओर किसी आशय से सम्बन्ध होता है और दूसरा मुख बहिःपृष्ठ (Surface.) पर खुलता है। इस प्रकार मलद्वारीय (Perineal.) विद्रधि बहिःपृष्ठ पर खुल कर नाड़ीव्रण का रूपधारण कर सकती है जिसे "बहिरन्ध भगन्दर" = (Blind external fistula.) कहने की प्रथा पड़ गयी है। (भगन्दर

*संहिता ग्रन्थों में "नाड़ीव्रण" और "नालीव्रण" दोनों शब्द प्रचलित है। व्याकरण नियम भी है कि "डलयोः रलयो रभेदः"।

प्रकरण देखिये) वास्तविक भगन्दर में विद्रधि का पूयमार्ग एक ओर गुदनलिका (Anal canal.) में और दूसरी ओर बहिः पृष्ठ पर खुलता है।

संक्षेपतः नाड़ीव्रण के कारण इस प्रकार हैं :—

(१) पक्वविद्रधि की उपेक्षा (अभेदात्पक्व शोफस्य—अ. सू. उ. २९)

(२) पक्वविद्रधि का अनुपयुक्त भेदन।

(३) व्रण में अपथ्य सेवन (व्रणे चापथ्यसेविनः—अ. सू. उ. २९)

(४) काष्ठादि शल्य का न निकलना (अन्तःस्थित शल्यमनाहृतं तु करोति नाड़ीम्— अ. स. उ. २९)

नाडीव्रण के भेद—

सुश्रुत ने प्रत्येक दोषसे, द्वन्द्वज, सान्निपातिक और आगन्तुज भेदसे नाड़ीव्रण आठ प्रकार के वर्णित किये हैं (दोषैस्त्रिभिर्भवति सा पृथगेकशश्च सम्मूर्च्छितैरपि च शल्यनिमित्ततोऽन्या— सु. नि. १०) किन्तु अष्टांग संग्रहकार ने द्वन्द्वज भेद न मान कर इस विकार को केवल पांच प्रकार का स्वीकार किया है (सा दोषैः पृथगेकस्थैः शल्यहेतुश्च पञ्चमी— अ. हृ. उ. ३०) इनके पृथक् २ लक्षण इस प्रकार हैं :—

(१) वातिक नाडीव्रण सूक्ष्ममुख, कठोर, सशूल, फेनबहुल और रात्रि को अधिक आने वाला स्राव (स्रवत्यभ्यधिकं रात्रौ— अ. हृ.) (२) पैत्तिक नाड़ीव्रण तृट्, ज्वर, दाह और दिन में अधिक आने वाले पीत, उष्ण और दुर्गन्धित स्राव से युक्त और (३) श्लैष्मिक नाड़ीव्रण कठोर, कण्डुल और रात्रि में अधिक आने वाले घन-पिच्छिल स्राव से युक्त होता है (निशि चाभ्यधिकक्लेदा— अ. हृ. उ. २९) द्वन्द्वज में दो २ और सान्निपातिक में सब दोषों के सम्मिलित लक्षण होते हैं (सर्वैः सर्वाकृतिं त्यजेत्— अ. हृ.)

(४) सुश्रुत ने सान्निपातिक नाडीव्रण के कुछ विशिष्ट लक्षणों का वर्णन भी किया है; जैसेः— दाह, ज्वर, श्वास, मूर्च्छा और मुखशोष। इन लक्षणों से युक्त नाड़ी शीघ्र प्राण हर लेती है (घोरामसुक्षय करीमिव कालरात्रिम्— सु. नि. १०)

(५) काष्ठ, लोह आदि का शल्य शरीर में प्रविष्ट होने के उपरान्त जब वहीं रह जाता है तो वह गति करने लगता है (स्थानेषु शल्य मचिरेण गतिं करोति— सु. नि. १०) इससे निर्मित होने वाले नाडीव्रण में से फेनिल, तनु, उष्ण, अल्प तथा पूय और रुधिरयुक्त स्राव आता है। इसमें वेदना निरन्तर होती है (सरुजं च नित्यम् - अ. हृ. उ. २९)

साध्यासाध्ता—

त्रिदोषज नाडी असाध्य और शेष यत्नसाध्य हैं (नाडी त्रिदोष प्रभवा न सिद्ध्येत् शेषाश्चतस्रः खलु यत्नसाध्याः— सु. चि. १७)

चिकित्सा—

नाड़ीव्रण के कारणों को सर्व प्रथम दूर करना आवश्यक है। साधारणतः निम्नलिखित कारण व्रण रोहण में बाधा उपस्थित करते हैं :— (१) शल्य (Foreign body.) अथवा मृत (Necrosed.) तन्तुओं की उपस्थिति (२) नाडीव्रण की दीवारों का आच्छादक (Epithelium.) तन्तुओं द्वारा अच्छादित होना (३) घने सौत्रिक तन्तु (Fibrosis.) मार्ग-संकोचन में बाधक होते हैं (४) व्रण के क्षोभक (Irritating) स्राव, जैसे मल, मूत्र; शोथ को बनाए रखते हैं (५) विस्रावण (Drainage.) की अपर्याप्त व्यवस्था (६) विश्राम का अभाव और (७) यक्ष्मा आदि के संक्रमण की उपस्थिति ।

आयुर्वेद में 'नाडी' को शस्त्रकृत्या और अशस्त्र कृत्या भेद से दो प्रकार का वर्णित किया है अर्थात् शस्त्र प्रयोग द्वारा पाटन कर्म कर चिकित्सा करना (शस्त्रकृत्या) और *बालकादि की नाड़ी को बिना शस्त्र प्रयोग के ही ठीक करना (अशस्त्रकृत्या) । पाटन कर्म करने से पूर्व 'एषणी' द्वारा पूयमार्ग की वास्तविक स्थिति आदि जान लेनी चाहिये (एष्य गतिं विदित्वा निपातयेच्छस्त्र मशेषकारी—- सु. चि. १७) तदनन्तर दोषानुसार भिन्न २ द्रव्यों से व्रण का प्रक्षालन, लेपन, पूरण, तर्पण और शोधन–रोपण तैलादि का प्रयोग किया जाता है, जैसे—- वातिक में प्रक्षालनार्थ बृहत्पञ्चमूल कषाय और हिंस्रादि से सिद्ध तैल का संशोधन, रोपण, पूरणादि के लिये प्रयोग करना चाहिये; पैत्तिक में तिलादि द्रव्यों का कल्क, सोमनिम्ब आदि से प्रक्षालन तथा व्रणतर्पण के लिये श्यामादि द्रव्यों से सिद्ध घृत का प्रयोग करना चाहिये और श्लैष्मिक में प्रक्षालनार्थ करंजादि तथा शोधनादि के लिये सुवर्चिकादि से सिद्ध तैल का प्रयोग करना चाहिये ।

आगन्तुज नाड़ी में शल्य को भेदन कर निकाल दिया जाता है और पूयमार्ग के शोधन तथा रोपण के लिये मधु–घृत बहुल तिल कल्क का प्रयोग करते हैं । एतदर्थ कुम्भीक, खर्जूर आदि से सिद्ध तैल का व्यवहार भी होता है ।

कृश, दुर्बल, भीरु तथा मर्म स्थान में स्थित नाड़ी अशस्त्रकृत्य होती

*कृशदुर्बल भीरूणां नाडी मर्माश्रिताच या ।
क्षारसूत्रेण तां छिन्द्यान्नतु शस्त्रेण पाटयेत् ॥ सु. चि. १७ ॥

है और इनमें शस्त्र की अपेक्षा क्षारसूत्र से ही छेदन-भेदनादिक कार्य सम्पन्न किया जाता है (अशस्त्रकृत्या मेषिण्या भित्वान्ते सम्यगेषिताम् । क्षारपीतेन सूत्रेण बहुशोदारयेत् गतिम्— अ. हृ. उ. ३०) सुश्रुत ने एतदर्थ निम्नलिखित विधि का वर्णन किया है :—

"एषणी द्वारा पूयमार्ग का भली प्रकार परीक्षण कर तथा क्षार सूत्र को सूई में पिरोने के उपरान्त उसकी सहायता से उस सूत्र को पूयमार्ग में से एक ओर से दूसरी ओर को निकाल कर कसकर बांध दिया जाता है (सूत्रस्यान्तं समानीय गाढं बन्धं समाचरेत्— सु. चि. १७) इस प्रकार क्षारबल तथा आवश्यकतानुसार सूत्र को 'गति' के छिन्न होने तक बदल २ कर बांधते रहते हैं* ।"

दुष्ट, सूक्ष्ममुख तथा गम्भीर व्रणों की चिकित्सा में जो शोधन-रोपणादि वर्तियां, तैल आदि का वर्णन किया गया है वे नाडीव्रणों में भी हितकर होते हैं— अ. हृ. । अष्टांग हृदयकार ने चञ्चु द्रव्य के लेप को भी नाडीहर बताया है (पिष्टं चञ्चुफलं लेपात् नाडीव्रणहरं परम्— अ. हृ. उ. ३०)

कभी २ पृष्ठाच्छादक तन्तुओं को नष्ट करने के लिये लेखन (Scraping.) और विद्युद्दहन (Cautery.) भी आवश्यक होता है ।

निर्जीवाङ्गता
(GANGRENE.)

शरीर तन्तुओं के दृश्य (Macroscopic.) अंश की मृत्यु, जिसमें तन्तुओं का विघटन (Putrefaction.) भी हुआ होता है, 'निर्जीवांगता' कहलाती है । इसमें निम्नलिखित प्रमुख लक्षण पाये जाते हैं —

(i) अनुपस्थित शोणित संचार (Cessation of circulation)

(ii) अनुष्णता (Loss of heat.)

(iii) निश्चेतनता (Loss of sensation.)

(iv) अकर्मण्यता (Loss of function.)

(v) विवर्णता (Change of colour.)

प्रकारान्तर से निर्जीवांगता (i) शुष्क (Dry.) और (ii) अशुष्क (Moist.) भेद से दो प्रकार की होती है । 'शुष्क निर्जीवांगता' उस समय

---

*एषिण्या गतिमन्विष्य क्षारसूत्रानु सारिणीम् । सूचीं निदध्यात् गत्यन्ते तथोन्नम्याशु निर्हरेत् ।। सूत्रस्यान्तं समानीयगाढं बन्धं समाचरेत् । सु. चि. १७ ।

उत्पन्न होती है जब तन्तु शोणित संचार के शनैः २ विलीन हो जाने से सूख जाते हैं जैसाकि वृद्धावस्था में देखा जाता है। पीड़ित भाग सूख जाता है, उसमें झुरियां पड़ जाती हैं और हीमोग्लोबीन के पृथक् हो जाने से वह विवर्ण हो जाता है तथा स्पर्श में स्निग्ध (Greasy.) होता है। 'अशुष्क निर्जीवांगता' उस समय उत्पन्न होती है जब धमनी में बन्धन अथवा अन्तःशल्यता (Embolus.) के कारण सहसा अवरोध उत्पन्न हो जाता है। तदनन्तर शीघ्र ही पीड़ित भाग संक्रमण और विघटन से युक्त हो जाता है, सूज जाता है और उसका रंग बदल जाता है तथा बहिस्त्वक् (Epidermis.) स्फोटयुक्त होकर ऊपर को उठी हुई भी हो सकती है। गैस उत्पन्न करने वाले कोथ-जीवाणुओं (Saprophytic gas-forming organisms.) के संक्रमण से पीड़ित भाग का स्पर्श करने पर कर्करध्वनि (Crepitus.) युक्त होना भी सम्भव है।

निर्जीवांगता में स्थानिक परिवर्तन आकार और संक्रमण पर निर्भर करते हैं। अल्प निर्जीवांगता शोषित हो जाती है और संक्रमण रहित विस्तृत निर्जीवांगता कोथ (Slough.) के रूप में विसर्जित करदी जाती है।

निर्जीवांगता की 'साधारण चिकित्सा' में मधुमेहादि पूर्ववर्ति कारणों को दूर करना, वेदनाहर द्रव्यों का प्रयोग, पोषक आहार तथा आवश्यकता के अनुसार उत्तेजक औषध दी जाती है। निर्जीवांगता की सम्भावना में अंग को शुष्क रखना, उस पर सल्फोनेमाइड पाउडर डालना तथा उसे रूई में लपेट कर रखा जाता है। सम्पूर्ण अवयव (Limb.) के पीड़ित होने की अवस्था में उसे ऊंचा उठाए रखने से सिरीय संचार बढ़ता है और इस प्रकार दबाव से होने वाला व्रण (Pressure sore.) नहीं हो पाता।

निर्जीवांगता के प्रमुख प्रकार (Varieties.) निम्नलिखित हैं:--

(i) लाक्षणिक (Symptomatic.)— जैसे, वार्धक्य (Saline.) निर्जीवांगता; मधुमेहजन्य (Diabetic.) निर्जीवांगता; अन्तःशल्यीय (Embolic.) निर्जीवांगता आदि।

(ii) संक्रमणजन्य (Infective.)-- जैसे, गैस निर्जीवांगता आदि।

(iii) अभिघातज (Traumatic.)— जैसे, (क) प्रत्यक्ष-अभिघातज और (ख) अप्रत्यक्ष अभिघातज।

(iv) शरीरीय (Physical.)— जैसे, रूक्ष दग्ध (Burns.), स्नेहदग्ध (Scalds), हिमदग्ध (Frostbite), रेडियम, क्ष-किरण और रासायनिक पदार्थों से जलना आदि।

(i) वार्धक्य निर्जीवांगता में हृत्पेशी की दुर्बलता से शोणितसंचार धीमा हो जाता है तथा ह्रास (Degeneration.) के कारण धमनियां संकुचित और घनास्रता युक्त (Thrombotic.) होती है। ऐसी अवस्था में अल्प अभिघात भी निर्जीवांगता उत्पन्न कर सकता है।

इसमें अंग को अभिघात से बचाना, गरम कपड़े से उसे ढके रखना, साधारण स्वास्थ्य में सुधार और सावधानी से की गयी 'चरणचर्या' (Chiropody.) लाभप्रद होती है। स्कन्दननिरोधी द्रव्य उपयोगी होते हैं। कुछ रोगियों में सुरा वाहिनीविस्फारक, वेदनाहर और स्वप्नल (Soporific.) होने से लाभ पहुंचाती है।

निर्जीवांगता हो जाने की अवस्था में अंगकल्पन (Amputation.) प्रायः आवश्यक हो जाता है।

(ii) गैस निर्जीवांगता के विशिष्ट कारण Cl. Welchii आदि जीवाणु हैं जो व्रणोत्पादन के पश्चात् संक्रमित होते हैं। ये जीवाणु पशुओं के गोमय में पाये जाते हैं। यह निर्जीवांगता स्कन्दित रुधिर से अथवा कसे हुए व्रणबन्धन से बन्द मुख वाले व्रणों में मांसपेशियों के अधिक क्षतिग्रस्त होने की अवस्था में, शोणित संचार के अवरुद्ध होने पर और शल्य (Foreign body.) के अन्दर ही रह जाने से प्रायः पायी जाती है। इन जीवाणुओं में मांसपेशियों के तन्तुओं में विषाक्त अवस्था उत्पन्न करने की तीव्र सामर्थ्य होती है।

(क) मृदु (Anaerobic cellulitis.) और (ख) तीव्र (Clostridial myositis) भेद से गैस निर्जीवांगता दो प्रकार की होती है। मृदुप्रकार में प्रायः त्वचा ही प्रभावित होती है किन्तु तीव्रप्रकार में सम्पूर्ण पेशी, पेशीसमूह अथवा सम्पूर्ण अंग भी पीड़ित हो सकता है और कभी २ इतनी शीघ्रता से यह विकार फैलता है कि रोगी की कुछ ही घंटों में मृत्यु हो सकती है।

तीव्र प्रकार में अभिघात के कुछ घन्टे से पश्चात् से ही लक्षण आरम्भ हो जाते हैं। व्रण में वेदना तथा अचेतनता (Numbness.) और विष संचार उपस्थित होते हैं। व्रण का रंग पीला, वह निर्जीव तथा उसमें से निकलने वाला अति जलीय स्राव बुलबुलों (Bubbles.) से युक्त होता है।

चिकित्सा में पैनिसिलीन को पूर्ण मात्रा में देना पर्याप्त होता है अथवा षष्ठि-उपक्रमों का आवश्यकतानुसार उपयोग करना चाहिये।

(iii) अभिघातज निर्जीवांगता में दो प्रकार पाये जाते हैं (क) प्रत्यक्ष (Direct)- इसमें चोट लगने या दबाव के कारण (जैसे-कुशा (Splint) के

कसकर बांधने से, शैय्याव्रण आदि २) निर्जीवांगता होती है (ख) अप्रत्यक्ष (Indirect)— इसमें (१) धमनी या सिरा का अवरोध हो जाता है जैसाकि गुम्फित अन्त्रवृद्धि और भग्न में होता है (२) अन्तः शल्यता (Embolus) के कारण रक्तवाहिनियों का अवरोध होना या (३) किसी अंग की प्रमुख धमनी का बन्धन (Ligature) कर देना प्रमुखकारण होते हैं।

चिकित्सा में कारणों को दूर करना होता है। अंग में निर्जीवांगता की सम्भावना होने पर उसकी संवर्तन क्रिया (Metabolism.) को कम से कम करने के लिये उसे शीतल रखना चाहिये।

प्रणष्टशल्य विज्ञानीय

यद्यपि पूर्व वर्णन के अनुसार 'शल्य' शब्द को व्यापक अर्थ में प्रयुक्त करने के आधार पर ही यह शल्य-शास्त्र कहलाता है (सर्व शरीराबाधकरं शल्यं तदिहोपदिश्यत इत्यतः शल्यशास्त्रम्— सु. सू. २६) तथापि 'प्रणष्ट-शल्य' से अभिप्राय उस आगन्तुज-शल्य (Foreign body.) से है जो शरीर में प्रविष्ट होकर विलीन हो जाता है, जैसे — लोहादि धातुओं, वांस आदि काष्ठ तथा अस्थि आदि के टुकड़े (अधिकारो हि लोहवेणु वृक्ष तृण शृंगास्थि मयेषु— सु. सू. २६) इनमें भी लोहमय आगन्तुज शल्य विशेषरूप से प्रणष्ट होते हैं क्योंकि ये शरीर में आसानी से प्रविष्ठ हो जाते हैं, प्रविष्ट होकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने में समर्थ होते हैं और शरीर में दूर तक चले जाते हैं (तत्रापि विशेषतो लोहेष्येव विशसनार्थोपपन्नत्वाल्लोहस्य लोहानामपि दुर्वारत्वात् अणुमुखत्वात् दूर प्रयोजन करत्वाच्च— सु. सू. २६) पुराकाल में युद्ध में 'शर' ही एक मात्र आयुध होने से सुश्रुत ने प्रणष्ट शल्य प्रकरण में 'शर' का ही विशेषरूप से वर्णन किया है (शर एवाधिकृतः—सु.)

यह शर रूपी शल्य दो प्रकार का होता है, 'कर्णी' (कर्णयुक्त) अर्थात् जिसके पिछले भाग पर तिरछा पदार्थ लगा हो और 'श्लक्ष्ण' (अकर्ण) अर्थात् जिसके पीछे कुछ भी न लगा हो। इनके अग्रभाग विविध वृक्षों के पत्र, पुष्प, फल अथवा व्याल, मृग, पक्षि आदि के मुखों के सदृश होते हैं।

ये शल्य जब शरीर में प्रविष्ट होते हैं तो पांच प्रकार से गति करते हैं, (१) ऊर्ध्व (२) अधः (३) अर्वाचीन (४) तिर्यक् और (५) ऋजु। जब शल्य नीचे की ओर से आता है तो शरीर में उसकी गति 'ऊर्ध्व' होती है और ऊपर की ओर से आता है तो 'अधः' होती है। इसी प्रकार पीछे की ओर से आने वाले शल्य की 'अर्वाचीन' और पार्श्व से आने वाले की 'तिर्यक्' तथा

सामने से आने वाले की 'ऋजु' गति होती है* ।

अष्टांग संग्रहकार ने शल्य की केवल तीन गतियां बताई हैं और प्रत्येक के दो २ भेद होते हैं, जैसे—

(१) ऊर्ध्व (i) ऋजु (ii) वक्र (२) अध: (i) ऋजु (ii) वक्र (३) तिर्यक् (i) ऋजु (ii) वक्र

सशल्य व्रण का सामान्य लक्षण—

"श्याव पिडकाचितं शोफ वेदनावन्तं मुहुर्मुहुः शोणितास्राविणं बुद्बुदवदुन्नतं मृदुमांसं च व्रणं जानीयात् सशल्योऽयमिति"— सु. सू. २६

अर्थात्— जिस व्रण के अन्दर शल्य उपस्थित हो वह रंग में श्याव (कुछ काला) पिड़कायुक्त, शोथ तथा वेदनायुक्त, रुक २ कर बार २ रुधिर स्राव करने वाला, ऊपर को उठा हुआ और मृदुमांसयुक्त होता है ।

सम्प्रति निगूढ शल्य की स्थिति, आकार आदि के निर्णयार्थ क्ष–किरण (X-Rays) चित्रण या निरीक्षण नितान्त उपयोगी होता है ।

सशल्य व्रण के वैशेषिक लक्षण इस प्रकार हैं :—

त्वक्गत सशल्य व्रण का उत्सेध विवर्ण, आयत और कठोर होता है; मांसगत में शोथ अधिक, शल्य जिस मार्ग से प्रविष्ट हुआ होता है वह अवरुद्ध हो जाता है, स्पर्शासहिष्णुता और चूषणात्मक वेदना तथा पाक होता है; पेश्यन्तरस्थ शल्य में भी ये ही लक्षण होते हैं किन्तु चोष और पाक नहीं होते हैं; सिरागत में सिरा का फूल जाना (आध्मान) सिरा में शूल और सिराशोथ होते हैं; स्नायुगत शल्य में स्नायुजाल का अवक्षेपण (संकोचन— इन्दुः) संरम्भ (शोथ) और तीव्र वेदना होती है; स्रोतोगत में तत्तत् स्रोतों के गुणकर्म नष्ट हो जाते हैं; धमनीस्थ शल्य में पिपासा, अंग मर्द, हृल्लास (असकृत् ष्ठीवनम्— ड; हृदयोत्क्लेशः— इन्दुः) सशब्द वायु और सफेन रुधिर का स्राव होते हैं; अस्थिगत में शोथ तथा विविध वेदनाएं होती हैं; अस्थिगुहा (Medullary cavity.) में शल्य प्रविष्ट होगया हो तो अस्थि पूर्णता (Fullness) अस्थितोद और तीव्र आकुलता (संहर्ष) होती है; संधिगत में अस्थिगत शल्य सदृश लक्षण तथा चेष्टोपरम होता है; कोष्ठगत शल्य में आटोप (सतोदो वात संक्षोभः— ड.) आध्मान (वात-

---

*विश्वामित्रस्तु—

कीर्तिताः पञ्चशल्यानां गतयः शल्य चिन्तकैः ।
ऊर्ध्वाधस्तिरश्चीनर्जु संकीर्ण पातभेदतः ॥

तत्र संकीर्णपाता उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न संख्याधिक्यम्— च. पा.

मूत्र पुरीषादि निरोध:—ड.) और व्रणमुख से मूत्र, पुरीष, आहारादि निकलने लगते हैं एवं मर्मगत शल्य में भ्रम, प्रलाप, प्रमोह मूर्च्छा आदि मर्मविद्ध* सदृश लक्षण होते हैं। यदि शल्य सूक्ष्म हो तो उपरोक्त लक्षण अस्पष्ट होते हैं (सूक्ष्म गतिषु शल्येषु एतान्येव लक्षणानि अस्पष्टानि भवन्ति—सु. सू. २६)

शल्य जितनी अधिक महत्वपूर्ण रचना को उत्पीड़ित करता है शारीरिक लक्षण उतने ही अधिक तीव्र होते हैं जिनके परिणाम स्वरूप रोगी में 'स्तब्धता' के लक्षण भी उपस्थित हो सकते हैं।

ये शल्य अपने साथ भिन्न २ जीवाणुओं के संक्रमण को शरीर में प्रविष्ट कर देते हैं जिससे ये चिकित्सा की दृष्टि से असाध्य होते हैं (दोषप्रकोप व्यायामाभिघातेभ्यः प्रचलितानि पुनर्बाधयन्ति—अ. सं. सू. ३७) यदि शरीर की क्षमता इस प्रकार के संक्रमण पर विजय प्राप्त करले तो सशल्य व्रण भी भर जाते हैं (शुद्ध देहाना मनुलोमसन्निविष्टानि उपरुह्यन्ते—अ. सं. सू. ३७)

शल्य के विज्ञानोपाय—

यदि त्वचा में कहीं पर शल्य स्थित हो और उसका पता न चलता हो तो उसके लिये दो विज्ञानोपाय बताये हैं—

(i) विकारग्रस्त स्थान का स्नेहन-स्वेदन करने के उपरान्त मृत्तिका, माष, यव, गोधूम और गोमय इनमें से किसी एक के चूर्ण से उस स्थान का मर्दन करने पर जहां वेदना और संरम्भ (रागशोफाभिसम्भव:—ड.) हो वहां शल्य की उपस्थिति समझनी चाहिये।

(ii) पीड़ित स्थान पर जमे हुये घी का, मिट्टी का या चन्दन का लेप करने पर शल्य की गर्मी से जहां से घी पिघलने लगे अथवा मिट्टी आदि का लेप सूखने लगे वहीं पर शल्य स्थित होता है।

मांस, कोष्ठ, अस्थि, सन्धि, पेशी आदि में स्थित शल्य को जानने के लिये रोगी के स्नेहन, स्वेदन, कर्षण आदि के द्वारा शिथिल हुआ शल्य जहां वेदनादि उत्पन्न करें वहां उसकी उपस्थिति समझनी चाहिये। सिरा, धमनी, स्रोत, स्नायु आदि में प्रणष्ट हुये शल्य की स्थिति जानने की विधि यह है कि रोगी को खण्डचक्र वाले यान पर बिठाकर विषम मार्ग पर चलाने से संरम्भ, वेदनादि से शल्य की उपस्थिति का पता चलता है। अस्थि में उपस्थित शल्य उस स्थान में होता है जहां स्नेहन, स्वेदन, बन्धन, पीड़नादि

---

*देहप्रसुप्तिर्गुरुता संमोहशीतकामिता। स्वेदोमूर्च्छा वमिः श्वासो मर्म विद्धस्य लक्षणम्—अष्टांग संग्रहः।

के द्वारा वेदना, शोफ, रागादि की प्रतीति हो। सन्धिप्रणष्टशल्य में स्नेहन और स्वेदन के उपरान्त प्रसारण, आंकुचन, बन्धन, पीड़न आदि करने पर जिस स्थान पर संरम्भ और वेदना उत्पन्न हो वहीं उसकी उपस्थिति समझनी चाहिये।

सामान्यतः हस्तिस्कन्ध, अश्वपृष्ठ, पर्वत–द्रुमारोहण, प्लवन (तैरना) जृम्भण, उद्गार, क्षवथु आदि क्षोभ उत्पन्न करने वाली क्रियाओं में जिस स्थान पर संरम्भ और वेदना की प्रतीति हो वहीं पर शल्य छिपा होता है (सामान्येन सशल्यंहि क्षोभिण्याक्रयया सरुक्—वा. सू. २८) रोगी भी शल्य-युक्त स्थान की विशेष प्रकार से रक्षा करता है तथा छूने आदि नहीं देता है।

निगूढ शल्य किस आकृति का है यह निर्णय शल्य से उत्पन्न व्रण को देखकर किया जा सकता है, जैसे – वृत्त (वर्तुल= गोल), पृथु, चतुष्कोण, त्रिपुट (त्र्यस्र) आदि (वृत्तं पृथु चतुष्कोणं त्रिपुटं च समासतः। अदृश्यशल्य संस्थानं व्रणाकृत्या विभावयेत्—अ. हृ. सू. २८)

निःशल्य व्रण वह होता है जिसमें वेदना अल्प हो, सूजन न हो, उपद्रव अनुपस्थिति हों, किनारे मृदु हों, अनुन्नत हों, जिसमें प्रसारणाकुंचनादि यथा सम्भव क्रियाएं आसानी से की जा सकती हो तथा एषणी से भली प्रकार देखने से भी कोई शल्य स्पर्श न किया जा सके—सु.।

यह ध्यान में रखना चाहिये कि अस्थि आदि भंगुर पदार्थों का शल्य शरीर में प्रविष्ट होने के उपरान्त अनेकों टुकड़ों में विभक्त हो सकता है और इसी प्रकार शार्ङ्ग (शृंगमय) तथा आयस (लोहमय) का शल्य शरीर में मुड़ जाता है (निर्भुज्यते–कुटिलीभवति – ड.)

यदि अन्तः प्रविष्ट शल्य न निकाला जा सके तो शृंग, अस्थि, दन्त, केश, वृक्ष, वेणु और तृणादि के शल्य मांस तथा रक्त के द्वारा शीघ्र ही पक जाते हैं और पाक द्वारा बाहर निकल जाते हैं। किन्तु पित्त की गर्मी से स्वर्ण, रजत, ताम्र, रैतिक (पित्तल) त्रपु (रांगा) और सीसे के शल्य तथा अन्य भी मृदु प्रकृतिक शल्य पिघल कर शरीर की धातुओं में समा जाते हैं (द्रवीभूताः शरीरेऽस्मिन्नेकत्वं यान्ति धातुभिः—सु. सू. २६)

संक्षेपतः शरीर में प्रविष्ट और वहीं स्थित शल्य के निम्नलिखित परिणाम होते हैं—

(i) पूयोत्पन्न होकर शल्य का बाहर निकल जाना।

(ii) शल्य के चारों ओर सौत्रिक कोश निर्मित होकर उसे स्थिर कर देना।

(iii) शल्य का पित्तोष्मासे गलकर धातुओं में एक रूप हो जाना।

प्रणष्टशल्य चिकित्सा :—

तेषा माहरणोपायौ प्रतिलोमानुलोमकौ ।
अर्वाचीन पराचीने निर्हरेत्तद् विपर्ययात् ॥ अ. हृ. सू. २८ ॥

शल्यापनीय वह विधि उत्तम होती है जिसमें शल्य को बाहर निकालते समय शरीर की धातुओं की क्षति न्यून से न्यून हो। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर शल्याहरण के निमित्त दो उपाय बताये हैं—(i) प्रतिलोम और (ii) अनुलोम, अर्थात्–शल्य को जिस मार्गसे शरीरमें प्रविष्ट होता है उसी मार्ग से निकालना 'प्रतिलोम' (प्रतिलोमं यद्यत एव प्रविष्टं तेनैवानीयते—इन्दुः; प्रतिलोम शरीरान्तःप्रवेशविपर्ययः — अरुणदत्तः, प्रवेशमार्गेणैवाहरणं प्रतिलोम—ड.) **और सीधी दिशा में नयामार्ग बनाकर निकालना 'अनुलोम'** (अनुलोमः शरीरान्तः प्रवेशानुगतः—अरुणदत्तः, अनुलोमं यद्यतः प्रविष्टं ततः प्रवेश्य द्वितीयेन ह्रियते—इन्दुः) **कहलाता है।**

शरीर में प्रविष्ट होने की दूरी के अनुसार शल्य दो प्रकार का होता है, (i) अर्वाचीन (नातिदूरप्रवेशात् निविष्ट शल्य द्वारा पेक्षया कायस्य पूर्वार्द्ध स्थितं शल्य मर्वाचीन मुच्यते—डल्लणः) **अर्थात् जो शरीर के अन्दर अधिक प्रविष्ट नहीं हुआ है; और (ii) पराचीन** (दूरप्रविष्टं कायस्य परार्द्धं निर्गतं शल्यं पराचीन मुच्यते—डल्लणः) **अर्थात् जो शरीर के अन्दर बहुत अधिक प्रविष्ट हो गया है। अर्वाचीन शल्य को जिस मार्ग से वह शरीर में प्रवेश करता है उसी मार्ग से निकालने में सुविधा होती है, अर्थात् अर्वाचीन शल्य को प्रतिलोम मार्ग से निकालना चाहिये, अनुलोम मार्ग से निकालने में शरीरधातुओं की अधिक क्षति होती है** (पाश्चात्येऽर्वाचीन देशे आनयेत्, प्रवेशमार्गेणैवानयेत्, अनुलोमेन हि परार्धेन निर्ह्रियमाणमविद्धमपि बहुतरं देशं वेधयेत्—डल्लणः) **और पराचीन शल्य को सीधी दिशा में नयामार्ग बनाकर अनुलोम निकालना चाहिये, प्रवेश मार्ग (प्रतिलोम) से नहीं** (अग्रेतने पराचीने प्रदेशे आनयेत्—ड., एतस्य पुनः प्रवेश मार्गेणानयनेन स्थूलशल्याग्रेण पुनर्बहुदेश घट्टनं भवतीत्यभिप्रायः—च. पा. द.) **क्योंकि उसके स्थूलाग्र भाग से अधिक क्षति पहुंचती है। अनुलोम निकालने योग्य शल्य यदि कुक्षि, वक्ष, कक्षा, वंक्षण और पर्शुकाओं के अन्दर स्थित हो तो उसे हस्त कौशल से प्रवेश मार्ग से ही निकालना श्रेयस्कर होता है** (यथामार्गं हस्ते नैवाहर्तुं प्रयतेत्—सु. सू. २७)

उपरोक्त शल्यापनीय विधि उन शल्यों में विशेष रूप से उपयोगी होती है जो 'अवबद्ध' अर्थात् शरीर में दृढ़तापूर्वक स्थित होते हैं। जो शल्य दृढ़ता

पूर्वक स्थित नहीं होता है वह 'अनवबद्ध' कहलाता है। ऐसे (अनवबद्ध) शल्य को निकालने की १५ विधियां इस प्रकार है :—

(१) स्वभाव — शरीर के स्वाभाविक वेग, जैसे अश्रुपात से नेत्रगत रजः प्रभृति शल्य; पाषाणादि के नासागत शल्य का क्षवथु (छींक) से निकलना; शूलकर विकृत वायु का उद्गार द्वारा बाहर निकालना; श्लेष्मा (बलगम) या अन्य कष्टकर शल्य का कास के साथ बाहर आना; शर्करा या अश्मरीखण्ड का या पूयादि शल्यभूत पदार्थों का मूत्रवेग द्वारा निर्हरण, शल्य रूप मलादि का पुरीष के साथ निकलना एवं अपानवायु के साथ उदरशूल के कष्ट का निराकरण होना आदि (तत्राश्रुक्षवथूद्गार कासमूत्र पुरीषानिलैः स्वभाव बल प्रवृत्तैः नयनादिभ्यः पतति-- सु. सू. २७)

(२) पाचन — मांस में दृढता पूर्वक टिका हुआ ऐसा शल्य जिसका अन्यविधियों द्वारा निकालना सम्भव न हो उसका पाचन (१२ पृ० पर) उपक्रम किया जाता है। इस प्रकार शल्य के ढीले हो जाने पर वह पूय के वेग से अथवा अपने ही भार से बाहर आ जाता है (पूय शोणितवेगाद् गौरवाद्वा पतति-- सु.)

(३) भेदन — कभी २ पूय उत्पन्न हो जाने पर भी शल्य बाहर नहीं निकल पाता है। ऐसी अवस्था में शस्त्र द्वारा भेदन (Incision.) कर तथा अवरोधक कारणों को दूर कर शल्यनिर्हरण सम्पन्न होता है, जैसाकि भेदन-उपक्रम के वर्णनप्रसंग में (२३ पृ० पर) उल्लेख किया गया है। भीरु, दुर्बल आदि में शस्त्र प्रयोग आसान नहीं होता है; अतः ऐसी अवस्था में —

(४) दारण — कर्म किया जाता है। इसमें कपोत विष्ठा आदि के प्रलेप द्वारा पाकयुक्त स्थान का दारण किया जाता है (२२ पृ० पर देखें)

(५) पीडन — भेदन या दारण के उपरान्त भी यदि शल्य बाहर न निकले तो माषचूर्ण आदि पीडन द्रव्यों के प्रलेप द्वारा पीडन करना चाहिये अथवा हस्त प्रयोग द्वारा इस उपक्रम को (१२६ पृ० पर) सम्पन्न करें (पीडनैः पीडयेत् पाणिभिर्वा-- सु.)

(६) प्रमार्जन — (बाल वस्त्रादिभिः प्रोञ्छनम्-- ड.) यदि नेत्र में या अन्य किसी इन्द्रिय में सूक्ष्म शल्य अनवबद्ध हो तो उसे निकालने के लिये परिषेचन (धाराभिषेचनम्-- ड. = औषधद्रव की धार लगाना) आध्मापन (मुखमारुतस्य प्रापणम्— ड. = मुख से फूंक मारना) अथवा बाल, वस्त्र, हस्त आदि का प्रयोग किया जाता है।

(७) निर्ध्मापन— (प्रधमनम्-- ड.) कभी २ ऐसा भी होता है

कि भोजन करते समय बोलने से, खांसने से या हसने से आहार के सूक्ष्मकण नासा में आ जाते हैं, अथवा नासा में श्लेष्मा के अवरुद्ध हो जाने पर या अन्य किसी शल्य के नासा में फंस जाने से उसे निकालने के लिये श्वसन (श्वास का बल पूर्वक बाहर या अन्दर लाना) उत्कासन (जोर से खांसना) अथवा प्रधमन (नस्य भेद) किया जाता है।

(८) वमन--विकृत आहार शल्यरूप होता है। अन्य हानिकर पदार्थों के निगल जाने से भी जीवन संकट ग्रस्त हो जाता है। अतः इस प्रकार के शल्यों को निकालने के लिये वमन उपयोगी होता है। एतदर्थ अंगुली प्रतिमर्श (अंगुल्यादि घर्षणम्-- ड. = अंगुलि से गला रगड़ना = अंगुल्या कण्ठघर्षण-मिहोक्तः--च. पा.) या अन्य इसी प्रकार के उपायों का वमनार्थ प्रयोग किया जाता है। वमन द्वारा उदरस्थ शल्य बाहर निकल जाता है।

(९) विरेचन-- जब भुक्त पदार्थ पक्वाशय में पहुंच कर कष्टकर होते हैं तो उनको सुगमता से निकालने के लिये विरेचन उपयोगी होता है। आमातिसार में भी विरेचन के उपरान्त उदर में उद्वेष्टन नहीं होता है।

(१०) प्रक्षालन—व्रण में उपस्थित पूय वेदना–शोथादि उत्पन्न करती है। एतदर्थ उसका विविध शोधन क्वाथों द्वारा प्रक्षालन किया जाता है। अनेकों विषों के विषैले प्रभाव से रक्षा करने के लिये आमाशय का भी प्रक्षालन (२४० पृ० पर) किया जाता है (व्रण दोषाशय गतानि प्रक्षालनैः-- सु.)

(११) प्रतिमर्श-- अंगुली आदि से किसी स्थान पर घर्षण करना प्रतिमर्श कहलाता है, जैसे— वमन के लिये बालों के गुच्छे या अंगुली से गले में घर्षण करना, व्रणशोथ की शान्ति के लिये पीड़ित स्थान पर घर्षण करना (विम्लापन) आदि।

(१२) प्रवाहण-- विकुन्थन, अर्थात् मल, मूत्र, गर्भ आदि के शल्यों को शरीर से बाहर निकालने के लिये बल प्रयोग करना। इससे भी शल्यापनयन होता है (सुभगे प्रवाहस्व— सु.)

(१३) आचूषण-- मुख द्वारा अथवा शृंग की सहायता से या पिचकारी के प्रयोग से अस्थिगत वायु (नाडीं दत्वा ऽस्थनि भिषक् चूषयेत् पवनं बली— सु.) कर्णगत जल (कर्णेऽम्बुपूर्णे हस्तेन मथित्वा तैलवारिणी। क्षिपेदधोमुखं कर्णं हन्याद् वा चूषयेद्वा-- वा. सू. २८) विष, रुधिर, दुष्टस्तन्य (तस्याः स्तनौ सततमेव च निर्दुहीत— सु.) आदि का निर्हरण किया जाता है (दुष्टवात विषस्तन्य रक्ततोयादि चूषणैः— अ. हृ. सु. २८)

(१४) अयस्कान्त— लोह शल्य को निकालने के लिये अयस्कान्त

(लोहाकर्षक मणिविशेषः — अरुणदत्तः, चुम्बक) का उपयोग किया जाता है। अयस्कान्त की सहायता से निकाले जाने वाले शल्य निष्कर्ण होने चाहिये तथा जो शिथिल तथा चौड़े मुख वाले व्रण में सीधे स्थित हों (अयस्कान्तेन निष्कर्ण विवृतास्य मृजुस्थितम्—वा.)

(१५) हर्ष—मानसिक प्रसन्नता से चिन्ता, शोक आदि का कष्ट दूर हो जाता है (हृदयवस्थितमनेक कारणोत्पन्नं शोकशल्यं हर्षेण— सु.)

अनवबद्ध (शिथिल) शल्य को निकालने में उपरोक्त पन्द्रह प्रकार के उपाय परम सहायक होते हैं अतः इनमें से अनेकों का उपयन्त्रों में भी परिगणन किया गया है।

हस्त से आहार्य शल्य को हस्तप्रयोग द्वारा ही निकालना चाहिये अन्यथा जो दृश्य शल्य हो उन्हें सिंह, अहि, मकर आदि के मुखों सदृश मुख वाले यन्त्रों से और अदृश्य शल्यों को कङ्क, भृङ्ग, कुरर, शरारि, वायस आदि के मुख सदृश यन्त्रों से निकालना चाहिये (दृश्यं सिंह मुखाद्यैस्तु गूढंकङ्कमुखादिभिः— सु. सू. ७)

यह आवश्यक नहीं है कि सभी शल्यों को निकाल ही दिया जाय। यद्यपि न निकाले गये शल्य शोथ, पाक, उग्रवेदना, वैकल्य तथा मरण भी उत्पन्न कर सकते हैं तथापि निम्नलिखित शल्यों का निर्हरण नहीं करना चाहिये :

(i) विशल्यघ्न (जिनके निकलते ही मृत्यु हो जाती है) और (ii) जो कहीं प्रणष्ट हो किन्तु किसी भी प्रकार के उपद्रव नहीं हों (नैवाहरेत् विशल्यघ्नं नष्टं वा निरुपद्रवम— वा. सू. २८)

अस्थि विवर या केवल अस्थि में प्रविष्ट (अस्थिविदष्ट) हुए शल्य को निकालने के लिये यदि हस्त से सफलता न मिले तो पैरों की रोक लगाकर निकाले। इस प्रकार भी सफलता न मिलने पर पंचागी बन्ध से बंधे अश्व की वक्त्र कविका और धनुष की डोरी से शल्य को बांध कर घोड़े को इस प्रकार चाबुक मारे कि शिर के झटके से शल्य बाहर निकल जावे। वृक्ष की शाखा का भी इस उद्देश्य के लिये उपयोग किया जा सकता है (२५७ पृष्ठ पर देखें)

यदि लाख का (जातुष) शल्य गले में फंस जाय तो 'कण्ठशल्यावलोकिनी' नाडी की सहायता से अग्नि प्रतप्त शलाका को कण्ठ में प्रविष्ट कर शल्य को पकड़ले और शीतल जल से शलाका को ठंडा करने के उपरान्त निकल लें। यदि शल्य अजातुष (लाख का न) हो तो शलाका में मोम लगा कर पूर्वोक्त प्रकार से निकाल लें।

शोथग्रस्त शल्य को निकालने के लिये शोथ का पीडन करना चाहिये। दुर्बल वारंग शल्य को कुशादि से बांध कर निकाला जाता है। ग्रासशल्य को पानी पिलाकर दूर करें अथवा ग्रीवा पर इस प्रकार आघात करें कि रोगी को इसका पता न लगे (निःशंक मनवबुद्धं स्कन्धे मुष्टिनाऽभिहन्यात्— सु. सू. २८) एतदर्थ मद्य या स्नेह का पान भी कराया जा सकता है।

हृदय, आमाशय आदि में स्थित शल्य को निकालने की विधियों का वर्णन तत्तत् प्रसंगों में किया गया है।

कभी २ ऐसा भी होता है कि मछली आदि का कांटा गले में फंस जाता है (कण्टकं मत्स्यादिमांससंगेन भुक्तं— अरुणदत्तः) उसे निकालने के लिये संहिताकारों ने 'केशोण्डुक' (देखें चित्र संख्या-११) नामक यन्त्र का उल्लेख किया है जो आजकल Probang कहकाता है। वाग्भट ने इसे 'केशोन्दुक' कहा है। इसे रोगी के गले में प्रविष्ट कर उसमें शल्य को फंसाने के बाद निकाल लेते हैं (केशोन्दुकेन पीतेन द्रवैः कण्टकमाक्षिपेत् वा. सू. २८) कण्ठ के क्षत को ठीक करने के लिये मधुघृत और त्रिफला चूर्ण रोगी को चाटने को दें।

कण्ठ या नासादि में फंसा शल्य यदि प्रवेश मार्ग से न निकल सके तो हानिकर न होने की अवस्था में उसे और आगे को धकेल देना ही उपयुक्त है जैसाकि गले में पैसे आदि के फंस जाने पर किया जाता है (अशक्यं मुखनासाभ्यामाहर्तुं परतोनुदेत्— वा. सू. २८)

सुश्रुत ने उसी को राजशल्यक (Royal surgeon.) होने का अधिकार दिया है जो शल्यों के विविध आकार, उनकी गतियां और त्वगादि अधिष्ठानों में स्थित होने पर उनके लक्षणों को भली-भान्ति जानता है (स राज्ञः कर्तुमर्हति— सु. सू. २६)

इस प्रकार षष्ठि उपक्रमों के आवश्यकतानुसार उपयोग द्वारा ठीक होने वाला व्रण "रूढ़ व्रण" कहलाता है और निम्नलिखित लक्षणों से युक्त व्रण को "सम्यक्रूढ़ व्रण" कहा गया है :—
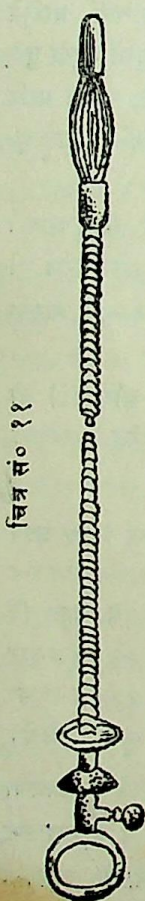
चित्र सं० ११

केशोण्डुक
(Probang)

सम्यग्रूढ व्रण का लक्षण—

रूढवर्त्मानमग्रन्थिमशूनमरुजं व्रणम् ।
त्वक्सवर्णं समतलं सम्यग्रूढं विनिर्दिशेत् ।। सु. सू. २३ ।।

अर्थात्— सम्यक् रूढ व्रण वह कहलाता है जिसका क्षतिग्रस्त भाग रोहणांकुरों द्वारा भर गया हो (रूढवर्त्मा = मांसांकुरप्रपूरितावकाशः— हाराणचन्द्रः) जिसमें उठा हुआ कठोर मांस न हो (अग्रन्थि, अनुच्छूनदृढ मांसः), जो शोथ और वेदना रहित हो, जिसके क्षतांक (Scar) का रंग समीपस्थ त्वचा के रंग सदृश हो और जो निम्नता–उन्नतता आदि विकारों से रहित हो (समतल, निम्नोन्नतता विरहित)

व्रण के रूढ होने पर भी व्यक्ति को अजीर्ण, व्यायाम, व्यवाय, हर्ष–क्रोध, भय आदि व्रणवस्तु में स्थिरता आने तक सेवन नहीं करना चाहिये अन्यथा रूढ़ व्रण के भी विदीर्ण होने की सम्भावना हो सकती है (व्रणो-रूढोऽपि दीर्यते— सु. सू. २३) वाग्भट ने इन नियमों का आवश्यकतानुसार छः सात मास तक आदरपूर्वक पालन करने का निर्देश किया है (आदरेणानु-वर्त्योऽयं मासान्षट् सप्त वा विधिः— वा. सू. २९) उदर गुहा जैसे स्थानों के गम्भीर व्रणों में इस प्रकार के कठोर नियमों का पालन विशेषरूप से आवश्यक होता है ।

पञ्चनद राज्यान्तर्गत 'काङ्गड़ा' (हमीरपुर–बिजड़ी–बुढाण)
मण्डल निवासिनां विदुषां श्री चन्दुलाल शर्मणां सूनुना
श्री अनन्तराम शर्मणा विरचितस्य शल्यसमन्वयस्य
व्रण वर्णन विमर्शो नाम 'प्रथमो भागः'
समाप्तः ।

~~~ शुभं भूयादिति ~~~

~~~